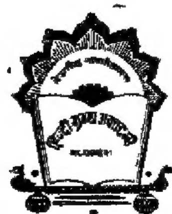


भारतेन्दु-युगीन नाटक



डॉ० सुशीला धीर



मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
भोपाल

भारतेन्दुयुगीन नाटक

प्रकाशक :

मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल.

प्रथम संस्करण :

१९७१

मूल्य :

साधारण संस्करण : दस रुपये

पुस्तकालय संस्करण : ग्यारह रुपये

मुद्रक :

लोकचेतना प्रेस, जबलपुर

प्राक्कथन

इस बात पर सभी शिक्षा-शास्त्री एकमत हैं कि मातृभाषा के माध्यम से दी गयी शिक्षा छात्रों के सर्वाङ्गीण विकास एवं मौलिक चिन्तन की अभिवृद्धि मे अधिक सहायक होती है। इसी कारण स्वातन्त्र्य-आन्दोलन के समय एव उसके पूर्व से ही स्वामी श्रद्धानन्द, रवीन्द्रनाथ टैगोर एवं महात्मा गाधी जैसे देशमान्य नेताओ ने मातृभाषा के माध्यम मे शिक्षा देने की दृष्टि से आदर्श शिक्षा-संस्थाएँ स्थापित की। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भी देश मे शिक्षा सम्बन्धी जो कमीशन या समितियाँ नियुक्त की गयी, उन्होने एकमत से इस सिद्धान्त का अनुमोदन किया।

इस दिशा मे सबसे बडी बाधा थी – श्रेष्ठ पाठ्य-ग्रन्थो का अभाव। हम सब जानते हैं कि न केवल विज्ञान और तकनीक, अपितु मानविकी के क्षेत्र मे भी विश्व मे इतनी तीव्रता से नये अनुसंधानो और चिन्तनो का आगमन हो रहा है कि यदि उसे ठीक ढग से गृहीत न किया गया तो मातृभाषा से शिक्षा पाने वाले अचलो के पिछड जाने की आशका है। भारत सरकार के शिक्षा-मन्त्रालय ने इस बात का अनुभव किया और भारत की क्षेत्रीय भाषाओ में विश्वविद्यालयीन स्तर पर उत्कृष्ट पाठ्य-ग्रन्थ तैयार करने के लिए समुचित आर्थिक दायित्व स्वीकार किया। केन्द्रीय शिक्षा-मंत्रालय की यह योजना उसके शत्-प्रतिशत् अनुदान से राज्य-अकादमियो द्वारा कार्यान्वित की जा रही है। मध्यप्रदेश मे 'हिन्दी ग्रन्थ-अकादमी' की स्थापना इसी उद्देश्य मे की गयी है।

अकादमी विश्वविद्यालयीन स्तर की मौलिक पुस्तको के निर्माण के साथ, विश्व की विभिन्न भाषाओ मे बिखरे हुए ज्ञान को हिन्दी के माध्यम से प्राध्यापको एवं विद्यार्थियो को उपलब्ध करेगी। इस योजना के साथ राज्य के सभी महाविद्यालय तथा विश्वविद्यालय सम्बद्ध हैं। मेरा विश्वास है कि सभी शिक्षा-शास्त्री एव शिक्षा-प्रेमी इस योजना को प्रोत्साहित करेंगे। प्राध्यापको से मेरा अनुरोध है कि वे अकादमी के ग्रन्थो को छात्रो तक पहुँचाने में हमें सहयोग प्रदान करे, जिससे बिना और विलम्ब के विश्वविद्यालयो में सभी विषयो के शिक्षण का माध्यम हिन्दी बन सके।

जगदीश नारायण अवस्थी

शिक्षा-मंत्री,

अध्यक्ष : मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ-अकादमी

प्रस्तावना

आधुनिक साहित्य के इतिहास मे भारतेन्दु-युग सर्वाधिक उर्वर माना जाता है। जिस तरह बाढ की मिट्टी से पटे हुए तराई के खेतो मे बीज के यो ही छिटक देने पर जौ, मटर और चने के खेत लहलहा उठते हैं, वैसे ही संस्कृत, बँगला और अंग्रेजी का सम्पर्क पाकर हिन्दी की मौलिक प्रतिभा इस युग में चौमुखी विकसित हो उठी। नाटक न केवल अनूदित किये गये, लिखे गये एव अभिनीत हुए, अपितु जन-मानस पर कुछ इस तरह छा गये कि उनके कारण लेखक और पाठक का निजी जीवन भी उनकी कलात्मकता से रमणीय हो उठा। यौवन की उद्दामता कुछ कर जाने की छटपटाहट, लावण्यभरी चंचलता एव मानस की विशद् गम्भीरता न केवल इस युग की कृतियो अपितु कृतिकारो में भी परिलक्षित होती है। आनन्द और मस्ती से भरा वह वातावरण हिन्दी मे फिर लौटकर नही आया।

युग-निर्माता का अध्यवसाय केवल स्वय तक सीमित नहीं होता। वह अपने चारो ओर समानधर्मी लोगो को बटोरता है, उन्हे अँगुली पकड कर बडा करता है, चलना सिखाता है और अपनी ऊँचाई तक ले आता है। स्वातन्त्र्य-आन्दोलन के दिनो मे गाधीजी ने ऐसा ही किया। उनके प्रभाव से न जाने कितने मृत-पिण्डो को जीवन मिला। इसमे से कई तो देवकोटि तक पहुँच गये और पूजे जाने लगे। साहित्य के क्षेत्र मे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की स्थिति भी ऐसी ही थी। उनके सौजन्य एवं औदार्य की सुरभि से हिन्दी की वाटिका महमहा उठी। काव्य और नाटक के लिए यह काल वरद सिद्ध हुआ। अनेक महत्त्वपूर्ण मौलिक कृतियाँ इस युग मे प्रकाशित हुई। अनुवादो की तो जैसे बाढ़ आ गयी। फारसी और उर्दू की आशिकाना शायरी के स्थान पर ब्रजभाषा की सरल, रसभरी कविताएँ गुनगुनायी जाने लगी। अच्छे से अच्छे लोग सामाजिक वर्गीयता को भूलकर रंगमच पर उतरने लगें। भाषा में नये जीवन का सचार हुआ। साहित्य और समाज के बीच ऐसा

अनेकों मनीषियों ने इस युग का मूल्यांकन करते हुए हिन्दी में गम्भीर समीक्षा-कृतियाँ प्रस्तुत की हैं। इनमें न पाण्डित्य की कमी है; न गाम्भीर्य की। किन्तु इनमें से प्राय: अधिकांश निजी मान्यताओं से बोझिल हैं। विशिष्ट विचार-धाराओं के समीक्षकों ने प्रत्येक आन्दोलन को अपने ढंग से देखा और फिर अपने ढंग से उसकी व्याख्या की। विश्वविद्यालयीन अध्ययन में ऐसी कृतियाँ एक सीमा से अधिक सहायक नहीं होतीं। इसलिए अकादमी ने हिन्दी परामर्श-समिति की अनुशंसा पर एक समीक्षात्मक ग्रन्थमाला प्रारम्भ की है, जिसके अन्तर्गत भारतेन्दु-युग से लेकर अद्यावधि प्रत्येक आन्दोलन पर एक ग्रन्थ प्रकाशित करने की योजना है। डा० सुशीला धीर की यह कृति इसी माला की एक मणि है। इस कृति में डा० धीर ने सृजनात्मक तटस्थता से भारतेन्दुयुग के नाटककारों एवं उनकी कृतियों पर व्यापक परिवेश में विचार किया है। लेखिका के सत्-प्रयत्न के साथ डा० प्रभाकर माचवे का महत्त्वपूर्ण परामर्श एवं मार्गदर्शन भी जुड़ा हुआ है, जिसके कारण यह ग्रन्थ अधिक पुष्ट एवं प्रामाणिक बन गया होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

आशा है, डा० धीर की इस कृति को विश्वविद्यालयों और उनसे बाहर के प्रबुद्ध-वर्ग का स्नेह प्राप्त होगा।

प्रभु दयालु अग्निहोत्री

संचालक,
मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ-अकादमी

भोपाल
१, जुलाई १९७१

विषय-सूची

अध्याय : एक

भारतेन्दु-युग

हिन्दी साहित्य के इतिहास मे आधुनिक काल भारतेन्दु और उनके सम-कालीन लेखको की रचनाओ के साथ प्रारम्भ होता है। यद्यपि आधुनिकता और सम-सामयिक लेखन को लेकर अनेक विद्वान भारतेन्दु-युग के सदर्भ मे 'आधुनिक युग' के नाम सम्बोधन के प्रति पूर्णतया आश्वस्त नही हैं, फिर भी यह तो निश्चित ही है कि हिन्दी के उत्तर-मध्यकाल की प्रवृत्तियो से आधुनिक काल की प्रवृत्तियाँ भिन्न है और इन प्रवृत्तियो को प्रेषित करने वाले साहित्य की अभिव्यक्ति भी अपने नये रूप मे हमारे सामने आती है। इसके अतिरिक्त आधुनिक युग मे हिन्दी गद्य के जन्म और विकास की संभावनाएँ भी हमे प्राप्त है जो भारतेन्दु-पूर्व साहित्य मे प्राय: नही के बराबर है। कुछ समीक्षकों ने आधुनिक युग को गद्ययुग[1] ही कहना श्रेयस्कर समझा है, यद्यपि साहित्य का काव्यरूपो के आधार पर कोई वर्गीकरण इस दृष्टि से सभव नही है। भारतेन्दु-युग मे गद्य का विकास अप्रत्याशित रूप से प्राप्त होता है, यह तथ्य सर्वसम्मत है।

डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने अपने ग्रथ 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' (सन् १८६० ई०-१९०० ई०) में आधुनिक युग की व्याख्या करते हुए लिखा है कि, 'भारतवर्ष में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना, और विशेष रूप से लगभग १८५७ ई० के बाद के हिन्दी साहित्य का इतिहास अनेक अशों मे अपने प्राचीन इतिहास से भिन्न है। हिन्दी मे आधुनिकता का सूत्रपात लगभग इसी समय से होता है। उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भ से ही देश की तत्कालीन परिवर्तित परिस्थितियो के प्रभावान्तर्गत गद्य का प्रचार बडी तेजी से होने लगा था'।[2]

---

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य (विषय प्रवेश) : डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
२. वही—पृ० सं० १

प्रकट है कि जिस समय भारतवर्ष मे अंग्रेजी राज्य अपनी जडे जमा रहा था, उस समय परम्परागत भाषा—ब्रज भाषा—साहित्यिक सम्पत्ति के रूप मे रीति और शृ गारी काव्यो के माध्यम मे अपने युग का प्रतिनिधित्व करती थी। साहित्य-सृष्टा रूढि परम्पराओ मे डूबे हुए राधा-कृष्ण की लीलाओ और नायक-नायिकाओ के विलास प्रसगो मे लीन अपने आदर्शों के अनुसार काव्य-सृजन मे तत्पर दिखाई देते हैं। इसी समय यूरोपीय देशो से आगन्तुको के आने के साथ ज्ञान, विज्ञान और नवीन शासन-पद्धति का प्रादुर्भाव हुआ। निश्चित ही उसके लिए कविता उपयुक्त माध्यम नही हो सकती थी। अत आधुनिक काल मे, प्राचीन ब्रजभाषा कविता के प्रचार-प्रसार के साथ, जीवन की नवीन दृष्टि के फलस्वरूप, अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप मे, कविता से अलग हटकर, गद्य की भी आवश्यकता अनुभव हुई। यह बात यहाँ स्मरण रखना आवश्यक है कि यद्यपि आधुनिक युग मे गद्य का विकास हुआ, तथापि खडी बोली गद्य की अस्फुट और क्षीण धारा पहले से ही अवश्य प्रचलित रही होगी।

भारतेन्दु-पूर्व खडी बोली गद्य मे जो सामग्री प्राप्त है वह है—गोरखनाथ, गोकुलनाथ, गगभट्ट, नाभादास, जटमल, अमरसिंह कायस्थ आदि लेखको का स्फुट गद्य तथा रामप्रसाद निरजनी कृत 'भाषा योग वाशिष्ठ' (१७४१ ई०), दौलतराम जैन (मध्यप्रान्त) कृत 'जैन पदमपुराण (१७६१ ई०)' मथुरानाथ शुक्ल कृत 'पचागदर्शन (१८०० ई०)।' हिन्दी गद्य के उन्नायको मे सदासुखलाल एव इशाअल्लाखा और लल्लूलाल तथा सदलमिश्र का नाम भी विशेष उल्लेखनीय है। [illegible] सतारे हिन्द और [illegible] वीकार किया जा [illegible] सम्पूर्ण विखराव [illegible] प्रदान किया है तो [illegible] मकालीन लेखको [illegible]

[illegible] आता [illegible] रीतिकाल मे [illegible] आश्रित कवियो [illegible] को लगा दिया। [illegible], जन साधारण [illegible] पाश्चात्य विचार-

अवास्तववादी और मध्ययुगीन परिस्थितियों की उपज थी, और अपने ही मोह से आच्छन्न थी। नवीन परिवेश मे उसके मोहभंग और यथार्थ जीवन-दृष्टि के लिए, ऐसी परिस्थितियां जन्म ले चुकी थी, जिनसे साहित्य-सृजन के आधुनिक सन्दर्भ भिन्न-भिन्न रूपो मे मुखरित हो सके। प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या पश्चिम से आने वाली नवीन जीवन-दृष्टि और वास्तविक भौतिक उपादान ही हमारे आधुनिक परिवेश के जनक है ? अथवा अन्य वे स्थितियाँ भी है जिनसे बाद का सम्पूर्ण साहित्य किसी न किसी अंश में प्रभावित रहा है। डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय का इसी संदर्भ मे यह कथन है कि "भारतवर्ष के इतिहास मे ही नही वरन् समस्त एशिया के इतिहास मे उन्नीसवी शताब्दी एक युगान्तरकारी शताब्दी रही है। इस शताब्दी मे एशिया के प्राय. सभी देशों मे राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक और साहित्यिक परिवर्तन हुए।"[१] एशिया के इन देशो मे परिवर्तन ऐंग्लो-सेक्सन सभ्यता की संदेश-वाहक ब्रिटिश जाति के सम्पर्क के फलस्वरूप हुए, ऐसा विद्वानो का मत है। यद्यपि परिवर्तन बाह्य संस्पर्शो की अपेक्षा किसी जाति अथवा देश की आतरिक प्रक्रिया ही होता है। आलोच्य काल में परिवर्तन के व्यक्त रूप भाषा और साहित्य मे प्रकृतिगत और प्रवृत्तिगत रूपो का नवोन्मेष हुआ. यद्यपि उस उन्मेष मे अनेक पुरानी विधाएँ नया रूप लेकर या कुछ बिलकुल नयी विधाएँ पारम्परिक स्पर्श से जुडकर जन्म ले सकी और इस सम्पूर्ण नवीनता का भाषात्मक स्वरूप हिन्दी खडी बोली गद्य के माध्यम से हमारे सामने प्रकट हुआ।

भारतेन्दु युग मे जिस खडी बोली गद्य का व्यवस्थित रूप देखने को मिलता है उसके इतिहास पर गार्सा तासी, ग्रियर्सन, फ्रेजर, की, ग्रीव्ज, आदि विदेशी लेखको ने जब भी विचार किया है, तब उसका जन्म फोर्ट विलियम कॉलेज (१८०० ई०) में गिलक्राईस्ट महोदय की अध्यक्षता में माना है। इसका आधार प० सदल मिश्र व लल्लूलाल के ग्रथ माने जाते है, किन्तु वस्तुस्थिति इससे भिन्न है। आधुनिक खडी बोली गद्य का आविष्कार अंग्रेजो ने सन् १८०० ई० मे फोर्ट विलियम कालेज मे किया, इस सम्बन्ध मे आधुनिक खडी बोली गद्य के पूर्व प्रचलित ब्रजभाषा गद्य, राजस्थानी गद्य और स्वय खडी बोली गद्य के उपलब्ध साहित्य के अध्ययन से[२] यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्नीसवी शताब्दी से पूर्व हिन्दी साहित्य में

१ आधुनिक हिन्दी साहित्य—पृष्ठ १

२ कृष्णस्य आधुनिक हिन्दी साहित्य पृष्ठ २३ ५

खडी बोली का बराबर प्रयोग होता था। यह निर्विवाद है कि आधुनिक खडी बोली-गद्य का निर्माण कॉलिज के जन्म के पूर्व और उससे बाहर हुआ था, और जैसा ऊपर उल्लेख किया गया है उसके निर्माण मे तत्कालीन कुछ ग्रथकारो का विशिष्ट महत्व है। वास्तव मे फोर्ट विलियम कॉलेज के गद्य मे और खडी बोली के सामान्य गद्य मे कोई मेल नही था। गिलक्राईस्ट के शिष्य श्री बेली का निम्नलिखित गद्याश इसका उदाहरण है —

"हिन्दुस्तानी जबान कि जिसका जिक्र मेरे दावे मे है उसको हिन्दी उरदू और रेख्त भी कहते है और यिह मुरक्कब अरबी और फारसी औ सस्कृत या भाषा से है और यिह पिछली अगले जमाने मे तमाम हिन्द मे राऐज थी।[१]"

अग्रेजो ने जिस गद्य को अपने प्रारम्भिक काल मे विस्तृत रूप मे प्रचारित किया उसका सम्बन्ध प्रशासन और न्याय से था, जिसमे प्रचलित फारसी, अरबी के शब्दो की बहुलता थी, यद्यपि देवनागरी लिपि का ही उपयोग प्राय मिलता है। निष्कर्षत हम कह सकते है कि यह भाषा खडी बोली हिन्दी गद्य की प्रतिनिधि भाषा नही थी, इसे हिन्दवी, हिन्दुस्तानी या उर्दू कहना अधिक समीचीन है। यद्यपि कॉलेज के 'भाखा पडित या 'भाखा मुशी' या 'हिन्दी मुशी या 'हिन्दी पडित' या 'सरिश्तेदार' के प्रयत्नो से ऐसी कुछ कृतियाँ प्रकाश मे आई है, जिनमे हिन्दी खडी बोली गद्य को आशिक स्वरूप प्राप्त हुआ है।

फोर्ट विलियम कॉलिज के 'प्रोसिडिंग्स' मे निम्नलिखित भाषा पडितो का उल्लेख हुआ है लल्लूलाल (१८०२ ई०), सदल मिश्र (१८०४ ई०), इन्द्रेश्वर (१८१५-१८१६ ई०), नरसिंह (१८१८-१८२१ ई०), गगाप्रसाद शुक्ल (१८२३-१८२७ ई०), ल्यालीराम (१८२७-१८२६ ई०), ब्रह्मसच्चिदानन्द (१८३२-१८३८ ई०), मधुसूदन तर्कालकार (१८३८-१८४१), ईश्वरचन्द विद्यासागर (१८४१ ई०), दीनबन्धु (१८४० ई०), और शेष शास्त्री (१८५२ ई०)।

बगला सरिश्तेदारो और पडितो की इस लम्बी सूची मे हिन्दी गद्य के जन्म के सम्बन्ध में केवल लल्लूलाल और सदल मिश्र का ही नाम उल्लेख्य है। लल्लूलाल ने 'सिंहासन बत्तीसी (१८०१ ई०) 'बैताल पच्चीसी' (१८०२ ई०), 'शकुतला नाटक १८०१ ई०, 'माधोनल' (१८०१ ई०) 'राजनीति' (१८०२ ई०)

---

१ Essays and Thesis Composed 1904. (Fort William College)

'प्रेमसागर' (१८०३-१८०६ ई०), नकीलयान या लतायफ इ-हिन्दी-(१८१० ई०), 'व्रजभाषा व्याकरण' (१८११ ई०), 'सभाविलास' (१८१५ ई०) और 'लाल चन्द्रिका' (१८१८ ई०) तथा अन्य कुछ साधारण ग्रथो की रचना की थी। लल्लूलाल के गद्य का आधार पद्यात्मक व्रजभाषा की रचनाओ मे खोजा जा सकता है। मौलिकता की दृष्टि से भी लल्लूलाल की रचनाओ को इस कसौटी पर खरा उतर पाना कठिन है। विद्वानो मे इस सम्बन्ध मे मतभेद है, किन्तु दोनो ही न्यूनताओ के बाद खडी बोली या व्रजभाषा-गद्य की दृष्टि मे उनका महत्व है। प्रेम-सागर की रचना के सम्बन्ध मे लल्लूलाल ने लिखा है—'यामिनी भाषा छोड दिल्ली, आगरे की खडी बोली मे कह।' यद्यपि 'प्रेम सागर' मे भी हिन्दी गद्य का वह स्वरूप नही मिलता, जिस पर आगे चलकर भारतेन्दु या उनके परवर्ती गद्यकारो की रचनाओ का विकास हुआ, तथापि कॉलिज मे पढाई जाने वाली हिन्दुस्तानी के निर्माण मे ही ऐसे गद्य का अधिक योग है। वस्तुत खडी बोली के हिन्दी गद्य के विकास मे 'प्रेम सागर का भाषा और विषय की दृष्टि से केवल ऐतिहासिक महत्व ही है।

सदल मिश्र की प्रधान रचना 'चन्द्रावती' या 'नासिकेतोपाख्यान' (१८०३ ई०) है। यद्यपि इस रचना का उल्लेख कॉलिज के पाठ्यक्रम या विवरण मे नही है, तथापि 'प्रेम सागर' और 'चन्द्रावती' की तुलना करने पर 'चन्द्रावती' का गद्य अधिक प्रौढ, स्पष्ट और प्रवाहयुक्त है। शैली मे कुछ पुरानापन होते हुए भी वह हिन्दी खडी बोली के अधिक निकट है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि कम्पनी की भाषा-नीति और फोर्ट विलियम कॉलिज के माध्यम द्वारा न[illegible] ोग[illegible] न को विशेष प्रोत्साहन नही मिला, यद्यपि शब्द-समूह, विराम चिह्न आदि [illegible] दृष्टि से उनका अपना महत्व है। वास्तव मे अग्रेजो का सम्पर्क या [illegible] खडी बोली गद्य [illegible] नही, वरन् उसके विकास और नवीन परिस्थितियो के प्रवेश का काल कहा जा सकता है। दूसरे शब्दो मे कहा जावे तो अत्युक्ति नही होगी कि अग्रेजी राज्य का आरभिक युग हिन्दी प्रदेश मे यूरोपीय सस्कृति के प्रवेश का युग है। किन्ही अर्थों मे उसका महत्व भी है। यूरोपीय सस्कृति के सम्पर्क के साथ नवयुग की अवतारणा हुई, फलत खडी बोली गद्य का सम्वर्द्धन हुआ। सच तो यह है कि उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे एक नवीन भावना और चेतना का श्रीगणेश हुआ, जिसका स्पष्ट प्रत्यक्षीकरण आगे चलकर भारतेन्दु और उनके सहयोगियो की रचनाओ में प्राप्त होता है। दार्शनिक और आध्यात्मिक क्षेत्र मे पूर्व पश्चिम की अपेक्षा अग्रणी

था; किन्तु ज्ञान-विज्ञान के व्यावहारिक क्षेत्र में पश्चिम उससे आगे । अंग्रेजों के आगमन से व्यावहारिक भौतिक दृष्टि का प्रारम्भ हुआ और इस व्यावहारिकता के जन्म के साथ-साथ गद्य भी अपनी प्राथमिक अवस्था से निकल कर, विकास-नियम के अनुसार, नये-नये मार्ग खोजने लगा । अंग्रेजी राज्य की स्थापना के साथ अंग्रेजी भाषा और साहित्य का अध्ययन प्रारम्भ हो गया, फलतः हिन्दी प्रदेश की ज्ञानवृत्ति के साथ तार्किक और बौद्धिक सामंजस्य-क्रम उपस्थित हुआ । खड़ी बोली के माध्यम के रूप में आलोच्य युग की चेतना ऐसे उठ खड़ी हुई, जैसे देश शताब्दियों के अलसाय बदन को झाड़-पोंछकर खड़ा हो गया हो । खड़ी बोली के गद्य ने नवीन दृष्टि को अपनाया और इस प्रकार यह समूचा गद्य साहित्य उसकी चेतना एवं आकाङ्क्षाओं का प्रतीक बन गया ।

खड़ी बोली गद्य के प्रेरणा-सूत्रों में पारम्परिक रीतिकालीन ब्रजभाषा पद्य से मुक्ति की भावना तो है ही, किन्तु नवीन परिवेश में यथार्थ दृष्टि और राजनैतिक, आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियाँ भी हैं, जिनके कारण अभिव्यक्ति के सशक्त माध्यम के रूप में खड़ी बोली गद्य को स्वीकार कर लिया गया । पत्रकारिता और नाट्य-प्रयोग दोनों ही जन-जागरण के प्रतीक कहे जा सकते हैं और दोनों की ही अभिव्यक्ति गद्य में अधिक प्रवाहशील और ग्राह्य हुई । फलतः कविता के क्षेत्र में भी प्रचलित विभाषाओं के बाद भी आगे चलकर खड़ी बोली ने अपना स्थान बनाया । संक्षेप में यदि यह कहा जावे तो समीचीन होगा कि यथार्थ दृष्टि और वास्तविक जीवन-बोध के फलस्वरूप, अतीत और वर्तमान में वर्तमान की सत्यात्मकता, गद्य-साहित्य की उद्भावना के लिए कारणभूत स्थिति है । गद्य-साहित्य के माध्यम से ही सामाजिक सुधार और धार्मिक नवोन्मेष का आन्दोलन छेड़ा गया । भारतेन्दु युग भारतीय जीवन में नयी चेतना का युग था, अतः गद्य को भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ ।

हिन्दी [illegible] काल भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र और उनके सहयोगियों के दिशा-निर्देश का काल है । [illegible] ने आधुनिक युग के सूत्रपात में भारतेन्दु को हिन्दी की [illegible] कहा जावे तो अत्युक्ति न होगी । हिन्दी साहित्य की सभी विधाओं—यथा कविता, निबन्ध, नाटक, उपन्यास, आलोचना, पत्रकारिता—में भारतेन्दु का [illegible] रहा है, फलतः भारतेन्दु के [illegible] १८५०–१९०० ई० तक के काल को 'भारतेन्दु युग' या 'भारतेन्दु काल'

की संज्ञा प्रदान की गई। डा० जगन्नाथ शर्मा के मतानुसार 'सन् १८६३ से १८९३ ई० के परिमित काल में ही जितना प्रचुर साहित्य हिन्दी मे निर्मित हुआ, स्यात् ही किसी साहित्य के इतिहास मे केवल तीस वर्षों के भीतर इतना हुआ हो यह हिन्दी गद्य-साहित्य का उदयकाल था और इन तीस वर्षों के सूत्रधार थे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र।'[१]

भारतेन्दु के जन्म के समय साहित्य की परिनिष्ठित भाषा और सृजन की दिशाएँ निर्धारित नही थी, साथ ही मे बदलती हुई परिस्थति के साथ उसका स्पष्ट सम्बन्ध भी नही दिखाई देता था, किन्तु स्वय भारतेन्दु ने रीति-परम्परा से हटकर अपने समय की सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक स्थितियो से साहित्य-विधाओ को सम्बद्ध किया और साथ ही रचनाकारो का एक मण्डल निर्मित किया, जिससे साहित्य लिखने की प्रेरणा लोगो को प्राप्त हुई। साहित्य की उन्नति और साहित्य के उद्देश्य की पूर्ति की लालसा से अनेक महाकिमयो ने लेखन कार्य आरम्भ किया। **सन् १८५० से १९०० ई० के काल मे भारतेन्दु के व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप दिखाई पड़ती है।** अपनी चौतीस वर्ष की अल्प आयु मे ही, उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे उन्होने जो प्रभाव छोड़ा वह साहित्य के इतिहास में अविस्मरणीय है। इस कारण ही सन् १८५०-१९०० ई० का समय भारतेन्दु के नाम से अभिहित किया जाता है। प्रभावशाली व्यक्तित्व होने के कारण और साहित्य-क्षेत्र मे नेतृत्व प्रदान करने के कारण इस काल का नामकरण युगपुरुष भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाम के आधार पर किया जाता है। 'प्राचीन से नवीन के सक्रमण काल मे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भारतवासियों की नवोदित आकाङ्क्षाओ और राष्ट्रीयता के प्रतीक थे; वे भारतीय नवोत्थान के एक अग्रदूत थे। मध्ययुगीन पौराणिक वातावरण से जीवन और साहित्य को बाहर निकाल कर उन्हें आधुनिक रूप प्रदान करने की उन्होने सतत् चेष्टा की। भाषा, भाव साहित्यिक रूप आदि की दृष्टि से उन्होने गद्य और काव्य दोनों ही क्षेत्रो में हिन्दीभाषियों का नेतृत्व किया। उनके व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब अन्य कवियों और लेखको की रचनाओ मे बराबर मिलता है, अत. इस काल का नाम भारतेन्दु का काल उपयुक्त ही है।'[२]

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के सम्बन्ध मे श्री माखनलाल चतुर्वेदी का यह कथन है—'कलाकार अपनी कृतियो अथवा आकृतियो द्वारा आत्मदान करता है। कलम

---

१ हिन्दी गद्य-युग के निर्माता पृ० २४

२ पृ० ५४४

अथवा कूची की नोक से निखरा हुआ निर्माण-सौष्ठव, कलाकार के आन्तरिक सौन्दर्य की प्रतिच्छवि हुआ करता है। कलाकार निर्माता है; वस्तु, व्यक्ति अथवा स्थान मात्र का निर्माता नही, वह काल का निर्माण करता है। वह सृष्टा है युग का।...भारतेन्दु हरिश्चन्द्र लोकवाणी के एक ऐसे ही निर्माता एवं गायक थे।[1]

डा० भानुदेव शुक्ल के मतानुसार 'भारतेन्दु-काल' और 'भारतेन्दु-युग' समानार्थी नही हैं। भारतेन्दु-काल का अर्थ है भारतेन्दु के जीवन-काल से सम्बन्धित, जब कि भारतेन्दु-युग से भारतेन्दु के वैशिष्ट्य के साथ युगविशेष का बोध। यद्यपि काल और युग समानार्थी न होते हुए भी एक ही अर्थ की व्याप्ति के परिचायक हैं, इसलिये इस सम्बन्ध मे किसी विवाद मे न पड़ते हुए भारतेन्दु के व्यक्तित्व से प्रभावित हिन्दी के नाटकों का अध्ययन ही इस रचना का उद्देश्य है। भारतेन्दु-युग की सीमा-रेखा निर्धारित की जावे तो इस प्रकार होगी — उसके पूर्व का काल ब्रजभाषा-रीतिकाव्य और उसके उत्तराधिकारी के रूप में द्विवेदी युग। भारतेन्दु-युग मे समाज एवं धर्म के सुधार की भावना साहित्य का आधार थी। स्पष्ट है कि अपने पूर्ववर्ती और परवर्ती युगों के मध्य भारतेन्दु-युग हिन्दी-साहित्य का महत्वपूर्ण युग है जिसके साथ हिन्दी खड़ी बोली का गद्य और उसकी एक विशिष्ट विधा हिन्दी नाटक अपनी मौलिकता प्राप्त कर सका।

भारतेन्दु के प्रभाव का मूल्यांकन और भारतेन्दु युगीन हिन्दी नाटक के अध्ययन के पूर्व उस युग की परिस्थितियों की संक्षिप्त रूपरेखा नाट्य विधा का ज्ञान लेना आवश्यक है, जिसने भारतेन्दु और उनके समकालीन लेखकों की प्रतिभा को सृजनात्मक मूल्यों के साथ जोड़कर ऐसे संयोग की सृष्टि की जिससे आधुनिक साहित्य अपने नाम के अनुरूप सार्थकता प्राप्त कर सका।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के जन्म, सन् १८५० ई०, के लगभग हिन्दी प्रदेश के संपर्क एवं आवागमन के माध्यम रेल, डाक, तार, प्रेस आदि नवीन साधनो का प्रचार और प्रसार हो चुका था। वास्तव मे ये आधुनिक वैज्ञानिक साधन अंग्रेजों ने अपनी सत्ता को कायम रखने के लिये आरम्भ किये थे। इसके पूर्व सन् १८४९ ई० मे 'द्वितीय सिक्ख युद्ध' हुआ, जिसके फलस्वरूप सम्पूर्ण भारतवर्ष मे अंग्रेजो का आधिपत्य स्थापित हो चुका था। भारतवर्ष का शासन-प्रबन्ध ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बोर्ड आफ डायरेक्टर्स और 'क्राउन' के मध्य 'बोर्ड आफ कन्ट्रोल' के आधीन

था। यह दुहरा राज्य-प्रबन्ध कुछ व्यक्तियो के मत मे एक नियन्त्रित व्यवस्था थी। किन्तु भारतवासियों की दृष्टि से उनके आर्थिक शोषण और दासता के बन्धनों का वह जटिलतम रूप था। भारतेन्दु जब सात वर्ष के थे तब सन् १८५७ ई० का सिपाही-विद्रोह हुआ। उसकी असफलता के कारण उसके परिणामो को भी भारत-वासियों ने भोगा।

इस काल के गवर्नर जनरल लार्ड डलहौजी (सन् १८४८-१८५६ ई०) के शासन में अंग्रेजी राज्य की सीमा का विस्तार हुआ,[1] शिक्षा-योजना तैयार हुई, रेल, डाक, तार का प्रचार हुआ। रूडकी के इन्जीनियरिंग कालेज की स्थापना हुई। आर्थिक शोषण का चरम, राजनैतिक विस्तार और धार्मिक तिरस्कार के फलस्वरूप देश में विद्रोह हुआ, जिसे सन् १८५७ ई० का सैनिक विद्रोह कहा गया। वास्तव मे यह एक क्षणिक आक्रोश या तत्कालीन असन्तोष नही था। राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक परिस्थितियो के सम्मिलित प्रयत्न के कारण और लॉर्ड डलहौजी द्वारा नयी नीति और नवीन वैज्ञानिक साधनों के प्रचार के फलस्वरूप राज्य-क्रांति का पहला चरण सैनिक विद्रोह के रूप मे हुआ। यह सैनिक विद्रोह असफल हुआ और तीव्रतम दमन नीति का चक्र आरम्भ हुआ। देश भर मे आतंक का साम्राज्य फैल गया। सन् १८५८ ई० मे ब्रिटिश संसद ने 'एक्ट फॉर दि बेटर गवर्नमेन्ट ऑफ इण्डिया' स्वीकार किया और भारतवर्ष का शासन-प्रबन्ध इग्लैण्ड के मन्त्रिमण्डल के माध्यम से इग्लैण्ड के बादशाह के आधीन हो गया। लार्ड कैनिंग की १ नवम्बर १८५८ ई० को प्रथम वाइसराय और गवर्नर जनरल के रूप मे नियुक्ति हुई। उसी दिन महारानी विक्टोरिया का घोषणापत्र पढ़ा गया। महारानी ने शासन की ओर से उदारता, दया और धार्मिक सहिष्णुता की घोषणा की। भारतीय जनता पर उस घोषणा का प्रभाव हुआ, यद्यपि इग्लैण्ड की शासन-व्यवस्था और नीति वहाँ के मन्त्रिमण्डल के हाथ में थी, जो व्यापारिक दृष्टि से भारतीय व्यवस्था का उपयोग करती थी। लॉर्ड कैनिंग (१८५६-१८६१), और उनके उत्तराधिकारी लार्ड ऐल्गिन (१८६२-६३), लॉर्ड लारेन्स (१८६४-६६), लॉर्ड मेयो (१८६९-७२), और लॉर्ड नार्थब्रुक (१८७२-७६) के शासन काल में शान्ति बनी रही और शासन में

1. लार्ड डलहौजी ने सातारा (१८४९ ई०) जैतपुर और सम्भलपुर (सन् १८४९ ई०) बघाट (सन् १८५० ई०) उदयपुर-करौली (सन् १८५२ ई०) झाँसी (सन् १८५३ ई०) नागपुर (सन् १८५४ ई०) रियासतें अंग्रेजी राज्य में मिला लीं।

अनेक सुधार हुए। बम्बई, मद्रास और कलकत्ता विश्वविद्यालयो की स्थापना सन् १८५८ ई० मे हुई जिसके द्वारा अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति का प्रचार हुआ, किन्तु आर्थिक दृष्टि से ब्रिटिश सरकार की शोषण-नीति के फलस्वरूप, भारतीय जनता आर्थिक बोझ से दबने लगी और उसकी स्थिति दिनोदिन बिगड़ने लगी। यह स्थिति भी उतने प्रकट रूप मे सामने नही आ पाती, किन्तु लॉर्ड लिटन (१८७६-८०) के कार्यकाल मे भारतवर्ष में साम्राज्यवादी नीति का नग्नरूप उभर कर आता है, फलतः राजनैतिक असन्तोष पुनः भड़कने लगा।

प्रिन्स आफ वेल्स सन् १८७५ ई० मे भारतवर्ष आए और लॉर्ड लिटन ने सन् १८७७ ई० के दिल्ली दरबार मे महारानी विक्टोरिया को साम्राज्ञी घोषित किया। महारानी विक्टोरिया को भारत की साम्राज्ञी घोषित किया जाना ही इंग्लैण्ड और भारतवर्ष के सम्बन्धो के बीच की परिवर्तित परिस्थिति का स्पष्ट प्रतीक था। इसके बाद से भारतवर्ष इंग्लैण्ड का एक उपनिवेश मात्र था और उपनिवेश का शासन शक्ति, दमन और कूटनीति के बल पर संचालित होता है। साहित्य मे राजनैतिक परिस्थितियो की प्रतिक्रियाएँ परिलक्षित होती है। भारतेन्दु और उनके समकालीन लेखकों, प्रताप नारायण मिश्र, राधाकृष्ण दास, प्रेमघन आदि की रचनाओं मे इस परिवर्तित नीति के स्पष्ट संकेत मिलते हैं।

लॉर्ड रिपन (सन् १८८०-८४ ई०) के शासन काल मे भारतवासियो मे राजनैतिक चेतना के मंत्र पुनः उभरने दिखाई पड़ते हैं। लार्ड रिपन उदार दृष्टि के शासक थे। [illegible] ने रिपन के सम्बन्ध मे अष्ट-छाप की रचना की। किन्तु लार्ड डफरिन (१८८४-८८) लॉर्ड लैंसडाउन (१८८८-९३) लार्ड [illegible] (१८९३-९८) और लार्ड कर्जन (१८९८-१९०५) के शासनकाल मे साम्राज्यवाद की नीति का बोलबाला रहा। आलोच्यकाल की राजनैतिक परिस्थिति का यह अति संक्षिप्त विवरण है जिसमें एक ओर शोषण और साम्राज्य की लिप्सा है तो दूसरी ओर देशानुराग, [illegible] और स्वायत्त शासन की प्रेरणा है। [illegible] भारतवासियो के लिए हितकारी [illegible] सिद्ध हुई। स्वतंत्रता-संघर्ष की पराजय और [illegible] की मधुर बेला-सा उल्लास दृष्टिगत होता है, किन्तु [illegible] भी कम नही थी। भारतेन्दु-युग का राजनैतिक परिवेश [illegible] उदाहरण है। उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम [illegible] और न प्रगति ही, जब कि विद्रोह के [illegible] पर नियंत्रण करने की दृष्टि से कुछ घोषणाएँ

शासन ने ऐसी की, जिनसे प्रतीत हुआ कि राज्य का ध्यान जनता की ओर है। वास्तव मे इस काल मे अंग्रेजो ने अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिये राजनैतिक दृष्टि से भारत की एकता स्थापित की और पाश्चात्य सभ्यता के प्रचार से नवीन वैज्ञानिक शक्तियो और विचारो को जन्म दिया।

सूत्र रूप मे यह कहा जा सकता है कि जनमानस मे अंग्रेज राज्य के प्रति दो विरोधी भावनाओ का जन्म और विकास आलोच्य काल मे हुआ—

(१) अंग्रेजो द्वारा किये गये सुधारो, वैज्ञानिक साधनों के कारण उनके शासन के प्रति सम्मान।

(२) उनकी साम्राज्यवादी वैदेशिक नीति, आर्थिक शोषण और विस्तारवादी भावना के कारण उनके राज्य के प्रति विक्षोभ।

मूलतः ये दोनो भावनाएं एक दूसरे की विरोधी हैं, जैसा कि राष्ट्रीय आन्दोलन और जातीय चेतना के संघर्ष-काल मे ही स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है, किन्तु प्रारम्भ मे ये भावनाएं एक मिश्रित रूप में एक ही पक्ष के दो रूपो मे दृष्टिगत होती हैं। सम्भवत. उस काल के चिंतको और साहित्यकारो मे इससे पृथक कोई दूसरी प्रतिक्रिया होना सभव नही था, किन्तु एक बात बहुत ही स्पष्ट है कि देश-भक्ति की कसौटी का निर्माण करने में यह दृष्टि सर्वथा अग्रणी और राष्ट्रीय उन्मेष के विकास की समर्थ पीठिका प्रस्तुत करती है।

इतिहास-प्रसिद्ध है कि अंग्रेजो का भारतवर्ष मे पदार्पण व्यापारिक उद्देश्य से हुआ था। यूरोप की अनेक कम्पनियो की भाँति ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना इस देश मे हुई। कम्पनी ने औद्योगिक उत्पादन बढ़ाया और उत्पाद्य वस्तुओं के बदले मे कच्चे माल के लिए बाजार मे वृद्धि की। कच्चे माल की उपज में यूरोप की अपेक्षा एशिया और विशेष रूप मे भारत तब तक अच्छी मण्डी था। यूरोपीय व्यापारियो के लिए यह आकर्षण कम महत्वपूर्ण नही था, किन्तु ईस्ट इन्डिया कम्पनी ने अपनी विस्तारवादी नीति और ब्रिटिश शासन की सैनिक शक्ति से उन्हें पराजित कर व्यापार में एकाधिकार कर लिया। स्पष्ट है कि राजनैतिक सत्ता हाथ मे आ जाने पर तथा विरोधियो के नष्ट हो जाने पर कम्पनी ने मनमानी नीतियाँ चलाईं। फलतः देश मे आर्थिक शोषण का वैसा रूप दिखाई दिया जो इसके पूर्व देखने में नही आता है।

सन् १८५७ ई० की क्रांति के बाद कम्पनी की व्यवस्था समाप्त होकर क्राउन की व्यवस्था प्रारम्भ हुई। ब्रिटिश शासन ने भारत को औद्योगिक दृष्टि से

न पनपने देने की नीति का पालन किया। रूई के व्यापार और वस्त्र-उद्योग ने अंग्रेजो की उस तथाकथित न्यायप्रियता को एक ओर रख दिया। भारतीय धरती पर उद्योगो की शुरुआत हुई, लेकिन उन उद्योगो से अन्य देशो के लिए माल तैयार किया जाने लगा। आवागमन के मार्ग इसी निमित्त अंग्रेजो ने इस देश मे प्रारम्भ किए। इन साधनो का राज्य-व्यवस्था व आर्थिक उपलब्धि के साथ-साथ भारतीय कृषि पर भी प्रभाव पडा। श्री गाडगिल ने लिखा है—आवागमन की इस समान सुलभता द्वारा भारतीय कृषि मे एक और महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहा था। किसी उपयुक्त संज्ञा के अभाव मे इस परिवर्तन को कृषि का वाणिज्यीकरण कह सकते हैं। स्थूल वर्णन द्वारा यह परिवर्तन इस तरह व्यक्त किया जा सकता है कि यह परिवर्तन गृह उपभोग मे बाजार के उपभोग के रूप मे था।[1]

[illegible] बढता जा रहा था। [illegible] घट रहा था। [illegible] है किन्तु भूमि मे [illegible] पश्चात भूमि मे [illegible] भूमि का औसत कम [illegible] उद्योगो के क्षेत्र [illegible] भारतीय वस्त्र- [illegible] विदेश [illegible]। इसी समय [illegible] सम्भव थी [illegible] रही थी।

---

१ The Industrial growth of India in recent times
D. R. Gadgil, p. 1[illegible]3–54

२ द्रष्टव्य—भारतीय उद्योग के तरीके इतने सुव्यवस्थित एवं सक्षम थे तथा भारतीय कलाकारो व दस्तकारो की कुशलता इतनी बढी चढी थी कि वे इंग्लैण्ड में स्थापित उन्नत तरीको पर आधारित उत्पादन की सफलता के साथ प्रतिस्पर्धा कर सकते थे। जब कि इंग्लैण्ड मे मशीनयुग प्रारम्भ हुआ [illegible] द्वारा

जैसा कि ऊपर प्रकट किया गया है, भूमि के टुकड़े हुए, दूसरी और लगान की दर बढ़ा दी गयी। बढ़े हुए लगानो की वसूली मे कठोरता और अमानवीय शोषण की दृष्टि अपनाने के कारण कृषक देशी रियासतो की ओर जाने लगे। उपजाऊ भूमि बिना जोत के ही पड़ी रहने लगी। किन्तु कम्पनी सरकार को इससे उतना वास्ता नही था जितना धन को विदेश ले जाने से। इस सम्बन्ध मे एडम स्मिथ का यह कथन उद्धृत कर देना समीचीन होगा। 'दि वेल्थ आफ नेशन्स' मे उन्होने लिखा—"व्यापारियो की कम्पनी की सरकार किसी भी देश के लिए निकृष्ट सरकार है।"

आर्थिक शोषण मे अंग्रेज व्यापारियो का साथ हिन्दू व्यापारियों ने दिया। यद्यपि व्यापार सम्पन्न प्रान्तो मे हिन्दुओ के ही हाथ मे था, किन्तु व्यापारिक दृष्टिकोण मे हिन्दू व अंग्रेज दोनो की ही शोषण की नीति समान थी। इन दोनो के सहयोग से भारतीय जन का शोषण अपनी चरम स्थिति मे था। अपने हित के लिए हिन्दू व्यापारियो के साथ मिलकर कारखाने, मिले आदि खुलना आरम्भ हुए और उनमे आशातीत प्रगति हुई। अल्प काल मे ही सूती मिले, जूट मिलें और कोयले की खाने काम करने लगी। अधिकांश उद्योग यूरोपीय शासको के हाथ मे थे।

इस प्रकार सन् १८८० से १८९५ ई० तक अर्थात् भारतेन्दु-युग मे एक ओर तो दुर्भिक्ष पड़ रहे थे भारत का धन विदेशो मे खिंचा जा रहा था, पुराने उन्नत उद्योग नष्ट हो रहे थे, लगान बढ़ता जा रहा था तथा दूसरी ओर नवीन उद्योग खुल रहे थे। देश मे शांति थी, धार्मिक स्वतन्त्रता थी, समान मुद्रा-प्रणाली थी, शिक्षा का प्रसार हो रहा था तथा भविष्य आशामय दिखाई पड़ता था। भारतीय जनता के सम्मुख चित्र के दो स्वरूप थे।

सामाजिक दृष्टि से भारतेन्दुयुगीन भारत एक ऐसे दोराहे पर खड़ा दृष्टिगत होता है, जिसमे अंग्रेजी साहित्य और संस्कृति के प्रभाव के फलस्वरूप अपना प्राचीन संस्कृति और सभ्यता के प्रति [illegible] मध्ययुगीन और [illegible] के प्रति अवहेलना [illegible] है [illegible] मे अंग्रेज [illegible] नयी दृष्टि नये साधन [illegible] लेकर आये थे और [illegible] और शान्ति के विस्तार के साथ अपने [illegible] दृष्टि से उन्नत [illegible] भारतीय समाज के समान [illegible] हो गये थे। सामाजिक [illegible] कर्म और [illegible] होकर अंग्रेज राज्य के [illegible] ने अपना मार्ग खोजने लगा। [illegible] धार्मिक और

सांस्कृतिक अंधविश्वासों, रूढ़ियों और आडम्बरों से मुक्ति पाने के संघर्ष के सूत्रपात के साथ हुआ। दूसरी ओर अंग्रेजी सभ्यता और सामाजिक स्वच्छन्दता के फल-स्वरूप भारतीय सभ्यता और संस्कृति का बेमेल स्वरूप भी भारतीय मनीषियों को स्वीकार नहीं था। इस विकृति के विरुद्ध भारतेन्दु युग के पूर्व ही उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में सामाजिक, धार्मिक नवोत्थान और नूतन सांस्कृतिक चेतना का विकास दृष्टिगत होता है, जिसके मूल में अनेक आन्दोलनों का इतिहास है जो कभी किसी प्रान्त में तो कभी किसी प्रान्त में प्रभावशील होता दृष्टिगत होता है। ब्रह्म समाज, प्रार्थना-समाज, आर्यसमाज आदि संस्थाओं के जन्म के कारण सामाजिक और सांस्कृतिक जन-जागरण हुआ। राजा राममोहन राय, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी दयानन्द, महादेव गोविन्द रानडे, देवेन्द्रनाथ ठाकुर प्रभृति विद्वानों और मनीषी चिन्तकों ने पुनर्जागरण के आधार पर प्राचीन भारतीय संस्कृति के नवोत्थान का बीड़ा उठाया। भारतेन्दु के जन्म-काल तक एक नये सांस्कृतिक परिवेश की पीठिका उन्हें विरासत में मिली थी।

अंग्रेजों के पूर्व मुसलमानी शासन काल में भारतीय जनता के संघर्ष का एक ही प्रधान पहलू था और वह था धार्मिक आत्मरक्षा का पहलू। सम्भवतः भक्ति का वह स्वरूप नव-संस्कृति की प्रेरणा लेकर [illegible] के लिए वरदान सिद्ध हुआ। [illegible] वादी राज्य-सत्ता के विस्तार [illegible] हमें स्पष्ट दिखाई [illegible] है। [illegible] नैतिक गौरव [illegible] साहित्य में [illegible] और [illegible] जनमानस से सीधे सम्बद्ध [illegible] सिद्ध होते हैं। भारतेन्दु-युग [illegible] निर्मित हो गया। [illegible] दोहरी स्थिति [illegible] जनमानस की [illegible] इस युग के [illegible] में दोनों ही [illegible] व्यक्ति की [illegible] और सामाजिक [illegible] हरिश्चन्द्र [illegible] नाटक रचना [illegible] नाटकों

उद्देश्य पढने वालो या देखने वालो के हृदय मे स्वदेशानुराग उत्पन्न करना है।[१] देशभक्ति और सामाजिक सस्कार दोनों ही विषयो का समावेश भारतेन्दुयुगीन हिन्दी नाटको मे मिलता है। यद्यपि राजनैतिक दृष्टि से देशभक्ति का रूप आन्दोलन की विशेप भूमिका को जन्म नही दे सकता। श्री राम गोपाल सिंह चौहान का अभिमत है कि 'भारतेन्दु युग मे राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्र मे सघर्ष था—सरकारी नौकरियों मे भारतीयो को स्थान दिलाने और देशी उद्योगो की रक्षा का'[२]। किन्तु आर्थिक क्षेत्र को इतना सीमित मानना उपयुक्त प्रतीत नही होता। राजनैतिक और आर्थिक स्थिति में उत्पन्न परिस्थितियो मे मध्यम वर्ग ने जन्म और उसके अधिकारो के प्रति एक सहज जागरूकता का भाव समाज में जन्म लेने लगा। अंग्रेजी राज्य के अन्तर्गत शासन तथा आर्थिक व्यवस्था और नवशिक्षा के कारण जहाँ अनेक परिवर्तन हुए वहाँ सबसे बडा परिवर्तन भारत की सामाजिक व्यवस्था मे मध्यमवर्ग का जन्म होना था। एक प्रकार से अन्य सभी परिवर्तन इसी मध्यम वर्ग के कारण हुए। उच्च वर्ण नवीन प्रभावों से अलग, कट्टर और अपरिवर्त्तनशील था। उन्हे नवीन शिक्षा देने की न तो शासको की (राजनैतिक दृष्टि से) नीति थी और न उन्होने स्वय उसके प्रति रूचि प्रकट की। निम्न वर्ग निर्धन और अशिक्षित था। वकील, डाक्टर, अध्यापक, साधारण हैसियत के व्यापारी, सरकारी नौकरों आदि का एक वर्ग ऐसा था जो नवशिक्षा ग्रहण कर पाश्चात्य सभ्यता के अधिक से अधिक सम्पर्क मे आया था। इसीलिये यही नवचेतना से सबसे अधिक प्रभावित था।

उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्ध में इस वर्ग की चेतना का जन्म प्रधानतः राजनैतिक और आर्थिक रूप मे हुआ था। नवोत्थान कालीन होने के कारण इस वर्ग की राष्ट्रीयता बहुत कुछ हिन्दुत्व लिये हुए थी और हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान उसके मुख्य शब्द थे। साथ ही वर्ग, धर्म एव साम्प्रदायिक विषयो से सम्बन्ध रखने वाली एक दूसरी राजनीतिक विचारधारा थी, जिसने साम्प्रदायिक निर्वाचन, सरकारी नौकरियाँ, आर्थिक रियायतो आदि की माँग को जन्म दिया। ये दोनो विचारधारायें तत्कालीन भारत मे प्रचलित थी और कहीं-कही आपस मे एक दूसरे को छूकर फिर अलग हो जाती थी।

राजनतिक एव आर्थिक शोषण से संघर्ष करने की अनेक दिशाएँ होने के

१. भारतेन्दु-ग्रंथावली भाग १, पृ० ७२१
२. भारतेन्दु-साहित्य, पृष्ठ २८

बाद भी अंग्रेजों की कूटनीति और भारतीयों की निराशा से एक अन्धकारपूर्ण स्थिति का जन्म हुआ। और निराश मध्यमवर्ग अपनी समस्याओं के समाधान के लिए धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक विषयों की ओर आकृष्ट हुआ। यद्यपि इस ओर आकृष्ट होने का कारण मात्र राजनैतिक निराशा नहीं माना जा सकता। नव जागरण और वैज्ञानिक उपकरणों ने उसे अपने समाज और उसकी रूढ़ि व्यवस्था की ओर दृष्टिपात करने का अवसर दिया। धर्म और समाज का काम वास्तव में विदेशी शासकों को आपत्तिजनक भी कैसे हो सकता था और समाज सेवा-कार्य करने वाले व्यक्तियों के लिए ब्रिटिश हुकूमत से डरने का कोई कारण भी नहीं हो सकता था। महारानी विक्टोरिया के घोषणा-पत्र ने ठीक इसी अवसर पर धार्मिक सहिष्णुता का उद्घोष किया और देशवत्सलता का रूप राजनैतिक और आर्थिक न रहकर धार्मिक और सामाजिक हो गया। एक वाक्य में हम इसे सांस्कृतिक अभ्युत्थान कह सकते हैं। सांस्कृतिक अभ्युत्थान में अपने समाज की जीवन विरोधी रूढ़ि- स्थितियों को स्वस्थ और लोकमंगल रूप देने का आग्रह रहता है। मूल-रूप में इस अभ्युत्थान का सूत्रपात सुधारवादी आन्दोलनों के रूप में होता है।

सर्वप्रथम बंगाल में ब्रह्म-समाज (१८२८ ई०) के द्वारा सुधारवादी आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ। वास्तव में पढ़े-लिखे भारतीयों का पाश्चात्य प्रभावों की स्वीकृति के फलस्वरूप यह आन्दोलन आकार ग्रहण कर रहा। और अन्त में बृहत्तर समाज से हटकर एक विशिष्ट आन्दोलन के रूप में परिणत हो गया। भारतीय नवोत्थान के विशुद्ध रूप का प्रतिनिधित्व सर्वप्रथम आर्य-समाज (१८७५ ई०) के द्वारा हुआ जिसके जन्मदाता महर्षि दयानन्द सरस्वती (१८२४ ई०-१८८३ ई०) थे। महर्षि दयानन्द का सम्बन्ध हिन्दी भाषा और साहित्य के साथ था। उन्होंने अन्यान्य कार्यों के उत्तर भारत में आर्य समाज की शाखाएँ खोलीं तथा शिक्षित अर्ध-शिक्षित और अशिक्षित जनता का पथप्रदर्शन किया। स्वामी दयानन्द आधुनिक भारत के उन महान निर्माताओं में से हैं, जिनके अथक परिश्रम से देश में जन-जागरण हुआ। सुधारवादी सनातन धर्मियों के साथ में सामाजिक वातावरण होते हुए भी हिन्दी साहित्य आर्य-समाज से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका। आर्य-समाज के प्रवर्तक और उनके अनुयायियों ने साहित्यकारों को तरह-तरह के विषय सुझाए और भाषा में संस्कृत तत्त्व को प्रोत्साहन दिया।

वास्तव में आर्य-समाज का कार्य सामाजिक क्षेत्र में भी उतना अग्रणी रहा जितना धार्मिक क्षेत्र में। उन्होंने विधवा-विवाह, निषेध, अछूतोद्धार, बाल-

विवाह, स्वदेशी प्रचार तथा ब्राह्मण-धर्मान्तर्गत कर्मकाण्ड और अन्धविश्वास का विरोध किया। आर्य समाज और उसके संस्थापक स्वामी दयानन्द ने केवल विरोध ही प्रकट नही किया किन्तु वैदिक आदर्श के अनुरूप शिक्षा देने के लिए गुरु-कुलो की स्थापना की तथा वेदो मे व्याप्त वैज्ञानिक सिद्धान्तो की ओर भी जनमानस को आकृष्ट किया।

हिन्दी प्रदेश मे सीधे सम्बद्ध न होते हुए कतिपय सुधारवादी आन्दोलनो और साधको का भारतीय जनमानस पर व्यापक प्रभाव पड़ा। थियोसोफिकल सोसायटी (स्थापना वर्ष १८७५—भारत मे १८[illegible] [illegible], [illegible] एनी बेसेन्ट के १८९३ ई० मे भारत आगमन के पश्चात् [illegible] प्रचार [illegible] हुआ। इसी प्रकार रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द [illegible] विचारो ने समाज को नव चेतना प्रदान की और [illegible] नवजागरण का ऐसा सन्देश दिया जिसने अप्रत्यक्ष [illegible] को प्रभावित किया।

ब्रिटिश शासन ने भी कानून के द्वारा [illegible] सुधार करने की चेष्टा की। कानून द्वारा सुधार के [illegible] अंग्रेजी [illegible] भारतीयो तथा नवशिक्षितो पर यह प्रभाव [illegible] सम्पूर्ण क्रिया-कलाप उनके हित मे हैं। किन्तु [illegible] अंग्रेज शासको ने ऐसा इसलिए किया, जिससे [illegible] [illegible] सामान्य [illegible] और अन्धविश्वासो [illegible] को प्रभावित किया।

भारतेन्दु-युग की [illegible] राजनैतिक, आर्थिक [illegible] हिन्दी साहित्य ने [illegible] और साहित्य ने अपनी परम्परा छोड़कर [illegible] और इस

दृष्टि से भाषात्मक और साहित्यिक नवीनता इस युग की अपनी विशेषता है। नये युग के साथ कविता और उसकी भाषा के प्रयोग चल नहीं सके और खड़ी बोली गद्य में वृद्धि हुई, विचार-स्वातंत्र्य का जन्म हुआ। भारतेन्दु-युग के हिन्दी साहित्य का अध्ययन करने पर यह तथ्य किसी से छिपा नहीं रह सकता कि यद्यपि साहित्य में बहुत बड़ी सीमा तक पुरातत्व बना हुआ था, तो भी तत्कालीन नाटक, उपन्यास, कविता, प्रहसन, निबन्ध आदि सभी पर राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सामाजिक आन्दोलनों की गहरी छाप है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, राधाकृष्ण दास, श्रीनिवासदास, बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र, बदरीनारायण चौधरी, किशोरीलाल गोस्वामी, बालमुकुन्द गुप्त, श्रीधर पाठक, देवकीनन्दन, त्रिपाठी और अन्य अनेक लेखक और कवि साहित्यिक होने के साथ-साथ राजनीतिज्ञ, समाज-सुधारक, और धर्मोपदेशक भी थे।

[illegible] साहित्य के सामान्य प्रभाव के फलस्वरूप भारतेन्दु-युगीन रचनाओं [illegible] हुई। नए नये साहित्य-रूपों [illegible] दिया, प्राचीन और [illegible] प्रभाव [illegible] करते हुए भी उनकी [illegible] को पश्चिमी शैली से मिलाकर [illegible] की [illegible]। भाषा, विचारों की स्वतन्त्रता के कारण शब्द-भंडार में [illegible] और अभिव्यक्ति [illegible] अग्रणी होकर, अपने साहित्य [illegible] उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हिन्दी लेखकों और कवियों ने देश की राजनैतिक और आर्थिक स्थिति का अपनी रचनाओं [illegible] प्रकट किया, यद्यपि सामान्य जन-मानस अपने [illegible] में [illegible] रहा। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया, आर्य समाज [illegible] हिन्दी प्रदेश में [illegible] कोई आन्दोलन प्रभावी नहीं हुआ। फलतः उस युग के [illegible] धार्मिक और सांस्कृतिक भावना के अनुरूप स्वयं [illegible] दृष्टि से इन आन्दोलनों [illegible] समर्थक।

वास्तव में [illegible] इस दृष्टि से [illegible] का काल है और उनकी विकास-रेखाएं दो रूपों में प्रत्यक्ष होती हुई दृष्टिगत होती हैं। एक दृष्टि प्राचीन जीवन-दर्शन और पद्धति से सम्बद्ध थी तो दूसरी दृष्टि भविष्य की ओर [illegible] हुए थी। यह एक [illegible] और व्यापक उत्कर्ष का परिणाम था

अपनी आन्तरिक शक्ति के साथ पश्चिम से आई बाह्य शक्ति को ग्रहण करने की आकांक्षा का प्रतिपक्षी। क्राति उसका लक्ष्य नही था। नया भवन खडा करने के स्थान पर मानो वे पुराने भवन को ही नवसंस्कार देने के प्रतिपक्षी थे। यही युग-धर्म भी था।

●●

अध्याय : दो

नाटक : मूलभूत प्रवृत्तियाँ।

नाटक

नाटक संसार के साहित्य का एक प्रमुख और महत्वपूर्ण अंग है। हिन्दी भाषा मे प्रचलित नाटक अपने मूल मे संस्कृत रूपक का ही एक भेद है किन्तु काल के प्रवाह मे वह रूपक का पर्याय माना जाता है। डा० दशरथ ओझा के मतानुसार रूपक और नाटक पर्याय होते हुए भी उनमे सूक्ष्म भेद हैं।[1]

भरत मुनि का नाट्य-शास्त्र नाटक की उत्पत्ति और उसके अभिनय आदि के विषय में प्रथम प्राचीन ग्रंथ माना जाता है। नाट्य-शास्त्र मे ब्रह्मा नाटक की परिभाषा देते हुए कहते हैं कि यह पंचम वेद (नाट्य वेद) सम्पूर्ण त्रैलोक्य के भावों का अनुकरण है।[2] ब्रह्मा ने नाट्य-शास्त्र के सम्बन्ध में स्पष्ट करते हुए कहा है- नाट्य में कहीं धर्म है तो कहीं खेल, कहीं अर्थज्ञान है तो कहीं शांति, कहीं हास्य है तो कहीं युद्ध, कहीं काम का वर्णन है तो कहीं वध का।[3]

---

१. नाट्य समीक्षा पृ० ८ द्रष्टव्य—डा० दशरथ ओझा का मत—रूपक और नाटक दोनों शब्द पर्यायवाची होते हुए भी सूक्ष्म अन्तर वाले प्रतीत होते हैं। नाट्य में अवस्थाओं की अनुकृति को प्रधानता दी जाती है, किन्तु रूपक में अवस्थाओं की अनुकृति के साथ-साथ रूप का आरोप भी आवश्यक है, अर्थात् अवस्था की अनुकृति और रूपानुकृति का मिश्रित रूप रूपक कहलाने का अधिकारी बनता है।

२. त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्त्तनम। नाट्य-शास्त्र १, १०, ७

ं धर्मात्मा और ज्ञानियो की ही चर्चा नही, प्रत्युत इसमे कामियो के काम और
ष्टो के सुधार की भी व्यवस्था होती है, दुर्विनीतो के निग्रह, क्लीवों की धृष्टता
शूरवीरो के उत्साह भी वर्णित होते हैं। इसी प्रकार मूर्खों की मूर्खता, विद्वानो
विद्वत्ता, धनियो के विलास, दुखियो के धीरज, व्यवसायियो के धन-प्राप्ति के
य, आर्त्तजनो के धैर्य आदि का विवेचन होता है। अर्थात् जब लोगो की
ाओ का अनुकरण अनेक भावो और अवस्थाओ से परिपूर्ण होकर किया जाए
वह नाटक कहलाता है।[१] सक्षेप मे कहा जा सकता है कि संस्कृत के आचार्यों
दृष्टि मे अवस्थाओ का वास्तविक चित्रण, जो अभिनय के साथ दिखलाया जाता
ही नाटक है।

वास्तव मे नाटक मे अनुकरण का अपना विशेष स्थान है। भरतमुनि के
य-शास्त्र से मिलती-जुलती परिभाषा अरस्तू की मानी जाती है। अरस्तू का
है कि 'ट्रैजेडी उस व्यापार विशेष का अनुकरण है जिसमें गम्भीरता और
ता हो, जिसकी भाषा प्रत्येक प्रकार के कलात्मक अलंकारो से सुसज्जित हो,
जिसमे अनेक विभावाएँ भी पाई जाती हो, जिसकी शैली वर्णनात्मक न
र दृश्यात्मक हो, जो करुणा और भय का प्रदर्शन करके इन मनोविकारो का
त परिष्कार कर सके।[२]

'थियरी आफ ड्रामा' पुस्तक मे निकल ने नाटक को परिभाषित करते
सिसेरो के ईलियस डोनेटस से कहलाया है, कि नाटक जीवन की एक
लिपि, व्यवहारो का एक दर्पण और सत्य का एक प्रतिबिंब है।[३]

नाट्य-शास्त्र अध्याय १ १०६-११३

A tragedy, then, is the imitation of an action that is serious and also as having magnitude, complete in itself, in language with pleasurable accessories, each kind brought seperately in the parts of the work, in a dramatic not in a narrative form, with incidents arousing pity and fear, wherewith to accomplish its catharsis of such emotions.

From Aristotle on the art of poetry Page 35 Oxford the Clarandon Press 1947.

Drama is a copy of life, a mirror of custom, a reflection of Truth—Theory of Drama by Nicoll.

नाटको मे अनुकरण की प्रधानता न केवल भारतीय आचार्यों ने ही मानी है, अपितु उपर्युक्त उद्धरणो से स्पष्ट है कि पश्चिमी विद्वान् भी अनुकरण से ही नाटक का प्रारम्भ मानने हैं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने 'नाटक' नामक निबन्ध मे लिखा है कि 'नाटक' शब्द का अर्थ है नट लोगो की क्रिया। नट कहते है विद्या के प्रभाव से अपने व किसी वस्तु के स्वरूप के फेर या स्वय दृष्टिरोधन के अर्थ फिरना। नाटक मे पात्रगण अपना स्वरूप धारण करते हैं व वेश-विन्यास के पश्चात् रगभूमि मे स्वकीय कार्य-साधन के हेतु फिरते हैं।[1] प्रकट है यह 'स्वरूप के फेर' की क्रिया या अनुकरण की क्रिया अपने अकृत्रिम और स्वाभाविक रूप मे जब विशेष प्रयोजनो से सम्बद्ध होती है, तब हमारे सामने 'अभिनय' की स्थिति आती है। आचार्यों ने अभिनय के चार विभाग किए हैं —

१ आगिक उस अभिनय को कहते हैं जिसमे शारीरिक अगो का कार्यकलाप है। जैसे उठना, बैठना आदि।

२. वाचिक इसके अन्तर्गत बोल कर की गई क्रियाओ की गणना होती है।

३ आहार्य उस अभिनय को कहते हैं जो वस्त्र, आभूषण से सुसज्जित होकर किया जावे।

४ सात्विक इसके अन्तर्गत हंसना, रोना, बोलना आदि भाव-सात्विक भावो-का अभिनय होता है।

अभिनय की स्थिति के कारण रूपक अथवा नाटक को सस्कृत के आचार्यों ने दृश्य काव्य के अतर्गत माना है। काव्य के सम्बध मे भारतीयो ने विस्तार से चर्चा की है। केवल आचार्यों ने ही नही अपितु नाटककारो ने अपने-अपने मतो से उसके व्यापकत्व को स्वीकार किया है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने रूपक के सम्बन्ध मे लिखते हुए लिखा है कि 'काव्य दो प्रकार के हैं—दृश्य और श्रव्य। दृश्य काव्य वह है जो कवि की वाणी को उसके हृदयगत आशय और हावभाव सहित प्रत्यक्ष दिखला दे। जैसे कालिदास ने शाकुतल मे भ्रमर के आने पर शकुतला की सुधी चितवन से कटाक्षो का फेरना जो लिखा है, उसको प्रथम चित्रपटी द्वारा उस स्थान का, शकुतला-वेष-सज्जित स्त्री द्वारा उसके रूप-यौवन और वनोचित शृ गार का, उसके नेत्र, सिर, हस्तचालनादि द्वारा उसके अगभगी और हावभाव का, तथा

---

१. 'भारतेन्दु ग्रन्थावली—परिशिष्ट पृ० ७१५

कवि-कथित वाणी के उसी के मुख से कथन द्वारा काव्य का, दर्शकों के चित पर खचित कर देना ही दृश्य काव्यत्व है। यदि श्रव्य काव्य द्वारा ऐसी चितवन का वर्णन किसी से सुनिए या ग्रंथ मे पढ़िए तो जो काव्य-जनित आनन्द होगा, यदि कोई प्रत्यक्ष अनुभव करा दे तो उससे चतुर्गुणित आनन्द होता है। दृश्य काव्य की संज्ञा रूपक है। रूपकों मे नाटक ही सबसे मुख्य है।[१]

नाटक वास्तव मे अन्य साहित्य विधाओं मे विशिष्ट और असामान्य है। नाटक के रसिक दर्शक होते हैं, शेष साहित्य विधाओं के श्रोता। नाटक में वर्णन विषय कथ्य, गीत के साथ-साथ अभिनय भी उसका एक प्रमुख कार्य होता है। अभिनय अथवा रंगमंचीय प्रभावों से हीन नाटक साहित्यिक शैली के पाठनीय नाटक मात्र रह जाते हैं, यद्यपि केवल रंगमंचीय नाटक भी दृश्य काव्य की परिधि मे नहीं आ पाते हैं।

डा० भानुदेव शुक्ल ने नाटकों के कार्यों को दो भागों मे बाँटा है। १ वर्ण्य विषय को प्रभावशाली रूप प्रदान करना २ विस्तृत क्षेत्र मे कार्य करना। वास्तव मे नाटक के कार्यों का अथवा उसकी परिधि का कोई सीमांकन होना सम्भव नहीं है। डा० ओझा ने भरतमुनि और अरस्तू के संदर्भों के आधार पर प्रकट किया है कि नाट्य कला का क्षेत्र अत्यंत व्यापक है। इसमे उत्तम, मध्यम और अधम सभी श्रेणी के व्यक्तियों के कर्म को आश्रय मिलता है।[२] वेद-विद्या, इतिहास, कथा आदि समग्र साधनों का एकत्रीकरण करके सब लोगों का एक साथ मनोरंजन नाटक के द्वारा ही सम्भव है। यह मनोरंजन दर्शक के स्वाभाविक तादात्म्य के फलस्वरूप उसे प्राप्त होता है। वह अनुकृति को ही भ्रमवश, या भावित होकर, कुछ काल के लिए सत्य घटनावत् मानकर उसमें खो जाता है। इसलिए सामाजिकों को उसकी मर्यादा की सूचनाएँ भी नाटक के माध्यम से प्राय दी जाती रही हैं। यद्यपि यह कहना उपयुक्त न होगा कि नाटकों के द्वारा सुधारवादी दृष्टि का प्रचार-प्रसार अधिक सम्भव है, तथापि नाट्यकला के माध्यम से मनोरंजन एवं मत-परिष्कार या जनमत-परिष्कार की भावना भी सामाजिकों में फैलाई जा सकती है। पढ़े-लिखे और अपढ़ दोनों ही नाटकों से मनोरंजन आदि प्रेरणाएँ ग्रहण करते हैं और नाटक की सार्थकता ही इस बात मे है कि वह जनमानस को उद्वेलित कर उसका मनोरंजन इस रूप में कर सके जिससे जीवन

१. भारतेन्दु ग्रंथावली भाग १ परिशिष्ट पृ० ७१५
२. हिन्दी नाटक, उद्भव और विकास पृ० ३४

की प्रतीति सहज और स्वभाविक रूप मे हो सके। नाटक अपने आदि रूप से लेकर आधुनिक परिवेश तक एक गत्यात्मक विधा के रूप मे मान्य रहा है।

एक प्रश्न यहाँ पर उठना स्वाभाविक है कि अनुकरण की प्रेरणा या सामाजिको का मनोरंजन ऐसे मूल कारण नही प्रतीत होते जिनमे नाटक की उत्पत्ति का समाधान हो सके। वास्तव मे यह मानव-मन की एक स्वाभाविक स्थिति है कि वह स्वयं का विस्तार देखना चाहता है। दूसरे शब्दो मे इसी को 'अहं' का विस्तार कह सकते है। स्वयं का विस्तार जैसे शब्द से भ्रम नही होना चाहिए। आत्म-प्रकाशन की वृत्ति ही सुख और आत्म-संकोच की वृत्ति ही दुख का कारण बनती है। बालक बडो का अनुकरण क्यो करते है, दाढी-मूंछे लगा कर बडो जैसा होने का गौरव उनके संकोच को विस्तार देता है। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि मनुष्य अपने अभावो को दूसरो के साथ तादात्म्य कर जीवन की पूर्णता प्राप्त करना चाहता है। इस पूर्णता का माध्यम नाटक है।

आत्म-प्रकाशन के साथ जब मनुष्य अपने विनोदी स्वभाव को इस भावना से जोड देता है, तब आत्म-प्रकाशन सरस और आकर्षक हो जाता है। जब आत्म-प्रकाशन गम्भीरता लिए हुए होता है तब गद्य की दूसरी विधा जैसे निबन्ध का जन्म होता है। आत्म-प्रकाशन के साथ मनोविनोद और उसके ऊपर प्रशंसा इन तीन वृत्तियो के मेल से नाटक के पूर्व रूप जन्मते है। नकले वास्तव मे ऐसे ही प्रयास हैं। उपर्युक्त तथ्यो की ओर यदि विचारपूर्वक चिंतन किया जावे और मनोविश्लेषण के आधार पर मानव की इस वृत्ति का अनुशीलन किया जावे तो यह तथ्य निसृत हो जावेगा कि नाटक की उत्पत्ति के मूल मे अनुकरण ही नही, अपितु आत्म-विस्तार का भाव भी है, जो मनुष्य को एक स्वाभाविक वृत्ति है। श्री गुलाबराय ने अनुकरण और आत्म-प्रकाशन दोनो के औचित्य को स्वीकार करते हुए लिखा हैं— 'दूसरो के अनुकरण मे हमारी एक प्रकार की आत्माभिव्यक्ति भी हो जाती है'।[1]

नाटक के तत्त्व

जैसा कि ऊपर प्रकट किया गया है, नाटक एक विशिष्ट साहित्यिक विधा है, उसकी अपनी विशेषताएँ है। प्रकट है कि नाटक के तत्व भी उसकी विशेषताओं के अनुकूल ही होंगे। नाटक की विशेषताएँ इस प्रकार मानी गई है —

---

१. काव्य के रूप, पृ० २४

नाटको मे कथानक होता है, जिसके लिए पात्रो के व्यक्तित्व का होना अनिवार्य है।

नाटको का कथानक नाटककार द्वारा नही वरन् अभिनेताओ द्वारा सवाद या कथोपकथन एव हावभाव के द्वारा रगमच पर उपस्थित किया जाता है।

नाटक की प्रस्तुति का कोई उद्देश्य होता है, यह उद्देश्य दर्शको मे रस या समस्याओ की उपस्थिति भी हो सकता है।

उपर्युक्त विशेषताओ के आधार पर नाटक के निम्नलिखित तत्त्व माने हैं —

वस्तु (कथावस्तु या प्लाट), पात्र और उनका चरित्र-चित्रण, उद्देश्य र इन सबकी प्रस्तुति के लिए अभिनय। दशरूपककार ने नाटक के तत्वो के धार पर नाटको अथवा रूपको के भेद किए है। वे तत्व है —वस्तु, नायक और ।[1] अभिनय का सम्बन्ध नाटक के मूल से जुडा हुआ है, अत नाटक के तत्व से ही उसका परिचय दिया जा चुका है। श्री गुलाबराय नाटक के चार तत्त्व ते हैं—वस्तु, नेता या पात्र, रस और अभिनय। उनके मतानुसार वृत्ति भी ाँ तत्त्व है। 'वृत्तियाँ एक प्रकार से क्रिया-प्रधान शैलियाँ होती हैं और अभिनय ों अतर्गत आ जाती है। यूरोप की समीक्षा-पद्धति के अनुकूल जो तत्त्व गिनाए े हैं, उनका इन तत्त्वो के साथ समन्वय हो सकता है। वे सब अग इन अगो मे लिष्ट हो जाते है। यूरोपीय समीक्षको के अनुसार 'जो उद्देश्य तत्त्व है वह ीय नाटको मे रस सचार का रूप ले लेता है।'[2]

वस्तु

नाटक के प्लॉट, अथवा कथानक को वस्तु कहा जाता है। वस्तु ो प्रकार होते हैं—एक मुख्य अथवा आधिकारिक, दूसरा गौण अथवा ागिक। आधिकारिक कथा-वस्तु उसे कहेगे जिसमे मुख्य पात्रो से सम्बद्ध कथा नुरन [illegible] हो। [illegible] के मतानुसार फल के स्वामी को अधिकारी है।[3] आ[illegible] [illegible] प्रारम्भ से लेकर फल-प्राप्ति तक होता है। [illegible] नायक अथवा नायिका से न होकर अन्य [illegible] वह [illegible] बढाने मे सहयोगी होता है।

1. दशरूपक १, ११
2. श्री गुलाबराय, काव्य के रूप, पृ० २५
3. दशरूपक १, १२

कथा-वस्तु के मूल स्रोतों के आधार पर भी उसके भेद किये गये हैं।

१. प्रख्यात कथावस्तु — जिसका आधार इतिहास, पुराण या परम्परागत जनश्रुति हो।

२. उत्पाद्य कथावस्तु — जिसकी सृष्टि नाटककार अपनी कल्पना से करता है।

३. मिश्र कथावस्तु — जिसमें इतिहास, पुराण एवं कल्पना दोनों का मिश्रण हो।

अवस्थाएँ

भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से कथावस्तु के अंगों, फल की इच्छा की प्राप्ति से किये गये कार्य-व्यापार को अवस्थाएँ कहा गया है। ये प्रारंभ से लेकर फलागम तक की श्रेणियाँ ही कही जा सकती हैं। नाटक की पाँच अवस्थाएँ निम्नलिखित रूप में आचार्यों ने मान्य की हैं :—

१. आरम्भ — कथानक का प्रारम्भ, किसी फल के लिए उत्सुकता होती है।

२. प्रयत्न — इच्छा की पूर्ति का यत्न या प्रयास होता है।

३. प्राप्त्याशा — प्राप्ति की सम्भावना अर्थात् विघ्नों का दूर होना और फल-प्राप्ति की आशा होती है।

४. नियताप्ति — फल-प्राप्ति की निश्चिंतता हो जाती है।

५. फलागम — फल की प्राप्ति। भारतीय नाट्य-शास्त्र में सुखान्त नाटकों को ही प्रमुखता दी गई है, फलतः नाटक-समाप्ति के साथ ही फल की प्राप्ति को कथानक की अंतिम अवस्था माना गया है।

कुछ विद्वानों ने पश्चिमी नाट्य-शैली में संघर्ष के उतार-चढ़ाव को कार्य-अवस्थाओं से मिलाकर दोनों की एकता दर्शाई है, किन्तु मूल में अन्तर होने के कारण यह साम्य एक सीमा तक ही मान्य किया जा सकता है। वस्तुस्थिति यह है कि भारतीय नाट्य-रचना का आधार [illegible] है, जबकि पश्चिमी नाट्य-रचना का आधार संघर्ष है। 'कैटेस्ट्रोफी' के बाद फल मान लिया जावे तो वह अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी।

अर्थ-प्रकृतियाँ

अर्थ-प्रकृतियों से तात्पर्य कथावस्तु को कार्य के लिए अग्रेषित करने वाले चमत्कारपूर्ण अंशों से है। एक टीकाकार ने अर्थ-प्रकृतियों के संबंध में कहा है—

प्रयोजनसिद्धिहेतव: (ये भी पाँच मानी गई हैं) (१) बीज (२) बिन्दु (३) पताका (४) प्रकरी (५) कार्य।

बीज

'प्रारम्भ' अवस्था में मिलता है। जिस प्रकार बीज में फल छिपा रहता है, उसी प्रकार बीज में नाटक के फल की सम्भावना रहती है।

बिन्दु

बिन्दु में तेल की बूँद का रूपक है। यह पानी के ऊपर फैल कर विस्तार का द्योतक बन जाता है।

पताका और प्रकरी

छोटी अवान्तर कथाएँ होती है जो मूल कथा को आगे बढ़ाने में सहायक होती हैं।

कार्य

अंतिम फल को कहते हैं।

कार्य और फलागम तो मिल जाते हैं किन्तु प्राप्त्याशा और नियताप्ति, पताका और प्रकरी से मेल नही खाती। प्रकरी द्वारा प्राप्ति की आशा हो जाने के आधार पर (शाकुतल मे दुर्वासा के प्रसन्न होने पर) शायद प्रकरी और प्रात्याशा का तादात्म्य किया गया है।[१]

संधियाँ

अवस्थाओ और अर्थप्रकृतियो का मेल अथवा जोड जिसके द्वारा सम्पादित होता है उसे संधि कहते है। संधियाँ एक-एक अवस्था की समाप्ति तक चलती हैं। दशरूपककार ने सधियो के पाँच उद्देश्य बताए हैं :— (१) इष्टार्थ की रचना (२) छिपा लेने योग्य अंश का गोपन (३) प्रकाश करने योग्य अंश का प्रकाशन (४) राग-प्रयोग और (५) आश्चर्य उत्पन्न करना।[२]

संधियाँ भी सख्या में पाँच हैं (१) मुख (२) प्रतिमुख (३) गर्भ (४) विमर्श या अवमर्श तथा (५) निर्वहण अथवा उपसहार।

अर्थ-प्रकृतियो और अवस्थाओं मे अन्तर है। अर्थ-प्रकृतियों का सम्बध अंग अथवा साधन से है और अवस्थाओं का सम्बध सिद्धि की ओर अग्रसर होने की श्रेणियों से। संधि दोनों के मेल के चमत्कारिक अंश

१ काव्य के रूप, गुलाबराय, पृ० २६

२ दशरूपक १, ५५

को कहते है। 'प्रारम' नाम की अवस्था के साथ योग होने से जहाँ अनेक रसो और अर्थों के द्योतक बीज की उत्पत्ति होती है, वहाँ मुख-सधि होती है। प्रतिमुख मे बीज कुछ लक्ष्य और अलक्ष्य रूप से विकसित होता हुआ दिखाई देता है। उपाय के दब जाने और उसकी खोज के कारण विस्तार और भी अधिक दिखाई पडता है। यह गर्भ-सधि इसलिये कहलाती है कि इसके भीतर फल छिपा रहता है। इसमे प्राप्त्याशा और पताका का योग रहता है। अवमर्श मे नियताप्ति और प्रकरी का योग रहता है और नई बाधा उपस्थित होती है। गर्भ और अवमर्श सधियो मे पताका और प्रकरी का प्राप्त्याशा और नियताप्ति से योग आवश्यक नहीं है। निर्वहण-सधि मे कार्य, फलागम का योग होकर नाटक पूर्णता को प्राप्त होता है।[1]

अर्थोपक्षेपक

कथावस्तु मे दो प्रकार की सामग्री—एक वह जो प्रधान रूप से मच पर अभिनीत होती है और दूसरी वह जिसे पात्रो द्वारा सूचित कर देते हैं—होती है। कथानक की पूर्ति हेतु पात्रो द्वारा दी गई सूचना को सूच्य कहते है। भारतीय नाट्य-शास्त्र के अनुसार मच पर कुछ दृश्य वर्जित माने जाते हैं—जैसे मृत्यु, स्नान, भोजन आदि। इन दृश्यो को, रस मे अवरोध पैदा करने के कारण, अवरोधक भी कहा जाता है।

सूच्य वस्तु की सूचना देने वाले साधनो को अर्थोपक्षेपक कहा जाता है। (१) विष्कम्भक, (२) चूलिका, (३) अकास्य, (४) अकावतार, और (५) प्रवेशक। ये पाँच प्रकार के अर्थोपक्षेपक होते है।

१. विष्कम्भक

दो अप्रधान पात्रो का कथोपकथन, जिसमे पहिले हो जाने वाली या बाद मे होने वाली घटना की सूचना दी जाती है। यह अक के पहिले जब कि नाटक प्रारम्भ होता है अथवा दो अको के बीच मे आता है। आचार्यो ने इसके दो भेद माने हैं। एक शुद्ध, दूसरा सकर। ये भेद भाषा की दृष्टि से किये गये हैं। जो पात्र उत्तम श्रेणी की सस्कृत बोलते है वे शुद्ध और सस्कृत के साथ प्राकृत बोलने वाले सकर कहलाते हैं।

भारतेन्दु ने विष्कम्भक के विषय मे लिखा है कि 'नाटक मे विष्कम्भक [illegible]

और आडम्बरात्मक हैं, उनके सन्निवेशित होने से सामाजिक लोगो को विरक्ति और रुचि हो जाती है। नाटक-प्रणेतृगण इन घटनाओ को पात्र-विशेष के मुख से क्षेप मे विनिर्गत कराते हैं।[1]

चूलिका

नैपथ्य मे जो सूचना दी जाती है उसे चूलिका कहते है।

अंकास्य

अक की समाप्ति पर बाहर जाने वाले पात्र अगले अक विषयक जो सूचना देते है उसे अकास्य कहते है।

अकावतार

बिना पात्रो को बदले हुए पहिले अक की ही कथा आगे चलाई जाती है वहाँ अकावतार होता है। पात्र बाहर आकर फिर लौट आते है।

प्रवेशक

प्रवेशक दो अको के बीच मे ही आता है। इसके पात्र प्राकृत बोलते है और निम्न श्रेणी के होते है।

प्रस्तावना

कथानक अथवा नाटक की मुख्य कथा-वस्तु के पहिले भरत मुनि ने 'पूर्वरंग' के नाम से कुछ कार्यों का उल्लेख किया है, यथा सूत्रधार का रगमच पर फूल छिडकना, स्तुति-पाठ करना आदि। स्तुति-पाठ को नान्दी कहते हैं। नान्दी-पाठ के पश्चात् नाटक प्रारम्भ की सूचना दी जाती है। सूत्रधार श्लोक पढता है था इस प्रकार नाटक के [illegible] की सूचना [illegible] सामाजिको को दी जाती है। भरत मुनि [illegible] और [illegible] बाद [illegible] का प्रवेश होता है। [illegible] के [illegible] सूचना देता है। [illegible] आरम्भ होता है। [illegible] को आमुख [illegible] है। आमुख [illegible] प्रस्तावना और [illegible] माने गये है। रूपक-[illegible] में इस [illegible] किया [illegible] है। [illegible] रस के नाटको मे प्रस्तावना [illegible] रस के [illegible] और [illegible] हास्य, वीभत्स और रौद्र रस के नाटको मे प्रयुक्त [illegible]। भरत मुनि ने प्रस्तावना के पाँच भेद गिनाए है— उद्घात्यक, [illegible] प्रयोगातिशय [illegible] और अवगलित।

---

[1] भा० प्र० पृ० ३३३

भारतेन्दु ने अपने 'नाटक' नामक निबन्ध में भी प्रस्तावना का विशेष उल्लेख किया है।

संवाद या कथोपकथन

नाटक की कथावस्तु कथोपकथन या सवाद के रूप मे ही रहती है, वास्तव मे संवाद में ही कथावस्तु का स्वरूप खोजा जा सकता है। भारतीय आचार्यों ने कथावस्तु के विस्तार के अन्तर्गत उसके तीन भेद और किए है; ये भेद सामाजिको को वस्तु का आस्वाद कराने की दृष्टि से किये गये हैं। संवाद या कथोपकथन इसी प्रकार का एक माध्यम है जिसका पश्चिमी नाट्यशास्त्र मे विस्तार से उल्लेख हुआ है। भारतीय नाट्यशास्त्र में संवाद के तीन भेद प्राप्त हैं; श्राव्य, अश्राव्य और नियतश्राव्य।

श्राव्य या सर्वश्राव्य सबके सुनने के लिए, अश्राव्य स्वगत अथवा आत्मगत, नियतश्राव्य कुछ पात्रो को सुनने के लिए और कुछ को न सुनने के लिए कहा जाता है। आकाश भाषित भी कथोपकथन का एक प्रकार माना जा सकता है।

२. पात्र

नाटकों मे पात्रों अथवा चरित्रों की प्रधानता रहती है। नाटकों के सभी तत्त्व पात्र, अथवा नेता अथवा नायक के ही आश्रित रहते हैं।

भारतीय नाट्यशास्त्र मे नायक को उच्च, उदात्त गुणो से सम्पन्न माना गया है; उसके लिए विनयशील, त्यागी, कार्यकुशल आदि होना आवश्यक बतलाया गया है।[1] प्राचीन भारतीय नाटकों पर आक्षेप किया जाता है कि उसके पात्र या नायक आदि स्वयं विकसित और पूर्ण चरित्र होते हैं। चरित्र-वैचित्र्य के लिए हमारे यहाँ कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया गया। उसके स्थान पर सामाजिको मे रस अथवा आनन्द की उपलब्धि का महत्त्व अधिक है। लोक प्रतिष्ठित नायकों को रखने से सामाजिकों में उसके प्रति आकर्षण और भाव के उदात्तीकरण के कारण साधारणीकरण मे भी कोई कठिनाई नही होती। भारतीय नाट्यशास्त्र मे चार प्रकार के नायको का वर्णन मिलता है :—

१. धीरोदात्त

दशरूपक में धीरोदात्त नायक के लक्षण इस प्रकार दिये हैं :—

शोक-क्रोध आदि से अविचलित, जिसका अत:करण, अत्यंत गम्भीर,

---

१. दशरूपक, २, १, २

क्षमावान, आत्मश्लाघा न करने वाला, अहंकारशून्य और दृढव्रत अर्थात् अपनी अंगीकृत बात का निर्वाह करने वाला हो, धीरोदात्त नायक कहलाता है।[1]

२. धीर ललित

यह सुखान्वेषी, कलाविद् और निश्चिन्त होता है।[2]

३. धीर प्रशान्त

यह क्षत्रिय नही होता, सामान्य गुणो से युक्त ब्राह्मण या वैश्य होता है जिसमे अन्य गुणो के साथ शात स्वभाव होना आवश्यक है।

४. धीरोद्धत

यह मायावी, आत्मप्रशसापरायण तथा स्वभाव से प्रचण्ड, धोखेबाज और चपल होता है। यह अहकार और दर्प से भरा रहता है।[3]

श्री गुलाबराय का मत है कि शृंगार रस के सम्बन्ध में नायको के चार भेद और होते हैं। उपरोक्त नायको मे कोई अवान्तर भेद मानना ठीक नही प्रतीत होता है क्योकि धीरोदात्त या धीरप्रशान्त, शठ या धृष्ट नही हो सकता, ये स्वतत्र भेद हैं। पत्नियो के सम्बन्ध के आधार पर दक्षिण, शठादि नायको का विभाजन किया गया है। ये विभाग इस प्रकार हैं—

(१) अनुकूल (२) दक्षिण (३) शठ और (४) धृष्ट।[4]

प्रतिनायक

नायक के प्रतिद्वन्दी को प्रतिनायक कहते हैं। यह धीरोद्धत होता है। इसी प्रकार प्रासगिक कथावस्तु का नायक, जो नेता को सहायक होता है, पीठमर्द कहलाता है।

विदूषक

सस्कृत नाटको मे हास्य-तत्त्व को केंद्रस्थ करने वाले पात्र को विदूषक की सज्ञा दी गई है। पेटू ब्राह्मण के रूप मे विदूषकों की सृष्टि प्राय. की जाती

१. दशरूपक २, ४, ५
२. दशरूपक २, ३
३. दशरूपक २, ५, ६
४. काव्य के रूप, पृष्ठ ३८



रही है। वह नायक अथवा राजा का सलाहकार और सहायक भी होता था।[1]

नाटको मे पात्रो का चरित्र-चित्रण नहीं किया जा सकता। पात्र स्वय अपने अभिनय द्वारा अपने चरित्र का वैशिष्ट्य सामाजिको तक पहुँचाता है। इस कार्य मे एक पात्र दूसरे पात्र के चरित्र पर प्रकाश डालता है या स्वयं अपने चरित्र का उद्घाटन करता है। कार्य-कलाप के द्वारा भी चरित्र पर प्रकाश डाला जा सकता है। अपने चरित्र का सृष्टा रगमंच पर वह स्वय होता है।

२. रस

भारतीय नाट्यपरम्परा के अनुसार रस को प्रमुखता प्रदान की गई है। प्रत्येक नाटक मे कोई न कोई रस अगी रूप से रहता है और दूसरे रस भी अग रूप से आ सकते है। पाश्चात्य नाटकों में रस के स्थान पर उद्देश्य को महत्व दिया गया है। यह उद्देश्य व्यक्त या अव्यक्त दोनो ही रूपो मे हो सकता है तथा जीवन-मीमासा के रूप मे आना ही उसकी उपलब्धि है।

भारतीय आचार्यों ने नवरसो का विस्तृत वर्णन किया है—ये रस हैं :— शृगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, अद्भुत, बीभत्स, और शात। भरतमुनि एव परवर्ती आचार्यो ने रस की व्यापक परिभाषाएँ दी हैं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने रसों के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए लिखा है कि नाटक-रचना मे विरोधी रसो को बहुत बचाना चाहिए। जैसे शृगार के हास्य, वीर विरोधी नही किन्तु अतिकरुण, बीभत्स, रौद्र भयानक और शांत विरोधी हैं, तो जिस नाटक मे शृंगार रस प्रधान अगी भाव से हो उसमें ये न आना चाहिये।[2]

वृत्तियाँ

वृत्तियाँ-नाट्य शास्त्र की शैली रूप है जिनका सम्बन्ध नाटक की सम्पूर्ण गतिविधि से रहता है। वृत्तियो का सम्बन्ध पात्रो के चलने-फिरने के ढंग एवं

१. प्राचीन शास्त्रों के अनुसार कुसुम, बसंतादिक नामधारी, नाटा, मोटा, वामन, कुबड़ा, टेढ़े अंग का या और किसी विचित्र आकृति का, किंवा हकला, तोतला, भोजनप्रिय, मूर्ख, असंगत किन्तु हास्य रस के अविरुद्ध बात करने वाला विदूषक होना चाहिए और उसका परिच्छेद भी ऐसा हो जो हास्य का उद्दीपक हो। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भा० ग्र० पृष्ठ ७३९.

२. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भा० ग्रं० पृष्ठ ७४०

कार्यकलापों से होता है। ये सख्या मे चार मानी गई है :—कैशिकी, सात्वती, आरमटी, और भारती।

१. कैशिकी वृत्ति

भारतेन्दु ने इस वृत्ति का लक्षण इस प्रकार दिया है :—जो वृत्ति अति मनोहर, स्त्रीजनोचित भूषण से भूषित और रमणी बाहुल्य नृत्य-गीतादि परिपूर्ण और भोगादि विविध विलासयुक्त होती है उसका नाम कैशिकी वृत्ति है। यह वृत्ति शृंगार रस-प्रधान नाटकों की उपयोगिनी होती है।

२. सात्वती वृत्ति

इस वृत्ति का सम्बन्ध शौर्य, दान, दया, दाक्षिण्य से है। इसमे वीरोचित कार्य रहते हैं। यह आनन्दवर्द्धिनी और उत्साहवर्द्धिनी होती है। इसका सम्बन्ध वीर रस से है।

३. आरमटी वृत्ति

यह वृत्ति रौद्र रस के वर्णों से सम्बद्ध है। यह माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, सघर्ष, आघात, प्रतिघात और बन्धनादि से युक्त होती है।

४. भारती वृत्ति

इस वृत्ति का सम्बन्ध पुरुष नटों से है, इसमे स्त्रियाँ वर्जित होती हैं।

दशरूपककार ने कहा है :—

शृंगार में कैशिकी वृत्ति, वीर में सात्वती और आरमटी रौद्र तथा बीभत्स में प्रयुक्त होती है। भारती वृत्ति का प्रयोग सब रसों मे होता है।[१]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर प्राचीन भारतीय नाटकों को प्रभावित करने वाले तत्त्वों से हम परिचित हो जाते है। भारतेन्दु-युग तक नाटककारो को इन तत्त्वो ने प्रभावित किया है किन्तु इस सबंन्ध में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का मत दृष्टव्य है जिन्होने लिखा है कि "अब नाटकादि दृश्यकाव्य मे अस्वाभाविक सामग्री-परिपोषक काव्य सहृदय सभ्य-मंडली को नितात अरुचिकर है, इसलिये स्वाभाविकी रचना ही इस काल के सभ्यगण की हृदय-ग्राहिणी है, इससे अब अलौकिक विषय का आश्रय ले करके नाटकादि दृश्यकाव्य प्रणयन करना उचित नहीं है। अब नाटक मे कहीं आशीः प्रभृति-नाट्यालंकार, कही प्रकरी, कही विलोभन, कही सफेट, कही पचसंधि या ऐसे ही अन्य विषयों की कोई आवश्यकता नही रही।"[२]

---

१. दशरूपक २, ६२

२. भा० ग्र०, पृ० ७२२

प्रकट है कि कालक्रमानुसार नाटक अपने तत्त्वो को निर्माण करता तथ गतिवेग के साथ छोड़ता बहुत आगे चला आया है। उपर्युक्त सदर्भों में उसके आदि-रूप का विवेचन भारतेन्दुयुगीन नाटको को समझने मे हमारी सहायता करेगा।

नाटकों का आदिरूप

पाणिनि के मतानुसार नाटक की उत्पत्ति 'नट्' धातु से हुई।[१] 'नट्' धातु 'नृत्' धातु का प्राकृत रूप है। 'नट' और 'नृत्' धातु वैदिक काल मे प्रचलित थी और वहाँ पर दोनो के अर्थों मे वैषम्य था किन्तु वेदोत्तर काल में दोनो धातुएँ समानार्थक हो गई। कालान्तर मे 'नट्' धातु का अर्थ अधिक व्यापक बन गया और 'नृत्' के अर्थ के साथ-साथ अभिनय का अर्थ इससे सिमटता चला गया। डा० दशरथ ओझा ने अपने ग्रंथ 'नाट्य-समीक्षा' में इस पर विस्तार से चर्चा की है। उनका मत है कि 'नट' धातु का अर्थ गात्र विक्षेषण एव अभिनय दोनो ही था किन्तु कालान्तर में 'नृत्' धातु का प्रयोग गात्र विक्षेषण के अर्थ मे होने लगा और 'नट्' का प्रयोग अभिनय के अर्थ मे। दशरूपककार ने नृत, नृत्य और नाट्य का अन्तर स्पष्ट किया है। नृत ताल-लय के आश्रित होता है, नृत्य भावाश्रित होता है, किन्तु नाट्य रसाश्रित होता है। इस प्रकार गम्भीरता से विचार करने पर नृत और नृत्य नाट्य की ही दो प्रथम भूमिकाएँ प्रतीत होती है।[२]

भारतेन्दु तथा उनके समकालीन नाटककारों ने प्राचीन परम्परा के नाट्य रूपो के आधार पर भी नाटको की रचना की और कही-कहीं पश्चिमी शैली को अपनाने की चेष्टा भी की। यह प्रयास केवल भारतेन्दुयुगीन नाटकों में ही नही दिखाई पड़ता। नाटको के आदि रूप से लेकर भारतेन्दु तक तथा उनके परवर्ती नाटककारों की रचनाओ मे स्थान-विशेष, स्थिति-विशेष और काल-विशेष का प्रभाव परिलक्षित होता है। नाटक की सफलता का परीक्षण रगमंच पर होता है और रंगमच युग-विशेष की जन-रुचि और तत्कालीन आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था के आधार पर बनता और सम्हलता रहता है। नाटक के साहित्यगत और कलागत मूल्यो के साथ लोकरूपो का समावेश और लोकरूपों से साहित्य-विधा की सृष्टि का क्रम अन्योन्याश्रित है। नाटक के साहित्य-रूप का

---

१. पाणिनि ४, ३, १२१
२. नाट्य-समीक्षा, डा० दशरथ ओझा, पृ० ७

आदि स्वरूप विद्वानो ने लोक-नाटको या जन-नाटकों मे खोजा है।[१] फलत जनरुचि की परिवर्तनशीलता के कारण नाटक का स्वरूप बदलेगा तो उसके लक्षण भी बदलेंगे और इसीलिए नाटकों के आदि रूपों से लेकर परवर्ती काल में नाटको के अनेक लक्षण आचार्यों ने बतलाए हैं। केवल संस्कृत-नाटकों के लक्षणों में एक दीर्घ अवधि तक कोई परिवर्तन दृष्टिगत नहीं हुआ है। कारण स्पष्ट है। सस्कृत के साहित्यिक नाटकों का अभिनय एक समय में राज-प्रासादों तक सीमित रह गया था। जन-रुचि से दूर होने के कारण भरतमुनि से लेकर आचार्य विश्वनाथ तक एक से ही लक्षण प्राप्त होते हैं। साहित्यिक नाटको एव लोक-नाटकों का परस्पर आदान-प्रदान और लोकजीवन से उसके सान्निध्य का रोचक वृत्तान्त खोज की वस्तु है। वास्तव मे नृत्य-रूपको की धाराएँ स्वतंत्र रूप से विकसित होती हुई आचार्य विश्वनाथ के काल तक उपरूपकों का स्वरूप धारण करने में समर्थ हुई और ये नई मान्यताएँ आचार्यों का प्रमाण-पत्र पाकर शास्त्रीय आधार पर नाट्य-ग्रंथो में मान्य हो गई।

रूपक अथवा नाटक के भेद

भारतेन्दु ने 'रगस्थ खेल' को ही नाटक की अर्थग्राहिता मानने पर उसके तीन भेद स्वीकार किए हैं, काव्य मिश्र, शुद्ध कौतुक और भ्रष्ट। शुद्ध कौतुक यथा कठपुतली व खिलौने आदि से सभा इत्यादि का दिखलाना, गूँगे-बहिरे का नाटक, बाजीगरी व घोड़े के तमाशे मे सवाद, भूत-प्रेतादि की नकल और सभ्यता की अन्यान्य दिल्लगियो को कहेंगे। भ्रष्ट अर्थात् जिनमे अब नाटकत्व शेष नही रह गया है यथा भाँड, इन्द्रसभा, रास, यात्रा, लीला और झाँकी आदि। पारसियो के

---

१. (अ) नाट्य-कला का आरम्भ भी लोक-नाट्य तथा भारतीय नाटक का प्रारम्भ जन-नाटकों से हुआ—डा० भानुदेव शुक्ल, भारतेन्दुयुगीन हिन्दी-साहित्य नाटक, पृ० ५

(आ) कहा जाता है कि हिन्दी के साहित्यिक नाटक पर ली लाटक और स्वांग-नाटक का प्रभाव बहुत पड़ा है। ये दोनों शैलियाँ साहित्यिक नाटक पर प्रभाव डालती और स्वयं प्रभावित होती चली आ रही हैं। इनका भी अब प्रचुर साहित्य उपलब्ध होता है। अतएव हिन्दी नाटक की उत्पत्ति और विकास का विवरण रास और स्वांग आदि की परम्परा के अनुसंधान के बिना अपूर्ण ही माना जाएगा। डा० दशरथ ओझा, हिन्दी नाटक उद्भव और विकास, पृ०सं० ४९

नाटक, महाराष्ट्रों के खेल आदि यद्यपि काव्य मिश्र हैं तथापि काव्यहीन होने के कारण वे भी भ्रष्ट ही समझे जाते हैं।[1]

कुछ विद्वानो के मतानुसार सस्कृत मे रूपकों का विकास दो प्रकार से हुआ। जिसमे मानवता का उदात्त रूप सम्मुख आया वह नाटक हुआ और जिसमे समाज का वास्तविक रूप झलकने लगा वह प्रकरण कहलाया। इस मत का सम्बन्ध सस्कृत आचार्यों द्वारा दिये गये रूपक के प्रकार से उतना नही है जितना मानवतावादी दृष्टि से है। नाट्य-कला अपने मूल मे एक मिश्रित सार्वजनीन सामाजिक मनोरंजन की पृष्ठभूमि पर आधारित है, इस पृष्ठभूमि के आधार पर ही रूपको के दस भेद सस्कृत नाट्य-साहित्य मे प्राप्त हैं जिसका उल्लेख भारतेन्दु ने भी किया है। रूपक के दस भेद निम्न प्रकार है :—

(१) नाटक (२) प्रकरण (३) भाण (४) व्यायोग (५) समवकार (६) डिम (७) ईहामृग (८) अंक (९) वीथि (१०) प्रहसन।

भारतेन्दुयुगीन नाटकों में प्रायः रूपक के भेदो मे से कुछेक भेद प्राप्त होते हैं। इसलिए भारतेन्दु-पूर्व नाटको का उल्लेख करने के पूर्व रूपक तथा उपरूपको की संक्षिप्त परिभाषाएँ दी जाना समुचित होगा। भारतेन्दु ने नाटक की परिभाषा निम्नलिखित दी है :—

नाटक—काव्य के सर्वगुण-संयुक्त खेल को नाटक कहते हैं। इसका नायक कोई महाराज (जैसा दुष्यंत) या ईश्वरांश (जैसे श्रीराम) या प्रत्यक्ष परमेश्वर (जैसे श्रीकृष्ण) होना चाहिए। रस, शृंगार व वीर। अंक पाँच के ऊपर और दस के भीतर। आख्यान मनोहर और अत्यंत उज्ज्वल होना चाहिए। उदाहरण 'शाकुंतल', 'वेणी-संहार' आदि।

प्रकरण

भरतमुनि के अनुसार प्रकरण भी नाटक की भाँति रसाश्रित और पच संधि समन्वित होता है। इसमें विप्र, वणिक्, सचिव, पुरोहित, अमात्य, सार्थवाह के चरित वर्णित होते हैं। इसका नायक न तो उदात्त पुरुष होता है और न दिव्य चरित्र, इसमें राज-सम्भोग का वर्णन नही होता, इसमे दास विट्, श्रेष्ठी, वेशस्त्री (वैश्या), हीन कुलवधू का चरित होता है।[2]

प्रकरण के भेदोपभेद के सम्बन्ध में संस्कृत आचार्यों में मत-भिन्नता है।

---

१. भा० ग्रन्थावली, पृष्ठ ७१६

२. भरत ३१८ म १८ १०३

भरतमुनि और धनंजय उसके तीन भेद मानते हैं तो अभिनवगुप्त ने इक्कीस प्रकार के प्रकरण माने है। भारतेन्दु ने प्रकरण का लक्षण इस प्रकार दिया है—

"यह और बातो मे नाटक के तुल्य होना चाहिए किन्तु इसका उपाख्यान लौकिक हो। नायक कोई मंत्री, धनी व ब्राह्मण हो। इसकी नायिका मंत्रिकन्या, किसी के घर मे आश्रित भाव से रहने वाली व वेश्या हो। प्रथम अवस्था मे शुद्ध और द्वितीय अवस्था मे प्रकरण की संकट संज्ञा होती है। उदाहरण 'मल्लिका-मारुत,' 'मालती-माधव' और 'मृच्छकटिक'।"[1]

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि प्रकरण का कथानक लौकिक और कवि-कल्पित होता है।

भाण

दशरूपककार ने भाण के लक्षण इस प्रकार दिये है:—

भाण में केवल एक ही पात्र होता है और वह भाषित के सहारे 'किब्रवीषि' कहता हुआ सम्बोधन, उक्ति-प्रत्युक्ति आदि के द्वारा वीर रस सूचक शौर्य एवं शृंगार रस द्योतक घटनाओं का प्रदर्शन करता है। इसमे केवल एक ही अंक होता है। इसमें भारती वृत्ति, अंगो के सहित मुख या निर्वहण संधियों मे एक संधि, कल्पित वस्तु और लास्य के दसो अंग होते है।[2]

भाण मे प्राय धूर्त चरित्र की प्रधानता होती है, सम्भवत: इसीलिए इसका समादर विद्वानो के बीच नही पाया जाता।

शारदातनय ने भाण पर विचार किया है। उन्होने भाण के दस भेद किये हैं। भारतेन्दु ने भाण का लक्षण इस प्रकार बताया है —

भाण मे एक ही अंक होता है। इसमें नट ऊपर देख-देख कर, जैसे किसी से बात करे, आप ही आप सारी कहानी कह जाता है। बीच मे हँसना, गाना, क्रोध करना, गिरना इत्यादि आप ही दिखलाता है। उसका उद्देश्य हँसी, भाषा उत्तम और बीच-बीच मे संगीत भी होता है। उदाहरण—'विषस्य विषऔषधम्'[3]

व्यायोग

व्यायोग का अर्थ है व्यक्तियो से युक्त। भरतमुनि ने इस के लक्षण करते हुए लिखा है कि इसमें प्रख्यात नायक होता है और इतिवृत्त भी प्रख्यात होता है;

१. भा० ग्रं०, पृ० ७१६-१७

२. दशरूपक ३, ४६-५१

३. भा० ग्रं०, पृ० ७१७

स्त्री-पात्रो की संख्या अल्प होना चाहिए।[१] घटना का विस्तार नही होना चाहिए। एक दिन की घटना, एक अक और नायक देवता के स्थान राजर्षि तथा रोषपूर्ण युद्ध पाया जाता है। अभिनवगुप्त के मतानुसार व्यायोग का नायक देवता, नृपति अथवा ऋषि नही होना चाहिए। विश्वनाथ अभिनवगुप्त के मत मे सहमत नही हैं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने व्यायोग के लक्षण निम्न प्रकार दिये हैं :—

युद्ध का निदर्शन, स्त्री-पात्र-रहित और एक ही दिन की कथा का होता है। नायक कोई अवतार व वीर होना चाहिए। ग्रथ नाटक की अपेक्षा छोटा होता है। उदाहरण 'धनजय-विजय'।[२]

श्री गुलाबराय ने इसमे वीर रस की प्रधानता और मुख, प्रतिमुख और निर्वहण संधियो का होना स्वीकार किया है।[३]

समवकार

दशरूपक मे कई नायको के प्रयोजन समवकीर्ण अथवा संगृहीत किए जाते हैं, अतः इसका नाम समवकार रखा गया है। शारदातनय ने बारह नायको का पृथक्-पृथक् प्रयोजन माना है।[४] इसकी कथा देवता तथा असुरो से सम्बन्ध रखने वाली इतिहास-पुराण-प्रसिद्ध होनी चाहिए। इसमे विमर्श के अतिरिक्त चारों संधियाँ एव तीन अक होते हैं।

भारतेन्दु ने व्यायोग का लक्षण इस प्रकार दिया है :—

यह तीन अक में हो। इसमे बारह तक नायक हो सकते हैं। कथा दैवी हो। छन्द वैदिक हो। युद्ध, आश्चर्य, मात्रा इत्यादि इसमे दिखलाई जाती है। उदाहरण भाषा मे नही है।

डिम

डिम रूपक-प्रकार को डिम्ब और विद्रोह के नामो से भी सम्बोधित किया जाता है। भरतमुनि के मतानुसार इसमें देवता, नाग, राक्षस, यक्ष, पिशाच आदि सोलह पात्रो के परस्पर वैमनस्य एव सघर्ष के कारण नाना प्रकार के मायावी तथा ऐन्द्रिजालिक क्रिया-कलापों का प्रदर्शन होता है।

---

१. काव्यानुशासन, पृ० ३२३
२. भा० ग्र०, पृ० ७१७
३. काव्य के रूप, पृ० ५१
४. नाट्य समीक्षा डा० दशरथ ओझा पृ० ९४

हिन्दी में इस शैली का अभाव है। भारतेन्दु ने इसके लक्षण इस प्रकार किए है :—इसमें उपद्रव-दर्शन विशेष होता है। अंक चार, नायक देवता या दैत्य या अवतार।[१]

श्री गुलाबराय के मतानुसार इसके चार अंक और सोलह नायक होते है। इसमें रौद्र रस का प्राधान्य रहता है। इसके नायक देवता, दैत्य व अवतार होते है। इसमें जादू तथा मायाजाल रहता है। इसमे शृंगार और हास्य वर्जित है और कैशिकी वृत्ति को स्थान नही मिलता।

ईहामृग

दशरूपककार ने ईहामृग की विशेषताओं का इस प्रकार उल्लेख किया है—ईहामृग का इतिवृत्त मिश्रित (कुछ ऐतिहासिक और कुछ कल्पित) होता है। इसमें चार अंक और मुख, प्रतिमुख एवं विर्वहण नामक तीन संधियाँ होती हैं। मनुष्य अथवा दिव्य पुरुष मे कोई नायक अथवा प्रतिनायक हो सकता है, किन्तु दोनों ही इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्ति होते है। प्रतिनायक धीरोद्धत्त होता है और विपरीत ज्ञान के कारण अनुचित कार्य किया करता है। इस रूपक मे दिव्य स्त्री के बलात् अपहरण की इच्छा रखने वाले नायक या प्रतिनायक की शृंगारमयी चेष्टाएं भी कहीं-कहीं दिखाई पड़ती है। प्रबल उत्तेजना के कारण युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो जाने पर भी संघर्ष का टल जाना और किसी महात्मा के वध की पूर्ण तैयारी हो जाने पर भी उसे बचा लेना इस रूपक मे प्रायः दिखाया जाता है।[२] विश्वनाथ और अभिनवगुप्त ने अंक एक और नायक संख्या बारह स्वीकार की है।

भारतेन्दु ने ईहामृग के लक्षण इस प्रकार बताए है :—

चार अंक, नायक ईश्वर का अवतार, नायिका देवी, प्रेत इत्यादि वर्णित होता है। (उदाहरण नही)[३]

श्री गुलाबराय ने ईहामृग के लक्षण इस प्रकार बताए हैं :—

इसमें एक धीरोदात्त नायक और एक प्रतिनायक होता है। नायक किसी कुमारी से स्पृहा करता है। वह मृग की भाँति दुष्प्राप्य हो जाती है। प्रतिनायक उसे नायक से छुड़ाना चाहता है। उसके लिए युद्ध भी होता है। मिलन तो नही होता किन्तु किसी का मरण भी नही होता। इसमे चार अंक होते हैं।[४]

---

१. भा० ग्रन्थावली, ७१७
२. दशरूपक : तृतीय प्रकाश—७२, ७५
३. भा० ग्रं०, पृ० ७१८
४. काव्य के रूप—पृ० ५२

अंक

नाटकों मे अंक होते हैं किन्तु रूपक का यह प्रकार नाटकों के अंक से भिन्न है। कीथ ने सम्भवत. अंक को नाटक के अन्तर्गत नाटक माना है किन्तु यह मत मान्य नही किया गया। भरतमुनि के मतानुसार अंक का इतिवृत्त प्रख्यात अथवा कभी-कभी अप्रख्यात होता है। पात्र दिव्य पुरुष नही होते है। इसमे करुण रस प्रधान होता है और स्त्रियो का विलाप युद्धोपरात पाया जाता है। विलाप करने वालो की व्याकुलता-भरी चेष्टाएँ नाना प्रकार से प्रदर्शित की जाती हैं। इस प्रदर्शन मे सात्वती, आरभटी और कैशिकी वृत्तियाँ नही होती। दिव्यनायक युक्त दृश्य-काव्य, जिसमे युद्ध, बन्ध और वध पाया जाय, भारत मे ही रचने योग्य है।[१]

धनंजय एवं शारदातनय ने भी 'अंक' की विस्तार से चर्चा की है।

भारतेन्दु ने अंक के लक्षण इस प्रकार किये है —

एक ही अंक मे खेल दिखलाना। नायक गुणी और आख्यान प्रसिद्ध हो। (उदाहरण नहीं)[२]

श्री गुलाबराय के मतानुसार अंक मे एक ही अंक होता है। यह करुण रस प्रधान होता है। इसका नायक गुणी और आख्यान प्रसिद्ध होता है किन्तु वह प्राकृत मनुष्य होता है। इसमे मुख और निर्वहण संधियाँ भी होती है।[३]

वीथी

डा० दशरथ ओझा ने भरतमुनि के मत का उल्लेख करते हुए लिखा है कि वीथी का अभिनय दो अथवा एक पात्र के द्वारा होता है। वे पात्र उत्तम, मध्यम अथवा अधम कोटि के होते है। इसमे एक अंक होता है और कोई भी रस आ सकता है।[४] वीथी के सम्बंध मे धनंजय और विश्वनाथ ने शृंगार की अधिकता के कारण इसमे कैशिकी वृत्ति का होना लिखा है। अन्य कुछ आचार्य[५] इसमें तीन पात्रो का होना मानते हैं।

भारतेन्दु ने वीथी के लक्षण बतलाते हुए लिखा है—"भाण की भाँति एक अंक मे। इसमें दो पुरुष आकर बात कर सकते है और अपनी वार्त्ता मे विविध

१. नाट्य-शास्त्र, अध्याय १८, श्लोक १५०-१५२
२. भा० ग्र०, ७१८
३. काव्य के रूप, पृ० ५२
४ नाट्य समीक्षा-पृ० २२
५. शारदातनय, कोहल

भाव द्वारा किसी का प्रेम वर्णन करेंगे किन्तु हँसाते जायेंगे।" (उदाहरण नही)

प्रहसन

भरतमुनि ने प्रहसन की परिभाषा इस प्रकार दी है :—जब भागवत, तापस, भिक्षु, श्रोत्रिय आदि किसी (पाखण्डी) नायक और नीच व्यक्तियों द्वारा परिहास किया जाता है तो शुद्ध प्रहसन होता है। इसमें भाषा और कथानक को आद्योपान्त समान रूप से पाखण्डी व्यक्तियों के यथार्थ जीवन के उपयुक्त नियोजित किया जाता है। यह परिहास आभूषणों से युक्त होता है। दूसरा भेद संकीर्ण प्रहसन है। संकीर्ण प्रहसन उसे कहा जाता है जिसमें वेश्या, चेट, नपुंसक, विट, धूर्त, बन्धकी (दुराचारिणी) के अशिष्ट वेश, भाषा और चेष्टाओं का अभिनय प्रदर्शित किया जाता है। इसमें सामान्य जनता में प्रचलित किसी दुराचरण एवं दम्भ-पाखण्ड का प्रदर्शन अनिवार्य है।[१]

धनंजय ने भरतमुनि के आधार पर ही प्रहसन के लक्षणों का उल्लेख किया है किन्तु उन्होंने उसके दो और भेद वैकृत और संकर नाम से किए हैं। शिंगभूपाल के मतानुसार इसमें दो अंक भी हो सकते हैं।[२]

भारतेन्दु ने प्रहसन के लक्षण इस प्रकार किये हैं :—

"हास्य रस का मुख्य खेल। नायक, राजा व धनी व ब्राह्मण व धूर्त कोई हो। इसमें अनेक पात्रों का समावेश होता है। यद्यपि प्राचीन रीति से इसमें एक ही अंक होना चाहिए किन्तु अब अनेक दृश्य किये बिना नहीं लिखे जाते।" उदाहरण—'हास्यार्णव', 'वैदिकी हिंसा,' 'अंधेर नगरी'।

श्री गुलाबराय प्रहसन में हास्य रस को प्रधान रूप से मानते हैं। इसमें एक ही अंक होता है तथा मुख और निर्वहण संधियाँ होती हैं।

रूपक के उपर्युक्त दस भेदों के संक्षिप्त परिचय के साथ भारतीय नाट्य समीक्षाओं में उल्लिखित उपरूपकों पर भी विचार करना समीचीन होगा। वास्तव में उपरूपकों का स्पष्ट उल्लेख प्रारंभिक नाट्याचार्यों द्वारा नहीं किया गया है। धनंजय के नाट्य-ग्रंथ का नाम दशरूपक है। स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में उपरूपकों का विशेष महत्व न होगा। जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया, नाट्य पर आधारित दृश्य काव्यरूपक है, उसी प्रकार नृत्य पर आधारित दृश्य-काव्य उपरूपक है। सबसे पहिले अग्नि पुराण में ग्यारह उपरूपकों के नाम प्राप्त होते हैं किन्तु वहाँ पर भी उन्हें उपरूपक की संज्ञा नहीं दी गई और न ही उनके उदाहरण ही दिये गये हैं।

---

१. भा० ग्रं०, पृ० सं० ७१८

२. नाट्य-शास्त्र, १८ : १५४-१५८

अंक

नाटकों मे अंक होते है किन्तु रूपक का यह प्रकार नाटकों के अंक मे भिन्न है। कीथ ने सम्भवतः अंक को नाटक के अन्तर्गत नाटक माना है किन्तु यह मत मान्य नही किया गया। भरतमुनि के मतानुसार अंक का इतिवृत्त प्रख्यात अथवा कभी-कभी अप्रख्यात होता है। पात्र दिव्य पुरुष नही होते है। इसमे करुण रस प्रधान होता है और स्त्रियो का विलाप युद्धोपरात पाया जाता है। विलाप करने वालो की व्याकुलता-भरी चेष्टाएँ नाना प्रकार से प्रदर्शित की जाती हैं। इस प्रदर्शन मे सात्वती, आरभटी और कैशिकी वृत्तियाँ नही होती। दिव्यनायक युक्त दृश्य-काव्य, जिसमे युद्ध, बन्ध और वध पाया जाय, भारत में ही रचने योग्य है।[1]

धनंजय एवं शारदातनय ने भी 'अंक' की विस्तार से चर्चा की है।

भारतेन्दु ने अंक के लक्षण इस प्रकार किये है :—

एक ही अंक में खेल दिखलाना। नायक गुणी और आख्यान प्रसिद्ध हो। (उदाहरण नहीं)[2]

श्री गुलाबराय के मतानुसार अंक मे एक ही अंक होता है। यह करुण रस प्रधान होता है। इसका नायक गुणी और आख्यान प्रसिद्ध होता है किन्तु वह प्राकृत मनुष्य होता है। इसमे मुख और निर्वहण संधियाँ भी होती हैं।[3]

वीथी

डा० दशरथ ओझा ने भरतमुनि के मत का उल्लेख करते हुए लिखा है कि वीथी का अभिनय दो अथवा एक पात्र के द्वारा होता है। वे पात्र उत्तम, मध्यम अथवा अधम कोटि के होते है। इसमे एक अंक होता है और कोई भी रस आ सकता है।[4] वीथी के सम्बंध मे धनंजय और विश्वनाथ ने शृंगार की अधिकता के कारण इसमे कैशिकी वृत्ति का होना लिखा है। अन्य कुछ आचार्य[5] इसमे तीन पात्रो का होना मानते हैं।

भारतेन्दु ने वीथी के लक्षण बतलाते हुए लिखा है—"भाण की भाँति एक अंक मे। इसमे दो पुरुष आकर बात कर सकते हैं और अपनी वार्त्ता में विविध

१. नाट्य-शास्त्र, अध्याय १८, श्लोक १५०-१५२
२. भा० ग्र०, ७१८
३. काव्य के रूप, पृ० ५२
४. नाट्य समीक्षा—पृ० २२
५. सागर नन्दी, कोहल

भाव द्वारा किसी का प्रेम वर्णन करेंगे किन्तु हँसाते जायेंगे।" (उदाहरण नहीं)

प्रहसन

भरतमुनि ने प्रहसन की परिभाषा इस प्रकार दी है :—जब भागवत, तापस, भिक्षु, श्रोत्रिय आदि किसी (पाखण्डी) नायक और नीच व्यक्तियों द्वारा परिहास किया जाता है तो शुद्ध प्रहसन होता है। इसमें भाषा और कथानक को आद्योपान्त समान रूप से पाखण्डी व्यक्तियों के यथार्थ जीवन के उपयुक्त नियोजित किया जाता है। यह परिहास आभूषणों से युक्त होता है। दूसरा भेद संकीर्ण प्रहसन है। संकीर्ण प्रहसन उसे कहा जाता है जिसमे वेश्या, चेट, नपुंसक, विट, धूर्त, बन्धकी (दुराचारिणी) के अशिष्ट वेश, भाषा और चेष्टाओ का अभिनय प्रदर्शित किया जाता है। इसमे सामान्य जनता मे प्रचलित किसी दुराचरण एव दम्भ-पाखण्ड का प्रदर्शन अनिवार्य है।[१]

धनंजय ने भरतमुनि के आधार पर ही प्रहसन के लक्षणों का उल्लेख किया है किन्तु उन्होंने उसके दो और भेद वैकृत और संकर नाम से किए हैं। शिंगभूपाल के मतानुसार इसमे दो अंक भी हो सकते हैं।[२]

भारतेन्दु ने प्रहसन के लक्षण इस प्रकार किये हैं :—

"हास्य रस का मुख्य खेल। नायक, राजा व धनी व ब्राह्मण व धूर्त कोई हो। इसमे अनेक पात्रों का समावेश होता है। यद्यपि प्राचीन रीति से इसमे एक ही अक होना चाहिए किन्तु अब अनेक दृश्य किये बिना नहीं लिखे जाते।" उदाहरण—'हास्यार्णव', 'वैदिकी हिंसा,' 'अंधेर नगरी'।

श्री गुलाबराय प्रहसन में हास्य रस को प्रधान रूप से मानते हैं। इसमे एक ही अंक होता है तथा मुख और निर्वहण संधियाँ होती हैं।

रूपक के उपर्युक्त दस भेदो के संक्षिप्त परिचय के साथ भारतीय नाट्य समीक्षाओं में उल्लिखित उपरूपकों पर भी विचार करना समीचीन होगा। वास्तव मे उपरूपकों का स्पष्ट उल्लेख प्रारंभिक नाट्याचार्यों द्वारा नहीं किया गया है। धनंजय के नाट्य-ग्रंथ का नाम दशरूपक है। स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में उपरूपकों का विशेष महत्व न होगा। जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया, नाट्य पर आधारित दृश्य काव्यरूपक है, उसी प्रकार नृत्य पर आधारित दृश्य-काव्य उपरूपक है। सबसे पहिले अग्नि पुराण में ग्यारह उपरूपकों के नाम प्राप्त होते हैं किन्तु वहाँ पर भी उन्हे उपरूपक की संज्ञा नही दी गई और न ही उनके उदाहरण ही दिये गये हैं।

---

१ भा० प्रं०, पृ० सं० ७१८

२. १८ : १५४-१५८

"भाव प्रकाश" में शारदातनय ने बीस उपरूपकों[1] की व्याख्या की है। अन्य आचार्यों द्वारा उल्लिखित उपरूपको को यदि इसमे मिला दिया जावे तो उपरूपकों की संख्या छब्बीस हो जाती है किन्तु भारतेन्दु युग के पूर्व ही अठारह उपरूपक सर्वमान्य बन गये । आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्य दर्पण' मे अठारह उपरूपको के नाम और लक्षण दिये हैं किन्तु उन्होंने भी उपरूपक की परिभाषा नही दी है।

भारतेन्दु ने उपरूपकों की चर्चा करते हुए लिखा है कि भरतमुनि ने उपरूपकों के भेद नही लिखे है। दस प्रकार के रूपक लिखकर नाटक के दो भेद और माने हैं, नाटिका और त्रोटक। भारतेन्दुयुगीन नाटको मे कतिपय नाटक इन उपरूपको के अतर्गत आते हैं, इसलिए यहाँ पर कुछ मान्य उपरूपको का संक्षिप्त परिचय ही दिया जाना अभीष्ट होगा। भारतेन्दु ने उपरूपक के अठारह भेदो का उल्लेख इस प्रकार किया है :—

उपरूपक के अठारह भेद हैं : यथा, नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्य रासक, प्रस्थान, उल्लोप्यक, काव्य, प्रेंखण, रासक सलापक, श्रीगदित (श्रीरासिका) शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरिणका, हल्लीश और भाणिका।

नाटिका

डा० दशरथ ओझा का मत है कि नाटिका उपरूपक सम्भवत. भरतमुनि वर्णित नटी का विकसित रूप है। नाटक व प्रकरण के योग से नाटिका का उद्भव होता है। नाट्य-शास्त्र में इसके सम्बन्ध में निम्नलिखित उल्लेख हुआ है :

इसकी वस्तु कल्पित और नायक राजा हो। इसमे स्त्री-पात्रो की बहुलता, चार अंक, ललित अभिनय, सुगठित अंग, विविध गीत, नृत्य, वाद्य हों और रति-सम्भोग-वर्णन की विशेषता हो, राजो-पचार युक्त व्यवहार मे क्रोध एव उसकी प्रशाति तथा दम्भमय कृत्य हों, राजा नायक, उसकी रानी, नायक, दूती, एव परिजन जिसके पात्र हो।[2]

दशरूपककार भी नाटिका के इतिवृत्त को प्रकरण और नाटक के अनुसार मानते हैं। अंक के विषय मे उनका मत है : इसमे एक, दो, तीन अथवा चार अक हो

---

१. भावप्रकाश में उल्लिखित बीस उपरूपकों के नाम निम्न प्रकार से है :— तोटक, नाटिका, गोष्ठी, संलाप, शिल्पक, डोम्बी, श्रीगदित, भाणी, प्रस्थान, काव्य, प्रेक्षणक, सट्टक, नाट्य रासक, लासक (रासक), उल्लोप्यक, हल्लीश, दुर्मल्लिका, कल्पवल्ली, पारिजातक।

२ १८, १०१ १११

सकते है। देवी (बड़ी रानी) मानिनी होना चाहिए और नायिका मुग्धा, दिव्या और सुन्दरी हो। नायिका राजा की पार्श्ववर्तिनी हो, किन्तु वह देवी के क्रोध-भय से सशक रहे।[१]

नाट्य-दर्पण के अनुसार दो नायिकाएँ-देवी और कन्या मानी गई हैं, दोनो प्रसिद्ध या अप्रसिद्ध हो सकती हैं।

साहित्यदर्पण मे आचार्य विश्वनाथ ने पूर्व आचार्यो के मतो पर विचार करते हुए इस प्रकार लक्षण दिये है :—

नाटिका की कथा कवि-कल्पित होती है। इसमें चार अंक होते हैं। अधिकाश पात्र स्त्रियाँ होती है। नायक प्रसिद्ध एवं धीरललित राजा होता है। रनिवास से सम्बध रखने वाली या राजकुलोत्पन्न कोई गायन-प्रवीणा, अनुरागवती कन्या नायिका होती है। महारानी के भय से नायक राजा अपने प्रेम को सशक होकर प्रकट करता है। महारानी राज-वंश की प्रगल्भा नायिका होती है। वह पग-पग पर मान करती है। नायक और नवीन नायिका का समागम उसी के अधीन रहता है। इसमे शृ गार रस की प्रधानता होती है। विमर्श सधि बहुत कम होती है, शेष चारो सधियाँ होती हैं।[२]

भारतेन्दु ने नाटिका के लक्षण इस प्रकार दिये हैं :—

नाटिका मे चार अक होते है और स्त्री-पात्र अधिक होते हैं तथा नाटिका की नायिका कनिष्ठा होती है अर्थात् नाटिका के नायक की पूर्व प्रणयिनी के वश मे रहती है। उदाहरण 'चन्द्रावली', 'रत्नावली' इत्यादि।[३]

त्रोटक

त्रोटक मे सात, आठ, नौ या पाँच अंक होते हैं और प्रायः प्रति अक मे विदूषक होता है। नायक दिव्य मनुष्य होता है। उदाहरण 'विक्रमोर्वशीय'।

गोष्ठी

भारतेन्दु ने गोष्ठी का लक्षण इस प्रकार दिया है :—

नौ या दस साधारण मनुष्य और पाँच-छः स्त्री-पात्र जिसमे हो और कैशकी वृत्ति तथा एक ही अंक हो (उदाहरण नहीं)।

सट्टक

जो सब प्राकृत मे हो और प्रवेशक, विष्कंभक जिसमे न हो और शेष सब

---

१. दशरूपक ३, ४६, ५२
२. दृष्टव्य नाट्य-समीक्षा-डा० दशरथ ओझा, पृष्ठ १२, १३
३. भा० ग्रं०, पृ० ७१८

नाटिका की भाँति हो' वह सट्टक है। उदाहरण 'कर्पूर-मंजरी'।

नाट्य रासक

भारतेन्दु ने नाट्य रासक का लक्षण इस प्रकार दिया है—इसमें एक अंक, नायक उदात्त, नायिका वासकसज्जा, पीठमर्द उपनायक और अनेक प्रकार के गान-नृत्य होते हैं।

श्री गुलाबराय का विचार है कि हिन्दी नाटकों में इन भेदों का कोई उपयोग नहीं होता। हिन्दी के आधुनिक नाटकों का पश्चिमी नाट्यशैली से सम्पर्क भारतेन्दु-युग मे ही हुआ। फलस्वरूप यूरोपीय नाट्यशैली के नाटकों और विशेषतया अंग्रेजी के नाटकों के अभिनय के आधार पर भी नाटकों मे भेद किये जाने लगे। स्वयं भारतेन्दु ने अपने युग के सम्बंध में लिखा है कि "आजकल यूरोप के नाटकों की छाया पर जो नाटक लिखे जाते हैं और बंग-देश में जिस चाल के बहुत से नाटक बन भी चुके हैं वे सब नवीन भेद में परिगणित हैं। प्राचीन की अपेक्षा नवीन की परम मुख्यता बारबार दृश्यो के बदलने मे है और इसी हेतु एक-एक अंक मे अनेक-अनेक गर्भांकों की कल्पना की जाती है, क्योंकि इस समय में नाटक के खेलों के साथ विविध दृश्यो का दिखलाना भी आवश्यक समझा गया है।"[1]

नवीन नाटकों को भारतेन्दु ने दो भागों मे बाँटा है। (१) नाटक, (२) गीति-रूपक। जिसमे कथा-भाग विशेष हो और गीति-न्यून हो वह नाटक और जिसमे गीति-विशेष हो वह गीति-रूपक।

कथाओ के स्वभाव के अनुसार भी नाटकों के अनेक प्रकार हो सकते हैं, किन्तु मुख्य भेद तीन हैं :—

१. संयोगांत अर्थात् प्राचीन नाटकों की भाँति जिसकी कथा संयोग पर समाप्त हो।
२. वियोगांत जिसकी कथा अंत में नायिका व नायक के मरण व किसी आपद् घटना पर समाप्त हो (उदाहरण 'रणधीर प्रेम-मोहिनी)
३. मिश्र अर्थात् जिसके अंत मे कुछ लोगों का तो प्राण-वियोग हो और कुछ सुख पावें।

पाश्चात्य देशो के नाटकों में कुछ न कुछ उद्देश्य व्यक्त या अव्यक्त रूप से रहता है। वह किसी प्रकार की जीवन-मीमांसा या विचार-सामग्री के रूप में आता है। इस उद्देश्य का सम्बन्ध आन्तरिक और वाह्य संघर्षों से होता है।

---

१. भा० ग्रं०, पृष्ठ ७२०

पाश्चात्य नाट्य-सिद्धान्त

पाश्चात्य समीक्षा मे नाटक और महा-काव्य की मूल स्थितियो पर विचार किया गया है। अरस्तू ने काव्य के दो भेद किये है—एक गम्भीर काव्य और दूसरा हास्यजनक। यह वर्गीकरण लेखको के व्यक्तिगत स्वभाव के आधार पर किया गया है। गम्भीर स्वभाववाले लेखक काव्य के रूप मे श्रेष्ठ कार्यों और श्रेष्ठ मनुष्यों का अनुकरण उपस्थित करते हैं, और अगम्भीर स्वभाव के लेखक निम्नतर मनुष्यों के आचरण का अनुकरण उपस्थित करते हैं। दूसरे प्रकार के लेखकों ने व्यग-काव्यो की सृष्टि की। किन्तु वास्तविक नाटककार वह है जो मानव-जीवन के सभी अगो का अनुभव प्राप्त कर अपने नाटको मे उनका समुचित समावेश कर सके।

ग्रीक देशो में नाटक का आरम्भ देवताओ के सम्मान निमित्त सहगान और नृत्य के साथ हुआ। इन धार्मिक अभिप्रेरणा से युक्त नाटकों को ट्रैजेडी कहा जाता था। ट्रैजेडी शब्द यूनानी टैग्राम शब्द मे बना है जिसका अर्थ है बकरा। डायोनिसस देवता का धड बकरे के समान होता था। उसके अनुकरण पर जिन गीतों मे करुणा और वेदना का भाव भरा रहता था उन्हें 'ट्रैजेडी' कहा गया।

जर्मन दार्शनिक नीत्शे के अनुसार ट्रैजेडी में जो नाटक का मूल रूप है, दो विरोधी भावो से सम्बद्ध है। ये विरोधी भावनाएँ यूनान के दो देवता—डायोनिसस तथा अपोलो के संघर्ष में दिखाई पड़ती है। वास्तव में डायोनिसस कल्पना, लालसा और आवेश का प्रतीक है, और अपोलो मर्यादा, प्रेम और शिष्टता का प्रतीक है। सघर्ष पाश्चात्य नाटको की मूल शक्ति है। जिस प्रकार भारतीय नाटकों का आधार रस है उसी प्रकार पश्चिमी नाटको का आधार सघर्ष है।

ट्रैजेडी की परिभाषा अरस्तू ने इम प्रकार दी है—ट्रैजेडी उस कृति का अनुकरण है, जिसमे गम्भीरता के साथ, स्वरूप की स्वतः पूर्णता हो, जो अनेक प्रकार के आनन्दोत्पादक अंगो से सयुक्त होकर अलकृत भाषा मे लिखी गई हो, जिसमे नाटकीय तत्त्वों का सम्मिश्रण हो, न कि केवल विवरण या इतिवृत्तात्मक रूप मे इसकी रचना की गई हो, जो महाकाव्य की प्रधान विशेषता है, जो भय का प्रदर्शन करके मनोविकारो का उचित रेचन या परिष्कार कर सके।"

अरस्तू ने ट्रैजेडी के छः अग माने हैं। (१) इतिवृत्त (प्लॉट), (२) आचार (मैनर), (३) विचार (थॉट) (४) वर्णन शैली (डिक्शन), (५) दृश्य (स्पेक्टेकल), और (६) गीत (सॉंग)।

इतिवृत्त अथवा कथावस्तु ही ट्रैजेडी की आत्मा है। यह कथावस्तु पाँच

भागों में विभाजित होती है । (१) आरम्भ (एक्सपोजीशन) (२) प्रगति (राईजिंग एक्शन) (३) चरम सीमा (क्राइसिस) (४) निगति (डिन्यूवमेन्ट), (५) पतन या समाप्ति (कैटेस्ट्राफी)

कथावस्तु की सम्पूर्ण शक्ति का आधार परस्पर विरोधी घटनाओं की सृष्टि है। ज्यों-ज्यों नाटक के पात्र उस संघर्ष के लिए परस्पर उलझते जायें, त्यों-त्यों कथावस्तु की उलझनें भी द्रुततर होती चली जावें । नाटक में कुतूहल की सृष्टि और अन्तर्द्वन्द्व या संघर्ष[1] के केवल दो विरोधी पक्ष होते है । इसका कारण यह है कि श्रोता अथवा दर्शक का भाव एक पक्ष की ओर जाता है और सब घटनाएँ उसके अनुकूल अथवा प्रतिकूल होने में सहायक होती है । इस विरोध अथवा संघर्ष का क्षेत्र अत्यत व्यापक है । यह विरोध परस्पर दो व्यक्तियों मे, परस्पर एक व्यक्ति मे, एक ही व्यक्ति के मन मे, एक ही समाज मे अन्तर्द्वन्द्व के रूप में जन्मता है । नाटककार अपने डिकशन द्वारा संघर्ष को पाठक अथवा श्रोता के सामने इस रूप मे उपस्थित करता है, जिससे नाटक हमारे मनस्ताप के समाहार का साधन बन सके ।

पश्चिमी नाटको मे अच्छे-भले पात्र का पतन किसी भूल अथवा दोष (हामार्तिया) के कारण होता है । परिस्थितियो की सृष्टि इस रूप में की जाती है जिससे मुख्य पात्र विवेक से हट कर, स्वय ऐसी परिस्थितियो की सृष्टि करता है जिससे उसके विनाश की सामग्री उपस्थित हो सके । सघर्ष की स्थापना के लिए विरोध का कारण अर्थात् नाटकीय द्वन्द्व उत्पन्न करने वाली घटना होनी चाहिए । वास्तव में पाश्चमी नाटको मे इसी को उत्तेजनात्मक वेग (एक्साइटिंग फोर्स) कहते हैं । संघर्ष की घटनाओं को मिलाकर, इन्ही का निर्णयकारी स्थल चरमोत्कर्ष (क्लाइमेक्स) होता है । यहाँ पर नाटक की घटना इसकी ओर मुड़ जाती है । चरमोत्कर्ष की ओर अग्रेसित करने वाली परिस्थिति का भी विशेष महत्व रहता है । यह विषमावसर (क्राइसिस) नाटकीय कथा या विरोधी शक्तियों के चरमोत्कर्ष के पूर्व की स्थिति है । चरमोत्कर्ष क पश्चात् की स्थिति उलझन (कौम्पिलकेशन) या सुलझन (डिन्यूवमेन्ट) के रूप मे पाश्चात्य नाट्य-शास्त्र मे मान्य है । इस दृष्टि से कुछ समीक्षको ने पश्चिमी नाटक ट्रैजेडी के चार भाग माने हैं :—(१) प्रोतासिस (प्रारम) (२) एपितासिस (परिणाम की ओर जाने वाला मुख्य काम) (३) कतास्तासिस (चरमोत्कर्ष की ओर ले जानेवाला मुख्य काम) (४) कैटास्ट्राफी (दुखमय अत)

---

१. संघर्ष के पर्याय अनेक समानार्थक शब्द प्राप्त है यथा—
कन्फ्लिक्ट, कन्ट्रास्ट, स्ट्रगल, अपोजीशन ।

ट्रैजेडी के साथ ही पश्चिमी नाट्य-समीक्षा मे कॉमेडी नाटक का भी उल्लेख है। प्रारभ मे कॉमेडी का अर्थ प्रहसन था किन्तु बाद में यूरोप मे कॉमेडी शब्द दो अर्थों मे प्रयुक्त होने लगा। एक अर्थ था प्रहसन जिसमे मूर्खता, व्यंग और धूर्तता के कृत्यो द्वारा हास्य अथवा मनोरंजन किया जाता था। दूसरा अर्थ था सुखान्त नाटक अर्थात् वह नाटक जिसका अन्त सुखमय हो। समीक्षकों का मत है कि कॉमेडी का प्रयोग उन काव्यो के लिए, जिनकी शैली और विषम योजना निम्न कोटि की होती थी किन्तु अन्त सुखमय होता था, होने लगा जैसे दान्ते की 'डिवाइन कॉमेडी'।

सामान्यत: पाश्चात्य देशो मे नाटकों का विभाजन दुखान्त और सुखान्त के रूप में किया जाता था। दुखान्त नाटको की मीमासा मे अनेक आचार्यो ने अपने विचार प्रस्तुत किये है। अरस्तू का विवेचन-सिद्धान्त इस विषय पर एक आधिकारिक सिद्धान्त है। अरस्तू के अनुसार—हमारे मन मे जो करुणा और भय की मात्रा रहती है, यदि वह इकट्ठी होती रहे तो हानिकारक हो जायेगी। जिस प्रकार वैद्य हमारे मलो को निकाल कर हमारे शरीर को शुद्ध कर देता है, उसी प्रकार दुखान्त नाटक मे कृत्रिम रूप से हमारी करुणा और भीति (भय) को विरेचन मिलता है।

अंग्रेज़ी समीक्षको के मत के अनुसार यह सिद्धान्त सर्वमान्य नही है। प्राचीन भारतीय नाटको मे दुखान्त नाटको का अभाव है। संस्कृत नाटको में केवल 'उरुभंग' और 'उत्तर रामचरित' नाटक ही दुःखान्त नाटक है, किन्तु उरुभंग मे भी दुर्योधन की मृत्यु से किसी को मनस्ताप होता हो, यह नही कहा जा सकता।

प्राचीन काल में नाटक

हिन्दी नाटको के आविर्भाव के पूर्व सास्कृतिक विरासत के रूप में भारतवर्ष मे संस्कृत और प्राकृत नाटकों की महत्त्वपूर्ण परम्परा प्राप्त थी। वस्तुस्थिति यह है कि मानव-समाज की रचना के साथ ही नाट्य-कला का जन्म खेल-खेल मे ही हुआ होगा जबकि उसने स्वयं को दूसरे के रूप मे रख कर उसका अनुकरण किया होगा। विद्वानो के सामने अभी भी यह प्रश्न विचारणीय है कि वास्तव में पहला नाटक किस देश मे और किस काल मे अभिनीत हुआ। ऋग्वेद मे, जो कि ससार का प्राचीनतम ग्रंथ है, इसके बीज खोजे जा सकते है। ऋग्वेद में नृत्य, सवाद का, जो नाटक के अवयव हैं, उल्लेख प्राप्त है। ऊषा का वर्णन करते समय उसे एक नर्तकी के रूप में, तथा पुरु-उर्वशी, यम-यमी, इन्द्र-इन्द्राणी आदि के सम्वाद रूप मे जो वर्णन प्राप्त हैं उनसे नाटक के प्राचीनतम रूप का पता चल सकता है। श्री जयशंकर प्रसाद ने लिखा है कि सोमयाग नामक यज्ञक्रिया की योजना

सोमरसिक आत्मवादी इन्द्र के अनुयायी करते थे। सोम बेचने वाले वनवासियो के साथ यजमान सोमविक्रेता और अध्वर्यु का संवाद अभिनय का सूचक प्रतीत होता है।[१] मैक्समूलर का अनुमान है कि भारतीय नाट्य के आदि स्रोत वेदों मे उपलब्ध कर्मकाड के मंत्र है।[२] प्रो० सिलवाँ लेबी, ओल्डेनबर्ग आदि यूरोपीय विद्वान् मैक्समूलर की राय से सहमत हैं। उपर्युक्त प्रमाणो के आधार पर अब विद्वानो का मत है कि वैदिक मन्त्रों में नाटकीय तत्त्व विद्यमान है और तत्कालीन धार्मिक सगीत-नृत्य के साथ नाटक का सम्बन्ध रहा है।

वैदिक काल मे शैलूष (नट) का उल्लेख हुआ है।[३] शैलूष (नट) तो नियुक्त किये जाते थे किन्तु वाल्मीकि रामायण के पूर्व साहित्यिक नाटक का उल्लेख प्राय नहीं मिलता। डा० भानुदेव शुक्ल का अनुमान है कि भारत मे साहित्यिक नाटक का जन्म वाल्मीकि-रामायण के पूर्व हो चुका था [४] डा० दशरथ ओझा ने लिखा है कि रामायण-काल मे अयोध्या मे नाटक मडलियाँ विद्यमान थी और नाटक के अभिनय अवश्य ही होते रहे। कुश और लव ने राम को सीता-व्यथा की जो कथा सुनाई, उसके सम्बन्ध मे कुछ विद्वानों का मत है कि वास्तव में वे कुशीलव (नट) ही थे।[५]

जन-नाटक एवं साहित्यिक नाटक दोनो के मूल में धार्मिक भावना की अभिव्यक्ति की प्रधानता है। धार्मिक उत्सव भिन्न-भिन्न रूपों में होते थे और उनकी आनन्दाभिव्यक्ति मे नाटको का अभिनय भी। कालान्तर मे नाटको को राज्याश्रय प्राप्त हुआ और नाटको मे पौराणिक के साथ-साथ लौकिक आख्यानों का भी समावेश हुआ। महाभारत मे रामायण नाटक, एव 'कौबेर-रम्भाभिसार' नाटक, इन दो नाटको का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। पाणिनि के सूत्र मे (१) शिलाली और (२) कृशाश्व नामक दो आचार्यो के नाम प्राप्त हैं किन्तु नाट्य-शास्त्र सम्बन्धी उनकी स्थापनाओ का, कृतियो के अभाव में कोई ज्ञान नही है।

ईसा के लगभग चार सौ वर्ष पूर्व भास ने तेरह नाटकों की रचना की थी। अश्वघोष के नाटक लगभग इसी काल के हैं। ईसा की पहिली शताब्दी से

१. दृष्टव्य 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध'
२. (मेक्समूलर वर्जन ऑफ रिग्वेद वाल्यूम फर्स्ट, पृ० १७३.)
३. यजुर्वेद संहिता ३० वां अध्याय छठा मंत्र
४. भारतेन्दु-युगीन हिन्दी-नाट्य साहित्य, पृ० ५
५. हिन्दी नाटक उद्भव और विकास पृ० ४१

चौथी शताब्दी तक संस्कृत नाटक अपने विकास के चरम रूप मे प्राप्त हैं। कालिदास, भवभूति, हर्षदेव आदि महाकवियो द्वारा ससारप्रसिद्ध नाटको का प्रणयन किया गया।

इसके पश्चात् तेरहवी शताब्दी तक नाटको और विशेषतया साहित्यिक नाटकों का सामान्य स्वरूप ही सामने आता है। लोक-भाषा के साथ लोक-नाटकों ने जिस रूप में जन जीवन को प्रभावित किया, हिन्दी नाटको का उनसे भी घनिष्ट सम्बन्ध है।



अध्याय : तीन

भारतेन्दु-पूर्व हिन्दी नाटक

हिन्दी नाटक

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने 'नाटक' नामक निबन्ध में हिन्दी नाटकों के सम्बन्ध मे टिप्पणी करते हुए लिखा है कि 'हिन्दी भाषा में वास्तविक नाटक के आकार मे ग्रथ की सृष्टि हुए पच्चीस वर्ष से विशेष नही हुए'।[1] उस समय उपलब्ध नाट्य-साहित्य के आधार पर भारतेन्दु का यह मत बनना स्वाभाविक है, किन्तु भारतेन्दु-पूर्व हिन्दी नाटकों का परिचय प्राप्त करने के लिए उपलब्ध नाट्य-सामग्री के आधार पर हुए अनुसधान को दृष्टिगत रखते हुए यह कहना समीचीन होगा कि हिन्दी नाटक का आविर्भाव विक्रम की तेरहवीं शताब्दी मे हो गया था। डा० दशरथ ओझा का मत है कि 'पिछले पच्चीस वर्षों मे प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों के अनुसधानकर्त्ता विद्वानो ने इतना साहित्य उपलब्ध कर लिया है, जिससे सिद्ध होता है कि हिन्दी का नाट्य-साहित्य विक्रम की तेरहवी शताब्दी मे प्रारम्भ हो गया था। सत्रहवी से उन्नीसवी शताब्दी तक मिलने वाला नाट्य-साहित्य उसी परम्परागत नाट्य-साहित्य की एक शाखा है जो विक्रम की तेरहवी शताब्दी से लेकर अब तक प्रवाहित होती चली आ रही है'।[2] डा० भानुदेव शुक्ल का मत है कि चौदहवीं शताब्दी के आसपास से हिन्दी का प्रारम्भिक मौलिक तथा अनूदित नाटक साहित्य मिलता है। मैथिली तथा हिन्दी के ये नाटक प्राय: पद्य-प्रधान थे।[3] हिन्दी के साहित्यिक नाटकों ने यद्यपि अपनी मूल भाषा संस्कृत से ही प्रेरणा ग्रहण की है, तथापि भाषाओं में साहित्यिक नाटको की रचना के पूर्व हमारे देश मे

---

१. भा० ग्रं०, पृ० ७५२

२. हिन्दी नाटक उद्भव और विकास, पृ० ८१

३. भारतेन्दु-युगीन हिन्दी नाट्य-साहित्य, पृ० ६

सदियो से जन-नाटको का अभिनय हो रहा था, यही कारण है कि लोकप्रिय भाषा-नाटको मे सस्कृत और जन-नाटको के संयुक्त रूप को स्पष्टतः देखा जा सकता है।

नाटक की मूल प्रवृत्ति अभिनय है और लोक में अभिनय की प्रवृत्ति आदिकाल से प्राप्त है, चाहे उसका रूप किसी सामान्य ही प्रकार का क्यो न रहा हो। लोक मे मनोविनोद के अपनी रुचि, परिवेश और कालानुसार अभिनय-रूप प्रचलित रहे हैं। आज का समीक्षक अभिनय की इस परिपाटी को मंच से जोडकर लोक-मच या जन-मच के नाम से अध्ययन करता है और अंग्रेजी परिपाटी के अनुसार उसे ग्रामीणों के क्रियाकलापो तक सीमित रखता है। आदिम अवस्था से जन अथवा लोक-प्रवृत्ति भिन्न प्रकार की प्रवृत्ति है। हिन्दी नाटको के उद्भव मे लोक-नाटको का महत्त्वपूर्ण पूर्ण योग रहा है। यदि यह कहा जावे तो अत्युक्ति न होगी कि अपने प्रकृत-भाषा विकास मे सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश से जिस प्रकार हिन्दी ने स्वरूप ग्रहण किया, उसी प्रकार सस्कृत नाट्य-परम्परा के समानान्तर अपनी नाट्य-शैली से हिन्दी नाटको ने स्वरूप ग्रहण किया और सस्कृत के साहित्यिक नाटकों के सम्पर्क से हिन्दी नाटकों का वास्तविक रूप उभर सका।

लोक-नाटक और हिन्दी-नाटकों का प्रारम्भिक रूप

एक समय में जब नाटक या लोक-नाटकों का स्वरूप साहित्यिक नाटको से बिलकुल भिन्न रहता है, वही कालान्तर मे साहित्यिक रूप मे स्थापित हो जाता है, किन्तु जन-नाटकों का सृजन साहित्यिक नाटकों के साथ-साथ भी होता ही रहता है। संस्कृत के नाटक और प्रचलित जन-नाटको के सम्बन्ध मे डा० कीथ ने लिखा है कि संस्कृत में जो नाटक मिलते हैं, वे जन-भाषा से बहुत भिन्न थे और उस भाषा के स्वरूप को समझना जनता के लिए प्रायः असम्भव था। केवल अल्प-संख्यक शिष्टवर्ग उस भाषा को समझने मे समर्थ था और उसी उच्च पदस्थ अल्प-संख्यक पठित-समाज के लिए साहित्यिक नाटक लिखे जाते थे।[1] इन साहित्यिक नाटकों को प्रभावित करने मे अथवा उनको लोकानुकूल करने में जन-नाटक अपना प्रभाव निश्चित ही डालते रहे होंगे। केवल हिन्दी के नाटको के सम्बन्ध मे यह कथन प्रमाण्य नही है, अपितु अंग्रेजी आदि सभी भाषाओं के नाटकों पर लोक-नाटकों के प्रभाव को देखा जा सकता है।

डा० दशरथ ओझा का मत है कि हिन्दी नाटक की परम्परा के मूल स्रोत ये जन-नाटक ही हैं, जो स्वांग आदि नाम से अपने प्राचीन रूप में अब तक

---

१. द्रष्टव्य केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंग्लिश लिटरेचर, वाल्यूम ५, पृ० २३

विद्यमान हैं। क्रमशः इन जन-नाटकों की एक शाखा ने विकसित होकर साहित्यिक रूप धारण किया। इस चिरंतन प्रवाह में काल तथा देश के सयोग से सस्कृत आदि भाषाओ के स्रोत भी आ मिले।[१] किन्तु डा० भानुदेव शुक्ल डा० ओझा के मत से सहमत न होकर हिन्दी नाटकों की रचना संस्कृत नाटकों के प्रभाव के फलस्वरूप मानते हैं। वस्तुतः हिन्दी नाटक न तो केवल जन-नाटको के ही विकसित रूप हैं और न सस्कृत नाटको के अनुवाद या परम्परा के अनुवर्ती भाषा-नाटक। हिन्दी के नाटक अपने मूल मे लोक-प्रभावों और शिष्ट शैलियों को समादृत करते हुए चले हैं। फलतः कही पर उनमे लोकतत्रीय रूप उभर आये हैं तो कही पर शुद्ध साहित्यिक और पठनीय रूप। भारतेन्दु-पूर्व हिन्दी नाटकों पर दृष्टिगत करने से पूर्व हिन्दी नाटको को विरासत मे मिले उन लोक-नाटकों से परिचित होना समीचीन होगा, जिनसे हिन्दी नाटको के सूत्र घनिष्ट रूप मे सम्बद्ध हैं।

हिन्दी के साहित्यिक नाटको का सम्बन्ध लीला-नाटक और स्वाग से रहा है। धार्मिक अथवा लीला-नाटकों के मूल में रास और सामाजिक लोक-मानस के प्रतिनिधि स्वांग आदि लोक-नाटकों ने हिन्दी के साहित्यिक नाटकों को प्रभावित किया है। जन-नाटको ने मध्यकालीन तथा परवर्ती सभी भाषाओं के नाटकों को प्रभावित किया है, यथा—बँगला मे जात्रा और कीर्तनियाँ नाटक; बिहारी मे विदेशिया; अवधी, पूर्वी हिन्दी, व्रज तथा खड़ी बोली में रास, नौटंकी, स्वाँग, भाँड; राजस्थानी मे रास, झूमर, ढोला-मारू; गुजराती मे भवाई; मराठी मे ललित और तमाशा, तमिल मे भागवतु मेला आदि। इन जन-नाटकों मे नाटक के पूर्ण अवयव प्राप्त नही है, और यह अस्वाभाविक भी नहीं है क्योंकि कही सगीत, कही नृत्य, कही नकल आदि की अपनी विशेषता ही उन्हें लोक-जीवन से घनिष्टता से संयुक्त किये हुए है। साहित्यिक रूप प्राप्त होने पर निश्चित ही उसका संस्कारित रूप ही हमारे सामने आता है। हिन्दी नाटकों को प्रभावित करने वाले जन-नाटको का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :—

यात्रा नाटक

जन-नाटकों का सबसे प्राचीन रूप धार्मिक उत्सवों के अवसर पर आयोजित गीत, नृत्य आदि की परम्परा मे प्राप्त है। यात्रा-नाटक ऐसे ही किसी नृत्य-उत्सव का नाम प्रतीत होता है, जो शोभा-यात्रा आदि के अवसर पर अभिनीत होता होगा। ई० पी० हारविज के मतानुसार वैदिक युग यात्रा-नाटक से परिचित

---

१. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, पृ० ५२

था। ऋग्वेद मे देवताओं की स्तुति संगीतमय जुलूस में हुआ करती थी।[1]

डा० कीथ का विचार है कि सस्कृत नाटकों का मूल यज्ञसम्बन्धी सवादो मे नहीं है, अपितु इन यात्रा-नाटको मे है, जिन्होने विद्वानों को प्रभावित किया और एक नई नाट्य-शैली का जन्म हो सका। बगाल में सैंकडों वर्षों तक इन यात्रा-नाटकों की प्रसिद्धि रही है। हिन्दी नाटक यात्रा-नाटकों से अप्रत्यक्ष रूप मे ही प्रभावित माने जा सकते है।

स्वांग नाटक

हिन्दी नाटकों को प्रभावित करने वाले जन-नाटको में स्वाँग, माँड़ आदि नाट्य-रूप रंगमंचीय दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है। रंगमच की दृष्टि से इन नाट्य-रूपो का उल्लेख नवी शताब्दी मे ही प्राप्त हो जाता है। नवी शताब्दी मे हिन्दी अपना स्वरूप ग्रहण कर रही थी और उस अवसर पर स्वाँग-नाटकों का उल्लेख जन-नाटकों की अभिरुचि का परिचायक है। स्वाँग का लेखबद्ध विवरण १८१९ ई० के पूर्व नहीं मिलता है। डा० भानुदेव शुक्ल के मतानुसार स्वाँग, नौटकी और भगत रीतिकालीन नाट्याभिव्यक्ति है, जो भक्ति-काल के उपरान्त ऐहिक उद्दाम श्रृंगारिक प्रवृत्तियो के फलस्वरूप जन्मी।[2] स्वाँग आदि नाट्य-रूपो के मूल मे श्रृंगार-वृत्ति के स्थान पर "नकल" की वृत्ति ही प्रधान मानी जा सकती है। अनुकरण या नकल के आधार पर रचे स्वाँग, नौटकी आदि नाटको के रगमचीय रूप इतने प्रधान हो गये कि इनका कथ्य-परक रूप प्रायः गौण हो गया।

स्वाँग की भाँति माँड़ नाट्य-रूप का उल्लेख ग्रामीण आँचल में प्राप्त होता है। यह एक प्राचीन पारस्परिक लोक-नाट्य है। विद्वानो का विचार है कि सस्कृत रूपकों में "भाण" लोक-नाट्य रूपो मे माँड के नाम से प्रसिद्ध हो गया।

रास, नाट्यरासक और रासक

हिन्दी प्रदेश मे रास एक प्राचीन लोक-प्रचलित नाट्य-रूप है। रास को प्रेक्षाणक, हल्लीश आदि के रूप मे उल्लेखित किया गया है। जैन-ग्रंथागारो से जो सामग्री प्राप्त हुई है उसमे रास नाटको का उल्लेख हुआ है। रास के संदर्भ मे लीला-नाटकों का सम्बन्ध भागवतधर्म मे भी माना गया है। रास-नाटको के कथ्य की दृष्टि से दो रूप प्राप्त होते है, १—धर्म-प्रधान रास, २—श्रृंगार-प्रधान या लौकिक रास।

---

१. दि इन्डियन थियेटर, पृ० १७८

२. भारतेन्दु-युगीन हिन्दी नाट्य-साहित्य, पृ० २१०

धर्म-प्रधान रास नाटकों मे सोलहवी शताब्दी में वल्लभाचार्य एव हितहरिवंश आदि भक्त-आचार्यो ने कृष्ण के लोकरजक पक्ष को कथानक के माध्यम से नये रूप मे प्रकट किया, जिसकी नृत्य-नाट्य शैली मानी जा सकती है । "रास" महारास इस दृष्टि से प्रतिष्ठित नाटको में स्थान पा सके ।

नाट्य-रासक और रासक के सम्बन्ध मे साहित्य-दर्पण मे लक्षण प्राप्त हैं । नाट्य-रासक मे एक अक होता है, नायक उदात्त और पीठमर्द होता है । नायिका वासक-सज्जा होती है । यह एक हास्यरस-प्रधान नाट्य-रचना होती है। इसमे मुख और निर्वहण सधियाँ तथा लास्य के दसो अग मिलते है ।[1] इसके अतिरिक्त अन्य ग्रथों मे इसके लक्षण की विस्तार से चर्चा की गयी है । संस्कृत में भास के "बाल-चरित" बाण के "हर्ष-चरित", भट्टनारायण के 'वेणी-संहार" मे 'रासक" का उल्लेख हुआ है।

हिन्दी मे लिपिबद्ध रास-नाटको की अत्यल्प सामग्री ही प्राप्त है।

हिन्दी का मौलिक और अनुवादित नाट्य-साहित्य

(हिन्दी-मैथिली-नाटक) हिन्दी नाटक का परिवार हिन्दी के व्यापक रूप की भाँति अत्यत विस्तृत है । चौदहवी शताब्दी के आस-पास हिन्दी का प्रारभिक मौलिक तथा अनूदित नाटक-साहित्य मिलता है ।[2] डा० दशरथ ओझा ने लिखा है कि इतिहास-लेखको की यह धारणा थी कि हिन्दी-नाटक-साहित्य उन्नीसवी शताब्दी से उत्तरोत्तर वृद्धि करता चला आ रहा है। इसके पूर्व मिलने वाले नाटको को नाटक की परिधि के बाहर इस कारण रखा जाता है, क्योकि वे काव्यमय हैं और बहुतो मे तो पात्र भी नही हैं, केवल आद्योपान्त कविता ही है । दूसरी बात यह है कि कुछ नाटको पर सस्कृत का इतना प्रभाव है कि उन्हे हिन्दी का नाटक कहना ही नही चाहिये ।[3]

किन्तु प० हरप्रसाद शास्त्री तथा डा० बागची की शोध-सामग्री के आधार पर यह माना जाने लगा है कि सोलहवी शताब्दी तक देशी भाषा अर्थात् मैथिली में नाटक भली-भाँति विकसित हो चुके थे । चौदहवी शताब्दी मे (लगभग १३८७ ई० मे) महाकवि विद्यापति ने "रुक्मिणी-हरण" तथा "पारिजात-हरण" की रचना की । डा० ग्रियर्सन के अनुसार विद्यापति पहिले व्यक्ति थे जिन्होने

१. साहित्य-दर्पण, प्रथम परिच्छेद, पृ० ३६७
२. भा०-युगीन हिन्दी नाट्य-साहित्य, पृ० ६
३. हिन्दी नाटक: उद्भव और विकास, पृ० ५५७

संस्कृत-सम्वादो के मध्य देशी भाषा के गाने यत्र-तत्र रख दिये है ।[1]

इसके पूर्व तेरहवी शताब्दी मे राजनैतिक पराभव के कारण मिथिलेश महाराज हरिसिंह देव नेपाल में आश्रय प्राप्त करने चले गये थे । नेपाल मे राज्य-शक्ति प्राप्त कर लेने के पश्चात् मिथिला देश के विद्वानो को नेपाल में आमंत्रित किया जाने लगा और इस प्रकार राजाश्रय मे मिथिला-नाटकों का प्रणयन हुआ । सोलहवी शताब्दी मे महाराज विश्वमल्ल (राज्यारोहण १५३३ ई०) के सम्मुख 'विद्याविलाप' अभिनीत किया गया । इसके पश्चात् तो मैथिल नाटको की एक समर्थ सूची प्राप्त होती है ।

उड़िया एवं असमिया नाटकों में हिन्दी

पन्द्रहवी शताब्दी मे उड़ीसा के शासक महाराज कपिलेन्द्र देव ने "परशुराम-विजय" नाटक लिखा । इस नाटक में कविता के रूप मे जिस भावानुभूति का चित्रण किया गया है, वह मैथिल-कौकिल विद्यापति की परम्परा का ही प्रतिफल है । इसी प्रकार पन्द्रहवी शताब्दी के मध्य मे आसाम मे एक प्रतिभाशाली कवि शकरदेव उत्पन्न हुए । शकरदेव ने 'रास-यात्रा' (ब्रज की रास-शैली पर) 'कालिय-दमन', 'रासविजय', 'रुक्मिणीहरण', 'केलिगोपाल', 'पत्नीप्रसाद', 'पारिजात-हरण' नाटको की सृष्टि की ।

संस्कृत और उसके पश्चात प्राकृत-अपभ्रंश की रचनाओं में परवर्ती भाषा-रूपो के दर्शन होते है । इन रचनाओ मे जननाट्य-शैली और संस्कृत की साहित्यिक शैली दोनो के सम्मिलित प्रभावों की झलक दिखाई पडती है । हिन्दी की इन शाखाओं मे अधिकतर लोक-नाट्य का प्रभाव है तथा संस्कृत के भक्ति-प्रभाव-युक्त भाषा-नाटको मे साहित्यिकता का । राजाश्रय मे साहित्य के आनन्दपक्ष तथा लोक के विनोदपक्ष का समन्वय भारतेन्दु-पूर्व-हिन्दी नाटकों में प्राप्त है । इस दृष्टि से एक तालिका परिशिष्ट मे दी जा रही है जिससे भारतेन्दु-पूर्व प्राप्त सभी नाटको का सक्षिप्त विवरण प्राप्त किया जा सकता है ।

हिन्दी का आदि साहित्यिक नाटक

हिन्दी के आदि साहित्यिक नाटक के सम्बन्ध मे विद्वानो ने भिन्न-भिन्न राय व्यक्त की है । डा० दशरथ ओझा के मतानुसार सदेश-रासक, और उसकी परम्परा का 'गयसुकुमार-रास', आचार्य शुक्ल के मतानुसार 'आनन्द-रघुनन्दन' एव भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के मतानुसार "नहुष" हिन्दी का आदि साहित्यिक नाटक है ।

१. भा०-युगीन हिन्दी नाट्य-साहित्य, पृ० ६

यहाँ तीनों ही नाटको की प्राप्त-सामग्री पर विचार करना समीचीन होगा

संदेश-रासक

विक्रम की तेरहवी शताब्दी मे अद्दहमाण (अब्दुल रहमान) कवि द्वारा रचित "सदेश-रासक" अपभ्रंश-मिश्रित पश्चिमी राजस्थानी में लिखा एक ऐसा नाटक है, जिसे हिन्दी का आदि साहित्यिक नाटक माना जा सकता है । डा० दशरथ ओझा ने लिखा है कि यह ग्रथ नाटक-साहित्य के अन्तर्गत ही रखा जाना चाहिये । इसको श्रव्य-काव्य ही मानना उपयुक्त है, ग्रथ के उद्धरणो से यह तथ्य प्रगट भी होता है ।[1]

डा० रामसिंह तोमर ने अपने ग्रंथ, 'प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य' में सन्देश-रासक की विस्तार से समीक्षा की है ।[2] उन्होने लिखा है कि कालिदास के मेघदूत की तरह सदेश-रासक २२३ पद्यो में प्राप्त सदेश-काव्य है । तीन प्रक्रमो मे कवि ने कृति को विभक्त किया है । प्रथम चालीस पद्यो में मंगलाचरण तथा भूमिका में अपनी कृति-रचना के औचित्य का प्रसग है । मुख्य विषय का प्रारंभ विजयनगर की एक विरहिणी नायिका के वर्णन से होता है । वह एक पथिक द्वारा, जो मामोरू नगर से आया था और खभात तीर्थ जा रहा था, अपने पति को सदेश भेजना चाहती है । अपने दु:ख का वर्णन कर, वह पथिक को प्रिय वचनो से युक्त सदेश कहने की विनती कर, आशीर्वाद देकर उसे बिदा करती है । उसी समय दक्षिण दिशा से वह अपने पति को आता हुआ देखती है । हर्ष से वह उल्लसित हो जाती है । पाठकों की मंगलकामना करता हुआ कृतिकार ग्रंथ को समाप्त करता है ।[3]

डा० तोमर का विचार है कि 'संदेश-रासक' सरल साहित्यिक अपभ्रंश मे निर्मित है, कृति में देशी तथा ध्वन्यात्मक शब्दो के बड़े स्वाभाविक प्रयोग हुए हैं । सदेश-रासक की टीप सं० १४६५ की लिखी हुई प्राप्त है, अत: इसके पूर्व ही कृति की रचना हुई होगी ।

डा० दशरथ ओझा का मत है कि नाटकत्व से परिपूर्ण यह रासक आशीर्वचन के साथ समाप्त होता है । यह रासक पूर्णतया विकसित नाटको के प्रारम्भिक काल का वह रूप है जिसमें श्रव्य-काव्य अभिनय कला की सहायता से

१. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, पृष्ठ ८१
२. प्राकृत अपभ्रंश साहित्य, पृ० २००
३. प्राकृत साहित्य, पृ० २०१

दृश्य-काव्य में परिणत हो रहे हैं।[१]

संदेश-रासक की परम्परा में "गद्यसुकुमार-रास" नामक दूसरी रचना का उल्लेख डा० ओझा ने किया है। यह रास-ग्रंथ उस काल का है जब ग्राम्य अपभ्रंश और राजस्थानी का प्रायः सधिकाल था। इसका रचना काल स० १३३० वि० के आस-पास माना जाता है। इस रास मे रास के सभी तत्त्व विद्यमान हैं। इस का प्रारंभ मंगलाचरण से व अन्त आशीर्वचन से होता है, जो नान्दी और भरत-वाक्य से मिलता-जुलता है।

निष्कर्ष रूप मे डा० ओझा ने लिखा है कि यदि हमारा यह अन्वेषण मान्य हो तो हिन्दी-साहित्यिक नाटक का उत्पत्ति-काल सत्रहवी शताब्दी के स्थान पर तेरहवीं शताब्दी संवत् १२८६ वि० मानना होगा एतदर्थ नाटक के इस विकसित रूप मे विरचित यह "गद्यसुकुमार-रास" ही हमारे अनुसन्धान के फलस्वरूप प्रथम नाटक सिद्ध होता है।[२]

डा० भानुदेव शुक्ल के मतानुसार संदेश-रासक या अन्य रास-ग्रंथो को नाटक की कोटि मे रख कर उसे प्रथम हिन्दी का नाटक मानना उचित नही प्रतीत होता।[३] तदपि हिन्दी नाटक-परम्परा के मूल स्रोतों तक पहुँचने का यह प्रयास स्तुत्य है और इससे अनेक नये निष्कर्ष सामने आ सकते हैं।

आनन्द-रघुनन्दन

उपर्युक्त सूची मे सस्कृत-प्रभाव के आधार पर रची नाट्य-रचनाओ मे बहुत सी अनुवादित हैं और आनन्द रघुनन्दन को छोड़कर प्रायः सभी रचनाएँ नाट्य-तत्त्वो से हीन है। प्रायः ये पद्य में रची गई हैं और इन्हें पद्य-संवाद ही कहना उपयुक्त प्रतीत होता है। आनन्द-रघुनन्दन मे नाट्य-तत्त्वो को विद्वानो ने खोजने की कोशिश की है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास मे प्रकट किया है कि 'भारतेन्दु के पहले 'नाटक' के नाम से जो दो-चार ग्रथ ब्रजभाषा मे लिखे गये थे, उनमे महाराज विश्वनाथसिंह के आनन्द-रघुनन्दन नाटक को छोड़कर और किसी मे नाटकत्व नहीं है।[४] सर्वश्री गुलाबराय, ब्रजरत्नदास आदि का मत है कि 'आनन्द-रघुनन्दन' ही हिन्दी का सर्व प्रथम नाटक है। इस मत का आधार यह है कि नाटक संस्कृत की नाट्य-शैली पर रचा गया है, जिसमें नान्दी, सूत्रधार,

१. हिन्दी नाटक उद्भव और विकास, पृ० ८३
२. हिन्दी नाटक उद्भव और विकास, पृ० ८४
३. भारतेन्दु-युगीन हिन्दी नाट्य-साहित्य, पृष्ठ ७
४. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४५३

विष्कंभक आदि उसी रूप में उपलब्ध हैं। लोक-नाट्य-परम्परा से यह नाटक भिन्न कोटि का ही है।

आनन्द-रघुनन्दन नाटक के रचयिता रीवा के महाराज विश्वनाथसिंह (जन्म सं० १८४६) हैं। महाराज विश्वनाथसिंह के पिता महाराज जयसिंह भी साहित्यानुरागी थे और साहित्य-सृजन में सलग्न थे। पूरा राजपरिवार रामोपासक था। कुँवर विश्वनाथसिंह आनन्द-रामायण-काव्य की रचना कर चुके थे। उसके पश्चात् उन्होने सस्कृत शैली के अनुकरण पर आनन्द-रघुनन्दन की सृष्टि की। यद्यपि रास सम्बन्धी अनेक पद्यबद्ध नाटक रास-शैली मे प्राप्त थे, किन्तु संस्कृत नाटको की परिपाटी पर यही एक नाटक है, जिसमें सस्कृत शैली का पूर्ण अनुसरण किया गया है। अंग्रेजी अनुवाद के माध्यम से संस्कृत के नाटकों का पुनर्जीवन का कार्य उस काल मे प्रारंभ हो गया था। डा० ओझा का मत है कि यूरोप में संस्कृत नाटकों की प्रशंसा देखकर भारतीय विद्वानो का ध्यान पुन उनकी ओर आकर्षित हुआ। 'शकुतला' नाटक के अंग्रेजी अनुवाद का सफल अभिनय रंगमच पर होने और उसकी सर्वत्र चर्चा फैलने से सस्कृत नाटको के प्रति श्रद्धा बढी। बगाल मे रामनारायण तर्करत्न ने सस्कृत शैली पर बँगला मे नाटक की रचना प्रारभ कर दी थी। ऐसे पुनरुत्थान के युग में नाट्य-शास्त्र के नियमो के आधार पर नाटक लिखना श्रेयस्कर समझा गया। परिणाम यह हुआ कि विश्वनाथ जी ने अपना नाटक नये दृष्टिकोण से लिखना प्रारम्भ किया।[१]

आनन्द-रघुनन्दन नाटक तुलसीदास कृत रामायण के क्रम मे सात अको मे समाप्त होता है। प्रत्येक अंक मे अनेक दृश्य हैं। दृश्य-परिवर्तन के साथ कथासूत्र भी विकसित होता चलता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि इस नाटक की रचना के पूर्व महाराज विश्वनाथसिंह ने राम-कथा विषयक प्रायः समस्त काव्य और नाट्य-ग्रंथो का अध्ययन किया था। संस्कृत भाषा मे नाटककार ने रगमच सकेत दिये है तथा पात्रो के अनुसार भाषा का प्रयोग किया है। यह भी भरत मुनि के नाट्य-सिद्धात के अनुरूप ही हैं, किन्तु उससे नाटक में ग्रामीण भाषा, अपभ्रश, मैथिली, महाराष्ट्री, कर्नाटकी, द्राविड़ी, पैशाची आदि भाषाओ का प्रयोग हुआ है। आनन्द-रघुनन्दन के नायक रामचन्द्र है और रामचन्द्र अयोध्या से लंका तक यात्रा करते हैं, मध्य में मिलने वाले विविध भाषा-भाषियो से उनकी ही भाषा मे कथोपकथन प्रस्तुत किया गया है।

१. हिन्दी नाटक उद्भव और विकास, पृ० १४१

इस नाटक मे वीर रस प्रमुख है, साथ ही करुण और भयानक रस अंगीभूत होकर आये हैं। इस नाटक मे कहीं-कहीं हास्य की योजना भी की गई है। भाषा ब्रज है तथा शैली काव्यात्मक। पद्य की प्रधानता है किन्तु गद्य का प्रयोग शास्त्रीय रीति से किया गया है। नान्दी, सूत्रधार, विष्कंभक, भरतवाक्य हिन्दी नाटको मे प्रथम बार स्थान पा सके है। यद्यपि इसमें पात्रो की बहुलता है, तथापि भाषाओ के प्रयोग मे अस्वाभाविकता भी कहीं-कहीं उभरी है। शैली पर काव्यात्मक प्रभाव अधिक है, नाटक प्रभाव वहीं क्षीण हो जाता है।

नहुष

भारतेंदु-पूर्व हिन्दी नाटको मे 'नहुष' के नाम का उल्लेख भी हिन्दी के प्रथम नाटक के रूप में हुआ है। भारतेन्दु ने प्रकट किया है कि यद्यपि नेवाज कवि का 'शकुतला' नाटक, वेदान्त विषयक भाषा ग्रथ 'समयसार' नाटक, ब्रजवासी दास के 'प्रबोध-चन्द्रोदय' प्रभृति नाटक के भाषा-अनुवाद नाटक नाम से अभिहित है, किन्तु इन सभी की रचना काव्य की भाँति है, अर्थात नाटक-रीत्यानुसार पात्र-प्रवेश इत्यादि कुछ नही है। भाषा-कविकुल-मुकुट माणिक्य देव कवि का "देव्र-माया-प्रपच" नाटक और श्री महाराज काशिराज की आज्ञा से बना हुआ 'प्रभावती' नाटक तथा श्री महाराज विश्वनाथसिंह रीवा का 'आनन्द-रघुनन्दन' नाटक यद्यपि नाट्य-रीति से बने हुए है किन्तु नाटकीय यावत् नियमो का प्रतिपालन इनमें नही है और ये छदप्रधान ग्रथ है। विशुद्ध नाटक रीति से पात्रप्रवेशादि नियम-रक्षण-द्वारा भाषा का प्रथम नाटक मेरे पिता पूज्य-चरण श्री कविवर गिरधरदास (वास्तविक नाम बाबू गोपाल चन्द जी) का है।[1]

"नहुष" नाटक की रचना किस सन् में हुई ? भारतेन्दु ने लिखा है कि जिस समय नहुष रचा जा रहा था, तब वे सात वर्ष के थे। इसका अर्थ यह है कि इसकी रचना १८५७ ई० मे हुई। राधाकृष्ण दास ने "हिन्दी का पहला नाटक" नामक लेख में 'नहुष' का रचना-काल ईसवी सन् १८४१ लिखा है।[2] आचार्य शुक्ल ने गिरधरदास का जन्म सन् १८३३ ई० लिखा है। ऐसी स्थिति में राधा-कृष्ण दास जी के मत को मानना समीचीन नही है।

'नहुष' नाटक लुप्तप्राय हो गया था किन्तु सौभाग्य से काँकरोली मे इसकी एक हस्तलिखित प्रति मिल गई है। इस प्रति में नाटक मे प्रस्तावना तथा छः अंक है। इसकी कथावस्तु महाभारत के उद्योग तथा अनुशासन पर्वो के आधार पर

---

१. भारतेन्दु ग्रंथावली, पृ० ७५२

२. हिन्दी का पहला नाटक, ना० प्र० पत्रिका, नवाँ भाग, १६०५ ई०

निर्मित है। डा० दशरथ ओझा के उक्त कथन से अभी तक प्रचलित बहुत-सी धारणाएँ निराधार हो जाती है। पूर्व में इसी अनुमान पर इसकी समीक्षा की जाती थी कि इसका कुल एक अंक प्राप्त है अथवा सामग्री प्राप्त नही है।

'नहुष' नाटक का प्रारम्भ इन्द्र और वृत्रासुर के संग्राम से होता है। वृत्रासुर की मृत्यु से इन्द्र को ब्रह्म-हत्या लगती है। उसके रिक्त सिंहासन पर नहुष को बैठाना, प्रयत्न है। नहुष को हटाकर इन्द्र को पुनः सिंहासन पर बैठाने का षड्यंत्र प्राप्त्याशा है। नहुष का शापभ्रष्ट होना तथा सिंहासन रिक्त करना नियताप्ति है और इन्द्र का पुनः सिंहासन पाना फलागम है। इसी प्रकार प्रथम अंक में इन्द्र को ब्रह्म-हत्या लगना, उसका भागना, यह समाचार बीज है, नहुष का इन्द्र-पद पाना बिन्दु, इन्द्राणी पर मुग्ध होकर उसे प्राप्त करने का नहुष का प्रयत्न पताका है और उसका शापभ्रष्ट होना प्रकरी है। इन्द्र का पुनः इन्द्रासन प्राप्त करना कार्य है।

आनन्द-रघुनन्दन की ही भाँति 'नहुष' नाटक मे नान्दी, सूत्रधार, प्रस्तावना आदि मिलते है।

उपर्युक्त दोनो नाटको के सम्बन्ध मे कोई निश्चित मत स्थिर किया जाना सभव नही है, क्योंकि 'आनन्द-रघुनन्दन' पद्य-प्रधान होने से 'रास-परम्परा' की ओर झुका हुआ प्रतीत होता है, जबकि 'नहुष' शुद्ध साहित्यिक शैली का गम्भीर नाटक प्रतीत होता है और उसमे भी पद्य का प्रयोग हुआ है। काव्यात्मक नाट्य-रचनाओ मे निर्विवाद रूप से यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि 'नहुष' नाटक नाटकीय-तत्त्वों के आधार पर साहित्यिक नाटकों में पहला हिन्दी नाटक है।[1]

डा० भानुदेव शुक्ल 'नहुष' को हिन्दी का प्रथम नाटक स्वीकार नही करते हैं। उसके स्थान पर उनके मत मे 'आनन्द-रघुनन्दन' ही हिन्दी का प्रथम नाटक माना जाना चाहिए।[2] किन्तु डा० भानुदेव शुक्ल का मत 'नहुष' नाटक के

---

१. हिन्दी नाटक, उद्भव और विकास, पृष्ठ १५०

२. भारतेन्दु-युगीन हिन्दी नाट्य-साहित्य, पृष्ठ १३

द्रष्टव्य—डा० भानुदेव शुक्ल आनन्द-रघुनन्दन को पहला हिन्दी नाटक मानते हैं। उन्होंने लिखा है— 'नहुष' गद्य-भाषा के नाटकों में भी स्थान नहीं पा सकता है। काव्यात्मक नाट्य-रचनाओं में सर्वाधिक सफल रचना भले ही मान ली जावे; तथापि यह निर्विवाद रूप से स्वीकार करना होगा कि 'आनन्द-रघुनन्दन' को पर्याप्त नाट्य-तत्त्वों के कारण नाटक की कोटि में रखना होगा तथा पूर्व रचित नाटकों को नाटकीय-तत्त्वों के अभाव में नाटक की कोटि में न रखने के कारण 'आनन्द-रघुनन्दन' को हिन्दी का प्रथम नाटक मानना उपयुक्त होगा।

अनुपलब्ध होने के कारण स्थापित हुआ प्रतीत होता है । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने तत्कालीन परिस्थितियो के आधार पर 'नहुष' नाटक की रचना कालान्तर मे रचे जाने वाले हिन्दी नाटको की प्रेरणा का आधार स्वीकृत किया है । ऐसी स्थिति मे 'नहुष' नाटक के सम्बन्ध मे नए प्रकार से विचार करना उचित होगा ।

भारतेन्दु-पूर्व हिन्दी नाटकों की तालिका मे रास-शैली के नाटक, संस्कृत प्रभावों से युक्त नाटक तथा अंग्रेजी नाटकों के अनुवाद ही प्रधान रूप से पाये जाते हैं, किन्तु उनमें पर्याप्त रूप से वे सूत्र प्राप्त हो जाते हैं जिनका उपयोग भारतेन्दु ने बदली हुई परिस्थितियों के अनुसार किया । भारतेन्दु ने यह अनुभव किया कि केवल सस्कृत परिपाटी पर नाटको को ग्रहण करने की मनःस्थिति मे भारतीय जनता नहीं है और न ही पारसी रगमच की 'इन्दरसभा' आदि भ्रष्ट शैली ही हमारी नाट्यकला को हृदयगम कर सकती है । उन्होंने यथार्थवादी दृष्टि को अपना कर नाटक रचना की । फलतः उनके सहयोगियो ने भी उसी का अनुसरण किया ।

●●

अध्याय : चार

भारतेन्दुयुगीन नाटक - वर्ण्य विषय।

वर्गीकरण और प्रतिनिधि नाटकों का परिचय

भारतेन्दु और उनके समकालीन नाटककारो ने तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक परिस्थितियो से अपने को सम्बद्ध कर, प्राचीन परम्परा और संस्कृत नाट्य-शिल्प के महत्व को स्वीकार करते हुए भी, जिन नाटको की रचना की वे सोद्देश्य तथा लोकमंगल की भावना से ओतप्रोत हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का संपूर्ण जीवन हिन्दी को "नई चाल" मे ढालने तथा नई विधाओ को जन्म देने और साहित्य-सृजन के द्वारा देशवत्सलता के आदर्श को स्थापित करने में ही बीता है, तथापि, हिन्दी नाटको के समर्थ रचनाकार होने के नाते उनकी दृष्टि अपने समाज की परिस्थितियो और राजनैतिक, धार्मिक समस्याओ की ओर भी गई। वर्ण्य विषय की दृष्टि से भारतेन्दुकालीन नाटको मे समस्याओं की विविधता और मार्मिकता सर्वत्र व्याप्त होती है, यह बात दूसरी है कि सभी नाटककारो का शिल्प भले ही उसे उत्कृष्ट कृति के रूप में प्रस्तुत न कर सका हो।

जैसा कि पीठिका भाग मे भारतेन्दुयुगीन राष्ट्रीय, धार्मिक, सामाजिक परिस्थितियो का उल्लेख किया गया है -

मुसलमानो के शासनकाल से अंग्रेजो के शासनकाल में सामान्य जनता धार्मिक दृष्टि से अपने को स्वतन्त्र और अपने विश्वासो के प्रति श्रद्धा प्रकट करने मे सक्षम अनुभव कर रही थी। उत्तरमध्यकाल मे साहित्य-प्रतिमा धर्म के साथ श्रृंगार और रीति-परंपरा से सबद्ध हो गयी थी, किन्तु भारतेन्दु-युग मे आकर, पठनपाठन और अंग्रेजी साहित्य के सम्पर्क के फलस्वरूप अपनी धार्मिक प्रवृत्ति को पुनः जागृत कर, आस्थावान भारतीय जनता को अपने धार्मिक विश्वासो को प्रकट करने की थी। समाज में धर्म के आधार पर ही पुनर्जागरण के कार्य को

आगे बढ़ाया जा सकता है, यह संभवतः उस काल के मत-प्रवर्तक और प्रबुद्ध व्यक्ति जानते थे। फलतः पौराणिक आख्यानों को लेकर अनेक नाटकों की सृष्टि की गयी, जिनमे धार्मिक सिद्धान्तों की पुष्टि, अपने इष्ट की लीला तथा जनता के मनोरंजन का समन्वित रूप दृष्टिगत होता है। राम और कृष्ण को चरित-नायक के रूप मे प्रस्तुत किया गया।

एक ओर धार्मिक प्रवृत्ति के नाटकों की रचना हो रही थी तो दूसरी ओर धार्मिक और नैतिक अराजकता के कारण उस काल के नाटककारों का ध्यान समाज की ओर था। धार्मिक और सामाजिक समस्याओ के हल करने में उन्होंने संपूर्ण शक्ति ही लगा दी। साहित्यिक नाटको की अपेक्षा प्रहसन और व्यंग रचनाओ की प्रधानता होने लगी। वास्तव मे पाश्चात्य कॉमेडी के आधार पर भारतेन्दुयुगीन लेखको ने सामाजिक और राजनैतिक कुरीतियों और दुर्बलताओं पर व्यंग किया। हिन्दी मे इस प्रकार का प्रहसन भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" है। मासाहारी, मद्यप, पशुबलि करने वालो का मजाक बनाया गया। इसी प्रकार निम्नलिखित विषयो पर अधिक प्रहसन लिखे गये :—

बहुविवाह, वेश्यावृत्ति, बालविवाह, स्त्रियो की हीनदशा, अविद्या, सूदखोरी, आचारहीनता, पश्चिमी खानपान, फैशन और अंग्रेजी शिक्षा, सामाजिक और धार्मिक कर्मकाण्ड, पुरोहितो, पण्डो और ज्योतिषियों का आधिपत्य, स्वार्थ का ध्यान रखकर दान, आदि।

प्रहसनो द्वारा समाज-सुधार का आन्दोलन पश्चिम मे पहले से प्रचलित था। भारतेन्दुयुगीन नाटककारो ने उससे प्रभावित होकर बहुतायत में ऐसे नाटको की रचना की, यद्यपि यह प्रश्न विचारणीय है कि समाज-सुधार का यह प्रयोग मात्र प्रलाप ही सिद्ध हुआ। न उसमे साहित्यिक नाटको को कोई गरिमा प्राप्त हुई और न सामाजिक चेतना को ही बल मिला, किन्तु तत्कालीन समाज के मानसिक दौर्बल्य को इन हास्यरसात्मक ग्रथो ने शिथिल किया, इसमे दो मत नही हो सकते।

सामाजिक जीवन में उत्थान और जनजागरण की भावना से प्रभावित होकर, इस काल में बहुत कम किन्तु महत्वपूर्ण ऐतिहासिक नाटको की सृष्टि भी हुई। ऐतिहासिक और राजनैतिक नाटक की मूल प्रेरणा देशवत्सलता की भावना के फलस्वरूप ही मानना उचित होगा। स्वय भारतेन्दु ने अनुवाद के लिए तथा मौलिक रचना के लिए ऐसे पात्रो और कथानको को चुना, जिनमें इतिहास के

संदर्भ मे अपने देश पर मिटने की आन और धर्म तथा जाति-रक्षा के लिए समर्पण का भाव था। देशवत्सल नाटको की दूसरी श्रेणी राष्ट्रीय नाटकों की है, जिसमें देश की वास्तविक स्थिति को लेखकों ने प्रस्तुत करने की चेष्टा की। फलत. नाटक मे सामाजिक और धार्मिक वर्ण्य विषय ही नही आए वरन् राष्ट्रीय और ऐतिहासिक वर्ण्य विषयो पर भी नाट्य-रचना हुई। सामाजिक नाटकों को एक प्रकार से समस्या-नाटक ही कहा जा सकता है, किन्तु बाद मे जिस प्रकार के समस्या-नाटक पूर्व तथा पश्चिम मे लिखे गये, उनसे भारतेन्दुयुगीन हास्य-व्यंग-प्रधान सामाजिक नाटक भिन्न हैं।

भारतेन्दुयुगीन नाटककारो ने संस्कृत की नाट्य-शैली के महत्व को पुनरुत्थान की दृष्टि से स्वीकार किया है, किन्तु नाटकों मे प्राप्त रूपगत और शिल्पगत स्थितियों को दृष्टिगत रखते हुए यह कहा जा सकता है कि उन्होंने उस काल में प्रचलित पाश्चात्य नाटको से भी प्रभाव ग्रहण किया। न तो ये नाटक नाट्यशास्त्रीय परंपरा के नाटक हैं और न ही वे पश्चिम की नकल, किन्तु तत्कालीन परिस्थितियो के अनुसार उनमे अपनी शैली ही विकसित हुई है। संस्कृत नाटकों की परंपरा में दुखान्त नाटको के लिए कोई स्थान नही है, किन्तु भारतेन्दुयुगीन नाटको में लौकिक प्रेमयुक्त और दुखान्त नाटक भी लिखे गए। इस दृष्टि से हिन्दी नाटको मे यथार्थ के प्रारंभ का प्रथम उत्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इन नाटको ने पारसी कम्पनी के फूहड प्रेम-प्रसंग नाटको को पीछे छोड़ दिया और नये रूप मे इन प्रसंगो की अवतारणा की, यद्यपि ऐसे नाटको की संख्या अधिक नही है।

वर्ण्य विषय, वाद तथा प्रभाव की दृष्टि से भारतेन्दुयुगीन नाटकों को अनेक वर्गों में विभक्त किया गया है।[१]

भारतेन्दु के नाटको को वाद के विचार से पाँच भागों मे विभक्त कर सकते हैं – (१) आदर्शवादी (२) यथार्थवादी (३) स्वच्छन्दतावादी (४) समाज-सुधारवादी (५) राष्ट्रवादी। भारतेन्दु के समसामयिक एवं परवर्ती नाटककारो ने इन पाँचो प्रकार की धाराओ को अधिक वेगवती बनाया। आगे चल कर आदर्शवादी नाटकों की दो धाराएँ हो गई—पौराणिक और ऐतिहासिक।

डा० मनुदेव शुक्ल के मतानुसार भारतेन्दुयुगीन नाटको का वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है – (१) पौराणिक नाटक, (२) प्रेम-प्रधान नाटक

१. द्रष्टव्य : डा० दशरथ ओझा का मत, हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, पृ० २०७

(३) प्रतीक शैली के नाटक, (४) सामाजिक नाटक (५) प्रहसन (६) ऐतिहासिक नाटक। दृष्टव्य "भारतेन्दुयुगीन हिन्दी नाट्य-साहित्य"

जितने प्रकार के नाटक भारत तथा अन्य देशों में प्राप्त हुए हैं और हो रहे हैं, उनका वर्गीकरण कई दृष्टियों से किया जा सकता है— (१) विषय (२) रंगमच, (३) प्रदर्शन-विधि, (४) प्रभाव, (५) रचना, (६) उद्देश्य, (७) समाज या दर्शक तथा (८) पात्र।

१. विषय के अनुसार नाटक निम्नलिखित प्रकार के हो सकते हैं :— (क) पौराणिक ख) ऐतहासिक (ग) प्रतीकात्मक (घ) रूढ (ङ) मौलिक (सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, वैज्ञानिक, घरेलू तथा नैतिक आदि) । इतने सब भेद होते हुए भी हम सामान्यतः विश्व के नाटकों को निम्नलिखित छः वर्गों में बांट सकते है— (१) कथा-प्रधान (२) चरित्र-प्रधान (३) व्यापार-प्रधान (४) संगीत-प्रधान (५) उद्देश्य-प्रधान (६) संवाद-प्रधान।[1]

वस्तुतः कथावस्तु के आधार पर किया गया निम्नलिखित वर्गीकरण उचित प्रतीत होता है :—

(१) पौराणिक, (२) ऐतिहासिक, (३) सामाजिक और (४) प्रतीक नाटक।

पौराणिक और ऐतिहासिक नाटक आदर्शवादी कहे जा सकते हैं। सामाजिक नाटको में आदर्श और यथार्थ को लेकर तीन धाराएँ प्रवाहित हुई — (१) प्रेम-प्रधान नाटक (२) सुधारवादी नाटक (३) प्रहसन, व्यंग आदि। और प्रतीक नाटक राजनैतिक धरातल पर रचे गए हैं।

इस प्रकार भारतेन्दुयुगीन नाटको का उपर्युक्त वर्गीकरण आलोच्यकाल मे रचित नाटको की समस्त सामग्री को अंगीकृत कर, कालान्तर में चलनेवाली हिन्दी नाट्य-परपरा को प्रशस्त करता है। 'वाद' तथा शैली आदि के आधार पर भी भारतेन्दुयुगीन नाटकों का वर्गीकरण किया जा सकता है किन्तु हिन्दी नाटक के उस प्रारंभिक उत्थान-काल में इस आधार पर किया जाने वाला वर्गीकरण विशेष उपयोगी सिद्ध नही होगा, क्योकि भारतीय नाट्य-शास्त्र के अनुसार कथावस्तु और पाश्चात्य नाट्यशास्त्र के अनुसार प्लॉट दोनों ही उस काल के प्रधान तत्त्व थे। पात्रों की सृष्टि मे वैचित्र्य के लिए संभावनाएँ तो थी किन्तु सामाजिक सुधारवादी आन्दोलन और आर्य समाज की निश्चित आदर्शवादी दृष्टि के फलस्वरूप स्वतंत्र नाट्य-तत्त्वों का विकास सम्भव नही था। नाटककार की दृष्टि अपने उद्देश्य प

१. पं० सीताराम चतुर्वेदी, 'भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच', पृष्ठ ११३-११५

ही गड़ी रहती थी और सुधारवादी दृष्टि के कारण नाट्य-कला के मौलिक उत्थान के लिये अवसर ही नही था। यही कारण है कि उपर्युक्त वर्गीकरण के आधार के बाद भी नाटक कही जाने वाली रचनाएँ अधिक नही है। विशेष रूप से भारतेन्दु युगीन पौराणिक और सुधारवादी नाटक तथा प्रहसन, जिनको हास्यरसात्मक रचनाएँ कहा जा सकता है, भाषा और नाटकीय कौशल की दृष्टि से महत्वहीन हैं।

उपर्युक्त आधार पर भारतेन्दुयुगीन नाट्य-साहित्य का वर्गीकरण विस्तार से किया जा सकता है।[1] (देखिये परिशिष्ट २)

इस परिशिष्ट २ से भारतेन्दुयुगीन नाट्य-साहित्य का परिचय प्राप्त होता है, किन्तु प्रमुख रचनाओ की कथावस्तु और विवरण के बाद ही उस काल की नाट्य-कला पर समीक्षा की जानी चाहिये। प्राप्त प्रमुख नाटकों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :—

१. (अ) राम-कथा पर आधारित नाटक

१—जानकी-मंगल (१८६८ ई०)। श्री शीतल प्रसाद त्रिपाठी कृत जानकी-मंगल भारतेन्दुयुगीन नाटको मे एक प्रमुख नाटक है। स्वय भारतेन्दु ने इस नाटक मे अभिनय किया था। इसके दर्शको में काशी-नरेश महाराज ईश्वरीप्रसाद

---

१. द्रष्टव्य : डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय का मत—

"परन्तु यह कहे बिना नहीं रहा जा सकता कि हिन्दी के हास्य-रसात्मक ग्रन्थों में अधिकतर अर्थहीन प्रलाप देखने को मिलता है। हास्य निम्न श्रेणी का है और व्यंग प्राणहीन। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, देवकीनन्दन त्रिपाठी, राधाचरण गोस्वामी को छोड़कर अन्य लेखको ने उच्च कोटि के तीक्ष्ण व्यंग की सृष्टि नहीं की है। उनका परिहास असंगत और स्वाभाविकता की सीमा का उल्लंघन करने वाला है। मालूम होता है कि जबर्दस्ती हास्य और व्यंग प्रकट करने का प्रयत्न किया जा रहा है। एक तो पराधीन देश का हास्य ही क्या, दूसरे, इन रचनाओं के पात्र समाज की निम्न श्रेणी के हैं। अधिकांश पात्रों में हमें कोई बुड्डा वर शिशु, वेश्या, कुट्टनियाँ, चरित्रहीन स्त्रियाँ, नशेबाज, सोदा महाजन, मसखरा और वाक्य-पटु नौकर, ओझा आदि ही मिलते हैं।'

आधुनिक हिन्दी साहित्य, पृ० २५३, संशोधित एवं परिष्कृत संस्करण १९५८।

नारायणसिंह भी थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में लिखा है कि इस नाटक का विवरण ८ मई १८६८ के 'इंडियन मेल' में प्रकाशित हुआ था। रामकथा पर आधारित यह नाटक अभिनय की दृष्टि से एक सफल नाटक माना जाता है। इस नाटक का वर्ण्य विषय पारंपरिक है तथा रामचरित-मानस के आधार पर खेले जाने वाले लोक-नाट्य "राम-लीला" से प्रभावित है।

२—रामलीला वा नाटकाकार रामायण, (१८८२ से १८८८ ई०)। श्री दामोदर शास्त्री सप्रे कृत रामलीला नाटक सात भागों में प्रकाशित हुआ है। यह नाटक रामकथा पर आधारित है एवं इसकी रचना प्राचीन परम्परा पर गद्य-शैली मे की गई है। संस्कृत-प्रधान शब्दावली के साथ फारसी शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। रामलीला के ढग पर विरचित इस नाटक में कहीं-कही अति मानवीय घटनाओं की सृष्टि हुई है। कही पर काल-दोष है, जैसे बालकाण्ड में विदूषक त्रेता युग में तार, डाक आदि का उल्लेख करता है।[1]

३—सीता-स्वयवर, (१६०० ई०)। श्री दामोदर शास्त्री सप्रे की दूसरी रचना भी रामलीला की शैली पर है। वर्ण्य विषय के अनुसार ही नाटक का नामकरण हुआ है।

४—सीताहरण, (१८६५)। श्री बंदीदीन कृत सीताहरण नाटक रामलीला की शैली पर रचा गया है। इस नाटक मे जटायु-वध तक की रामकथा को कथावस्तु के आधारस्वरूप लिया गया है। नाटक मे तुलसीदास कृत "रामचरित-मानस" की दोहा-चौपाइयो को विशेष रूप से और अधिक मात्रा मे उद्धृत किया गया है। भाषा मे अनुप्रास का आग्रह अस्वाभाविकता को जन्म देता है।[2]

५—प्रेमवाटिका, (१८६२ ई०)। कुमार राजेन्द्र बहादुर सिंह विरचित यह नाटक अधिकाशतः पद्य मे लिखा गया है। बीच-बीच में कही-कहीं गद्य का प्रयोग हुआ है, यथा सकेत आदि के रूप में। ग्रंथ में अनेक कवियों के पद्य, जैसे तुलसी, केशव, तथा वाल्मीकि कवि के श्लोकों की भरमार है। रचना सामान्य कोटि की है।

६—रामयश-दर्पण, (१८६२ ई०)। रामयश-दर्पण श्री शिवशंकर लाल

१. दामोदर शास्त्री सप्रे—रामलीला, बालकाण्ड, पृष्ठ १८

२. दृष्टव्य—नाटक है या करुणा का फाटक है या यों कहिए कि चित्त की उद्विग्नता का उच्चारक है। बंदीदीन कृत श्री सीताहरण नाटक—पृ० ४

बाजपेयी का लगभग छः सौ पृष्ठो का नाटक है। नाटककार ने स्वीकार किया है[1] कि तुलसी, केशव आदि कवियो के उद्धरण लेकर यह संग्रह-ग्रंथ-रूपी नाटक तैयार हुआ है, जिसका उद्देश्य लीला लिखना ही प्रमुख है। बीच-बीच मे गद्य का प्रयोग भी हुआ है, किन्तु उसमे भी लेखक को सफलता नही मिली है।

७—अथ रामचरित नाटक, (१८९४ ई०)। इस नाटक के रचयिता श्री जयगोविंद मालवीय हैं, जिन्होंने वनगमन से लेकर रावणवध तक की कथा का नाटक में उपयोग किया है। इस नाटक की एक विशेषता यह है कि अंक के स्थान पर इसमें 'पहले दिन की लीला', 'दूसरे दिन की लीला' का उल्लेख हुआ है। लीला के आधार पर रची इस रचना को "नाटक" कहना या लेखक द्वारा उसके शीर्षक के साथ "नाटक" उल्लेख करना इस बात को प्रकट करता है कि लेखक ने लीला-शैली के नाटक की रचना की है, यद्यपि कुछ समीक्षक उसके इस मत से सहमत नही होते।[2]

८—सीता-वनवास, (१८९५ ई०)। श्री ज्वालाप्रसाद मिश्र द्वारा रचित यह नाटक वास्तव में महानाटक[3] की कोटि का नाटक है। यह नाटक संगीत शैली की एक रचना मात्र है जिसकी भाषा शिथिल है।

(आ) कृष्ण-कथा पर आधारित नाटक

९—सुदामा नाटक, (१८७० ई०)। बाबू शिवनन्दन सहाय कृत सुदामा नाटक अथवा कृष्ण-सुदामा नाटक[4] में तीन अक है, तथा गद्य-पद्य दोनो ही शैलियो मे इसकी रचना हुई है। यह एक छोटा नाटक है, भाषा के प्रयोग सामान्य और प्रभावहीन हैं।

---

१. तुलसी, केशव और बहुत सुकवि मति धाम,
तिनकी कविता ले करन संग्रह बुधि विश्राम॥
ठीक होत लीला नहीं बिन नाटक की रीति,
गहि मारग नाटकहि की चलो हिए करि प्रीति॥
—रामयश-दर्पण पृ० ५

२. द्रष्टव्य डा० भानुदेव शुक्ल का मत—'शीर्षक स्थल पर नाटक शब्द जोड़ना उचित नहीं था।' भारतेन्दुयुगीन हिन्दी नाट्य-साहित्य, पृ० ६४।

३. द्रष्टव्य : भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का मत, भा० ग्रं०, पृ० सं० ७१८

४. द्रष्टव्य : हिन्दी नाटक, उद्भव और विकास—डा० दशरथ ओझा, पृ० १९९।

१०—चन्द्रावली नाटिका, (१८७६)। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के मौलिक नाटकों मे चन्द्रावली नाटिका सर्वश्रेष्ठ मानी गई है। इस नाटिका में भारतेन्दु के वैष्णव-प्रेम की चरम अभिव्यक्ति प्राप्त होती है। वल्लभसम्प्रदाय के अन्तर्गत प्रेमलक्षणा भक्ति का इस नाटिका में प्रमुख स्थान है। प्रथम तीन अंकों मे चन्द्रावली अपनी सखियों एवं वनदेवी, वर्षा, संध्या के सामने कृष्ण से मिलने की तीव्र आकांक्षा व्यंजित करती है और विप्रलभ की अन्तर्दशाओ के माध्यम से, मार्मिक और काव्योचित अभिव्यक्ति के द्वारा, लेखक नाटिका में सजीवता की सृष्टि करता है। तीसरे अंक में वियोग की चरम स्थिति कृष्ण-मिलन की योजना के साथ मार्मिक हो जाती है, किन्तु चौथे अंक की रचना लीला-शैली पर हुई है, जिसमे श्रीकृष्ण गेरुआ साडी पहनकर, हाथ मे सारंगी लिए हुए, चन्द्रावली के सिंह-द्वार से राजप्रसाद मे पहुँच कर, उसके प्रेम की परीक्षा लेते हैं। कथावस्तु के स्थान पर प्रधान चरित्र के मनोवेगो की सृष्टि के कारण नाटिका के लक्षणों के अनुसार यह नायिका प्रधान है।

११—राधामाधव, (१८७९ ई० में प्रकाशित 'सार-सुधानिधि', अपूर्ण) राधामाधव नाटक के रचयिता ताडव पडित हैं। नाटक के प्रारम्भ मे दो श्लोको मे राधा-कृष्ण की वन्दना की गई है। प्रस्तावना भी नाटकार ने दी है। नाटक की भाषा खडी बोली है पर शैली रास-परम्परा की। वाक्यों का प्रयोग दुरूह और पांडित्यपूर्ण है। समास-पद्धति अपनाई गई है।

१२—ऊषा-हरण, (१८९१)। कार्तिक प्रसाद द्वारा रचित यह नाटक ऊषा—अनिरुद्ध की प्रेम-कथा पर आधारित है। कथा-प्रसंग मे बाणासुर अनिरुद्ध को बन्दी बना लेता है। श्रीकृष्ण अनिरूद्ध की मुक्ति हेतु पहुँचते हैं। बाणासुर के पक्ष मे स्वय महादेव हैं। भयकर युद्ध होता है। अन्त मे स्वय बाणासुर अपनी कन्या अनिरूद्ध को सौंपता है। नाटक में चार अंक हैं। पद्य-भाग की बहुलता के कारण नाटक में शिथिलता है। यद्यपि रचना ब्रजभाषा में नहीं की गई है तथापि ब्रजभाषा से विशेष प्रभावित है।

१३—महारास, (१८८५ ई०)। लाल खड्गबहादुर मल्ल (मझोली नरेश) ने कई नाटकों की रचना की थी। पौराणिक नाटकों में महारास नाटक चार अंकों में समाप्त होता है। इसकी कथा महाभारत के आधार पर श्रीकृष्ण की रास-लीला की ही कथा है और उसी के अनुसार इसका नामकरण भी किया गया है। नाटक में भी "रास-शैली" को अपनाया गया है। गर्भांको का रूप झाँकियों ने ले लिया है। भाषा खड़ी बोली है किन्तु ब्रजभाषा पद्य के कारण गद्य-शैली पर भी

व्रजभाषा का प्रभाव है।

१४—कल्पवृक्ष नाटक, (१८८८ ई०) । लाल खड्गबहादुर मल्ल द्वारा रचित कल्पवृक्ष नाटक हरिवंश पुराण की कथा पर आधारित है। कथा-सार संक्षेप मे इस प्रकार है कि नारद श्रीकृष्ण को कल्पवृक्ष का एक पुष्प देते हैं, श्रीकृष्ण वही पुष्प रुक्मिणी को दे देते है। जब यह समाचार सत्यभामा के पास पहुँचता है तो वे रूठ जाती हैं। सत्यभामा को प्रसन्न करने के लिए श्रीकृष्ण कल्पवृक्ष को सत्यभामा के आँगन में लगाने की प्रतिज्ञा करते हैं। देवराज इन्द्र उनकी प्रतिज्ञा पूरी होने में बाधा पहुँचाते है और इन्द्रपुरी में युद्ध होता है। कश्यप आदि के समझाने से अन्त मे श्रीकृष्ण कल्पवृक्ष को सत्यभामा के आँगन मे लगाने मे सफल हो जाते है और इस प्रकार यह नाटक चार अकों में समाप्त हो जाता है। कथावस्तु के विस्तार के कारण नाटक की अभिनेयता संदिग्ध मानी गई है[१] यद्यपि सुविकसित रंगमच पाकर नाटक अभिनीत किया जा सकता है। भाषा पर लाल खड्गबहादुर मल्ल का विशेष अधिकार था, इसीलिए भावात्मक प्रवाह की दृष्टि से नाटक एक उत्तम कृति है।

१५— उद्धव-बशीठि, (१८८७ ई०) । श्री विद्याधर त्रिपाठी कृत नाटिका उद्धव-बशीठि गद्य-पद्य-मय रचना है। खडी बोली गद्य में कुछ संकेत लेखक ने दिये है, किन्तु उसका मूल स्वर ब्रजभाषा का ही माना जावेगा। कथा संक्षिप्त और सुपरिचित है। गोपिकाएँ श्रीकृष्ण के पास "पत्री" भेजती हैं। मनसुखा उस पत्री को श्रीकृष्ण तक पहुँचाते हैं। उस पत्री के उत्तर मे श्रीकृष्ण जी उद्धव को योग का संदेश देकर भेजते हैं किन्तु गोपिकाएँ तो उनके प्रेम की ही इच्छुक हैं। योग और प्रेम में प्रेम-मार्ग की विजय ही लेखक का उद्देश्य है। फलत: श्रीकृष्ण प्रकट होकर दर्शन देते हैं।

नाटिका मे प्रेम और विरह की प्रधानता है तथा वल्लभसम्प्रदाय की स्पष्ट छाप है। भाषा का प्रयोग सरस तथा हृदय-ग्राही है, यद्यपि नाटकीय घटनाओ का अभाव है।

१६—मोरध्वज, (रचनाकाल अज्ञात) । लाला शालिग्राम वैश्य द्वारा रचित नाटक मोरध्वज स्वाँग-मंडलियों मे अत्यधिक प्रचारित हुआ है । मोरध्वज

---

१. द्रष्टव्य : डा० भानुदेव शुक्ल का मत—नाटक रंगमंच के अनुकूल नहीं है। चतुर्थ अंक में इन्द्र तथा श्रीकृष्ण का युद्ध तथा नाटक में गरुड़, ऐरावत आदि ऐसे पात्रों का होना, जिनको रंगमंच पर प्रस्तुत करना आसान नहीं है, इसकी दुर्बलताएँ हैं। भारतेन्दुयुगीन नाट्य-साहित्य- पृ० ६८।

की कथावस्तु में महत्वपूर्ण भाग है श्रीकृष्ण तथा अर्जुन द्वारा श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त मोरध्वज की परीक्षा। इस नाटक की रचना खड़ी बोली में हुई है। गद्य के साथ पद्य का प्रयोग भी सफल कहा जा सकता है।

१७—प्रभास-मिलन, (१८९९ ई०)। श्री बलदेव प्रसाद मिश्र (मुरादाबाद निवासी) द्वारा रचित प्रभास-मिलन[१] की कथा यशोदा के सौ वर्ष के वियोग के पश्चात श्रीकृष्ण के मिलने के प्रसंग पर आधारित है। यह प्रसग अविश्वसनीय है, किन्तु धार्मिक मान्यताओ के आधार पर रचित नाटक मे ऐसी कथावस्तु का भी प्रायः उपयोग किया जाता रहा है। वातावरण-सृष्टि की दृष्टि से नाटक में अनेक दोष हैं। प्रधान रूप से ब्रजभाषा का प्रयोग हुआ है। कहीं-कहीं खड़ी बोली का उपयोग भी किया गया है।

१८—प्रद्युम्न-विजय-व्यायोग, (१८९३ ई०) पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' रचित 'प्रद्युम्न-विजय' नाटक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के संस्कृत अनुवाद धनजन-विजय' की परम्परा में लिखा गया है।[२] गद्य के साथ पद्य का उपयोग भी लेखक ने किया है। वास्तव में व्यायोग के लक्षणानुसार श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न के शौर्य का चित्रण ही इस नाटक की उपलब्धि है।

१९—श्री रुक्मिणी-परिणय, (१८९४)। हरिऔध का दूसरा प्राप्त नाटक 'श्री रुक्मिणी-परिणय' है, यद्यपि हरिऔध ने इसे अपना पहला ग्रंथ कहा है[३] तथापि उसका प्रकाशन बाद में हुआ है। नाटक के अंको की संख्या ९ है। खड़ी बोली गद्य में इसकी रचना की गई है। किन्तु पद्य और वह भी अवधी भाषा मे, इस नाटक की विशेषता है। नाटक मे घटना-प्रवाह शिथिल है, भाषा बोझिल है और संस्कृत तत्सम शब्दों की भरमार है।

---

१. डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने 'प्रभास-मिलन' के रचयिता के रूप में दुर्गाप्रसाद के नाम का उल्लेख किया है। यह बंगभाषा के 'प्रभास-युग' का रूपान्तर कहा जाता है। भा० हिन्दी साहित्य, पृ० ११३।

२. यदि मम रचित इस प्रद्युम्न-विजय-व्यायोग में (जिसको मैंने भाषा कवि चूड़ामणि भारतेन्दु बाबू-हरिश्चन्द्र गोलोक निवासी के संस्कृत अनुवादित धनंजयविजय-व्यायोग की छाया लेकर निर्मित किया है) महा-महा अशुद्धियाँ, बड़े-बड़े भ्रम हों तो कोई विचित्र बात नहीं है। प्रार्थना शीर्षक, प्रद्युम्न-विजय-नाटक—पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'।

३. द्रष्टव्य : श्री रुक्मिणी-परिणय : प्रार्थना भाग।

२०—श्री युगल-विहार नाटक, (१८९६ ई०) द्विज कृष्ण दत्त द्वारा रचित श्री युगल-विहार नाटक कृष्ण-रास पर आधारित एक सामान्य नाटक है। गद्य-भाग अत्यल्प है तथा भाषा भी ब्रजभाषा है। ग्रंथ में पद्य और उसके विविध छन्दो का प्रयोग हुआ है। चौपाई अवधी भाषा में, शेष छन्द ब्रजभाषा मे हैं। ब्रजभाषा में भी उर्दू आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। इस नाटक में दस अंक हैं।

(इ) अन्य पौराणिक नाटक

२१—कीर्तिकेतु, (१८७३ ई०), नाटककार बाबू तोताराम। यह नाटक 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' में प्रकाशित हुआ था,[१] किन्तु अपूर्ण ही प्राप्त है। इस नाटक मे गद्य और पद्य दोनों का प्रयोग हुआ है। भाषा में प्रवाह नही है।

२२—प्रहलाद नाटक, (१८७४ ई०)। श्री मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या कृत भक्त प्रहलाद की कथा पर आधारित यह नाटक 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' के १५ अप्रेल, १८७४ ई० के अंक में प्रकाशित हुआ था। नाटक मे गद्य का प्रयोग किया गया है किन्तु उसकी शैली में पंडिताऊपन है। पौराणिक कथा के आधार पर तत्कालीन ब्रिटिश-शासन पर व्यंग भी लेखक का एक उद्देश्य है, यद्यपि देशकाल की दृष्टि से यह दोषपूर्ण प्रयास है।

२३—श्री प्रहलाद-चरित्र, (१८८८ ई०)। लाला श्रीनिवास दास का यह नाटक प्रहलाद-कथा पर आधारित है तथा इसमें ग्यारह दृश्य हैं। पद्य-भाग अधिक नही है। इस नाटक में कथा की प्रस्तावना विष्णु-लोक के द्वारपाल जय-विजय को श्राप देने से संबद्ध है और इस प्रकार एक पूर्ण कथा की सृष्टि करती है। सूत्रधार-रहित यह नाटक भाषा की दृष्टि से संस्कृत से प्रभावित है। नाटक में हास्य-प्रसंगों की भी योजना है किन्तु निम्न कोटि की हास्य-योजना से नाटक की गति शिथिल हो जाती है। रंगमंच और अभिनय कला की दृष्टि से नाटक सफल माना जा सकता है।

२४—प्रहलाद-चरितामृत, (१९०० ई०)। श्री जगन्नाथ शरण का नाटक प्रहलाद-चरितामृत एक धार्मिक पौराणिक आख्यान का पठनीय ग्रंथ है, जिसमें पद्य-शैली का अनुकरण किया गया है। गद्य अत्यल्प है। 'विनय-पत्रिका' के पदों का नाटककार ने उपयोग किया है और साथ ही कोष्टक मे उसका उल्लेख भी किया है।

२५—गोपीचन्द, (१८९६ ई०)। श्रीमती लालीजो का गोपीचन्द नाटक खड़ी बोली गद्य के साथ, बँगला, गुजराती, मराठी गीतों का मिश्रित प्रयोग

१. द्रष्टव्य : 'हरिश्चन्द्र मैगजीन', अंक १५ नवम्बर, १८७३ ई०

है। इसमे गीतो की प्रधानता है। लालीजी ने अपनी भूमिका में लिखा है कि उनका नाटक "इन्दर सभा" की शैली पर नहीं रचा गया। हिन्दी में अपनी शैली पर मौलिकता के साथ नाट्य-लेखन के प्रति उनका आग्रह है। इस नाटक की रचना रास-शैली पर हुई है।

२६—भर्तृहरि-राजत्याग, (रचनाकाल अज्ञात)। बाबू कृष्ण बलदेव वर्मा के नाटक भर्तृहरि-राजत्याग की रचना १९०० ई० के पूर्व होने का अनुमान है। यह नाटक १८८३ ई० के पूर्व नही लिखा गया।[1] नाटक में तीन अंक हैं किन्तु पृष्ठ सख्या अनुमान से अधिक है। इसका कारण है नाटककार ने बड़े-बड़े भाषण व सस्कृत के श्लोकों को उद्धृत किया है। रचना-शैली प्राचीन पद्धति पर है। रस की सृष्टि करने के स्थान पर वैराग्यपरक उपदेशों के कारण नाटक और भी नीरस हो गया है। कथा-प्रवाह मे शिथिलता है

२७ दमयन्ती-स्वयंवर, (१८९२ ई०)। नल-दमयन्ती-कथा पर आधारित बालकृष्ण भट्ट की नाट्य-रचना दमयन्ती-स्वयंवर सन् १८९५ ई० में पुस्तकाकार रूप मे प्रकाशित हुई।[2] इस नाटक की कथावस्तु नल-दमयन्ती के श्रवण-प्रेम से प्रारम्भ होती है। उसके पश्चात् राजा नल का स्वर्ण-हंस द्वारा पत्र भेजना, दमयन्ती-स्वयंवर एवं वरमाला के साथ कथा-भाग पूर्ण होता है। इस नाटक में भारतीय नाटक परम्परा का अनुसरण किया गया है, फलतः नान्दी पाठ, सूत्रधार और प्रस्तावना का समावेश हुआ है, किन्तु भरत-वाक्य नहीं दिया गया। नाटक की संवाद-योजना या कथोपकथन अधिक सुष्ठु और प्रभावी है।

२८—नल-दमयन्ती नाटक, (१८९७ ई०)। नाटककार अज्ञात है, किन्तु डा० भानुदेव शुक्ल का अनुमान है कि भाषा-शैली को देखते हुए यह रचना बालकृष्ण भट्ट की ही होनी चाहिए। नल-दमयन्ती की कथावस्तु दमयन्ती-स्वयंवर के पश्चात् की है। खड़ी बोली मे रचित इस नाटक में बीच-बीच मे संस्कृत श्लोकों का प्रयोग किया गया है। विदूषक के रूप में पेटू का चित्रण हास्य की दृष्टि से किया गया है, किन्तु उसमें सफलता नहीं मिली है। नाटक भाषा और शिल्प दोनों ही दृष्टियों में समादृत हुआ है।

---

१. नाटक में भारतेन्दु के नाटक मुद्राराक्षस (१८७८) तथा निबन्ध 'नाटक' (१८८३ ई०) का उल्लेख किया गया है।
२. यह नाटक श्री हर्ष कृत "नैषध चरित्र" संस्कृत काव्य का सारांश निकाल कर नाटक के आकार में बाँधा गया था। 'हिन्दी प्रदीप', जुलाई-अगस्त, १८९२ ई०।

२९—वेणु-संहार, (१९०९ ई०) । पं० बालकृष्ण भट्ट द्वारा रचित यह नाटक प्रसिद्ध पौराणिक कथानक पर आधारित है । नाटक में भारतीय परम्परा के अनुसार नान्दी पाठ, सूत्रधार और प्रस्तावना का समावेश है । सूत्र-रूप मे कथा इस प्रकार है— राजा वेणु के अत्याचारो से संतृप्त प्रजा-कष्ट और ऋषि-शाप द्वारा राजा का संहार और कष्ट-शमन ।

यद्यपि कथानक पौराणिक है, तथापि नाटककार तत्कालीन राजनैतिक स्थितियो की ओर भी सकेत करता है । अत्याचारों की दृष्टि से ब्रिटिश-शासन से समानता मिलना भी संभव हुआ है । यह चित्रण एक सीमा पर काल-दोष की कोटि में पहुँच गया है । एक ओर ऋषि-मुनियों का चित्रण तथा दूसरी ओर सूट-बूटधारी व्यक्तियो का वर्णन नाटक मे किया गया है ।

३०—शील सावित्री, (१८९७ ई०) । यह नाटक सावित्री-सत्यवान के प्रसिद्ध आख्यान पर आधारित है । इस नाटक में नाटककार कन्हैयालाल ने सावित्री और सत्यवान के प्रेमाख्यान को चित्रित करने की चेष्टा की है, किन्तु आदर्श पात्रों के मुख से हल्की प्रेम-प्रसंग-पूर्ण उक्तियाँ और सम्बोधन नाटक की गंभीरता को नष्ट कर बाजारू नाटक की कोटि में रख देते हैं ।

३१—सावित्री नाटक, (१९०० ई०) । लाला देवराज विरचित सावित्री नाटक का कथानक महाभारत की कथा पर आधारित है । मूल कथा मे नाटककार ने कोई परिवर्तन नही किया है । सावित्री की तपस्या और उसके तेज से अन्त मे यमराज को भी पराजित होना पड़ता है । नाटक गद्य में लिखा गया है । भाषा शिथिल है ।

३२— हरितालिका, (१८८७ ई०) । लाल खड्ग बहादुर मल्ल का यह नाटक स्त्रियो के एक व्रत से संबंधित है तथा पातिव्रत्य की सीख देने की दृष्टि से ही इसकी रचना की गई प्रतीत होती है । शिवपुराण के अनुसार हरितालिका व्रत भादों शुक्ल तीज को किया जाता है । राजा हिमवान की पुत्री पार्वती महादेव को प्राप्त करने के लिए कठोर व्रत कर लेती है । इस नाटक मे चार दृश्य हैं तथा गद्य-पद्य दोनों का प्रयोग नाटक में हुआ है । नाटिका अभिनेय और सफल मानी जाती है ।

३३—अंजना सुन्दरी, (१८८९ ई०) । बाबू कन्हैयालाल कृत अंजना सुन्दरी नाटक पतिव्रता स्त्री के आख्यान को लेकर लिखा गया है । इस नाटक में जैन मत की मान्यताओं के आधार पर अंजना नामक सुन्दरी, पतिव्रता स्त्री और उसके पति पवनञ्जय के मध्य उत्पन्न भ्रम के निराकरण का आख्यान है । नाटक

अभिनय की दृष्टि से अनेक दोषो से युक्त है। पुत्र-प्रसव आदि के प्रसंग रंगमंच पर अभिनीत हुए है। यह नाटक संस्कृत नाट्य-परंपरा के आधार पर लिखा गया है किन्तु प्रस्तावना का उपयोग नही किया गया है। गद्य-पद्य दोनो का ही नाटक में प्रयोग किया गया है।

३४—अभिमन्यु, (१८८६ ई०)। लाला शालिग्राम द्वारा रचित अभिमन्यु नाटक मे दस अक हैं। अभिमन्यु की प्रसिद्ध कथा के आधार पर इस नाटक का कथानक निर्मित है। अभिमन्यु-वध, उसके पश्चात् प्रतिशोध की प्रतिज्ञा और प्रतिज्ञा-पूर्ति मे ही कथा के प्रमुख सूत्र हैं। नाटक की रचना खड़ी बोली गद्य मे हुई है। कही-कही पद्य का प्रयोग भी किया गया है।

उपर्युक्त परिचय के आधार पर यह स्पष्ट है कि पौराणिक तथा धार्मिक कथाओं पर आधारित नाटको की संख्या बहुत अधिक है। भाषा की दृष्टि से सस्कृत-निष्ठ भाषा अथवा ब्रजभाषा का प्राधान्य है। अधिकांश नाटक गद्य-पद्य में हैं एवं नाटकों का गद्य-भाग खड़ी बोली में तथा पद्य-भाग ब्रजभाषा मे है। राम-कथा पर आधारित लगभग सभी नाटक, लोक-नाट्यों की परम्परा के नाटक हैं। कृष्ण-कथा पर आधारित नाटक रास-लीला की शैली पर रचे गए हैं, जिनमें कुछ नाटक साहित्यिक दृष्टि से श्रेष्ठ व उल्लेखनीय हैं। भारतेन्दुयुगीन पौराणिक नाटक सस्कृत-नाट्य-परम्परा के अंतर्गत आते हैं, परन्तु सस्कृत-नाट्य-शैली का अनिवार्यत: पालन नही है। नान्दी पाठ, प्रस्तावना के साथ अक व गर्भांक का भी कहीं-कही निर्वाह हुआ है। केवल कथा, घटना या चरित को संवाद-मात्र में परिवर्तित किया है। ये नाटककार सस्कृत की परिपुष्ट नाट्य-परपरा का निर्वाह इस कारण भी न कर सके कि वे सास्कृत भाषा मे विज्ञ नहीं थे तथा नाट्य-रचना के नियमों से भी अनभिज्ञ थे। मौलिक प्रतिभा-सपन्न नाटककार परम्परा से हटकर नवीन पथ प्रशस्त कर रहे थे।

(२) ऐतिहासिक नाटक

३५—महारानी पद्मावती वा चित्तौर-कमलिनी, (१८८२ ई०)। बाबू राधाकृष्णदास द्वारा रचित महारानी पद्मावती ऐतिहासिक घटनाओं पर आधारित एक महत्वपूर्ण नाटक है। इसकी रचना भारतेन्दु के जीवनकाल मे हो गई थी। नाटक सोद्देश्य है तथा राष्ट्रीय जीवन मे फैली हीनता की भावना को लोक-मानस से हटाने का उसका प्रकट उद्देश्य है। प्रसिद्ध ऐतिहासिक कथा, जिसमें चित्तौड़ की महारानी पद्मावती के सौन्दर्य पर मोहित होकर अलाउद्दीन चित्तौड पर आक्रमण करता है और उसके बाद की घटनाएँ तथा अत मे जौहर की घटना

को लेकर छः अंकों में यह नाटक समाप्त होता है। नाटक का कलेवर बडा नहीं है। उसमें प्रधान रस वीर है। नाटक मे प्रस्तावना का प्रयोग हुआ है किन्तु भारतीय नाट्य-परम्परा के विपरीत यह नाटक दुखान्त है।

३६—महाराणा प्रताप, (१८९७ ई०)। बाबू राधाकृष्णदास का यह दूसरा ऐतिहासिक नाटक है। भारतेन्दुयुगीन नाटकों में यह उसकी अंतिम शृंखला का नाटक है। महाराणा प्रताप और अकबर के ऐतिहासिक वृत्त को लेकर इस नाटक की रचना की गई है। इस नाटक के मुख्य कथानक के साथ एक काल्पनिक घटना भी साथ-साथ चलती है, जो ऐतिहासिक पात्रों के चरित्र को प्रशस्त बनाने में सहयोगी होती है। नाटक में अकबर की कूटनीति, मानसिंह का महाराणा प्रताप के प्रति विद्वेष-भाव, अकबर के दरबारी खान-खाना और कवि पृथ्वीराज द्वारा प्रताप की प्रशंसा और राष्ट्रप्रेम के लिए बलिदान होने का भाव आदि को जिस नाटकीय परिप्रेक्ष्य में रखा गया है वह दृष्टव्य है। नाटक में सात अंक है तथा प्रत्येक अंक महत्त्वपूर्ण घटनाओं से ओतप्रोत है। कथा-शैथिल्य या नाटकीय जडता से नाटक मुक्त है। उसके अभिनय पर सभी समाचार-पत्रो (अंग्रेजी, हिन्दी दोनो) में उसकी समीक्षाएँ प्रकाशित हुईं। यह उस काल के नाटक के लिए विशेष महत्व की स्थिति है। अनेक समीक्षकों ने उसकी मुक्त कण्ठ से प्रशसा की है।[1]

३७—तीन परम मनोहर ऐतहासिक रूपक, (१८८४ ई०)। श्री काशीनाथ खत्री ने तीन विभिन्न कथानको को लेकर इन ऐतिहासिक रूपको की रचना की है। पहला कथानक है– "सिन्धु देश की राजकुमारियाँ", दूसरा "गुन्नौर की रानी" और तीसरा "लव जी का स्वप्न"। प्रथम दो रूपकों को ऐतिहासिक कहा जा सकता है किन्तु तीसरे को ऐतिहासिक रूपक नहीं माना जा सकता। नाटक में नाटकीय वैशिष्ट्य का अभाव है तथा लेखक को उनके प्रस्तुतीकरण मे सफल नहीं माना जा सकता।

३८—संयोगिता-स्वयंवर, (१८८५ ई०)। लाला श्रीनिवासदास की यह रचना पाँच अंको का ऐतिहासिक नाटक है, जिसमें संयोगिता और पृथ्वीराज के गन्धर्व विवाह का वृत्तान्त है। ऐतिहासक घटनाओ को लेखक ने अपनी इच्छा के अनुसार उपयोग किया है और उसे अनेक स्थलों पर बदल भी दिया है। नाटक में नाटकीय शिल्प का अभाव है। इसका प्रधान रस वीर है। शृंगार का भी उपयोग किया गया है। नाटक सुखान्त है।

---

१. यह नाटक हिन्दी में अपने ढंग का एक ही है। भारतेन्दु के पीछे ऐसा नाटक और नहीं बना। आचार्य शुक्ल दास की जीवनी।

३९—अमरसिंह राठौर, (१८९५ ई०)। श्री राधाचरण गोस्वामी की ऐतिहासिक नाट्य-रचना अमरसिंह राठौर वीररस-प्रधान साहित्यिक उपलब्धि है, यद्यपि अभिनय की दृष्टि से जिन प्रसगों—जैसे युद्ध, मृत्यु, आखेट आदि—को लेखक ने उठाया है, उनका अभिनय रंगमंच पर सम्भव नहीं है। भारतीय नाट्य-परम्परा के अनुसार नान्दी-पाठ से इसको प्रारम्भ किया गया है और लेखक का उद्देश्य अमरसिंह राठौर के वीर, दर्पपूर्ण हिन्दू जीवन को प्रस्तुत करना मात्र प्रतीत होता है। नायक अमरसिंह को जोधपुर के महाराज गजसिंह द्वारा निर्वासित करना, मथुरा में मुगलो के विरूद्ध हिन्दुओं का संगठन, मुगलो का भेद जानने के लिए अमरसिंह राठौर द्वारा जागीर की प्राप्ति, सलामत खाँ का कत्ल आदि प्रमुख ऐतिहासिक संदर्भो को छोटे से नाटक मे लेखक ने रखने की चेष्टा की है। नाटक दुखान्त है।

४०—सती चन्द्रावली, (१८९० ई०)। श्री राधाचरण गोस्वामी का दूसरा ऐतिहासिक एकांकी सती चन्द्रावली लोक-कथाओं मे वर्णित चन्द्रावली की कथा के आधार पर रचा गया है।[1] शहजादा अशरफ चन्द्रावली नामक एक सुन्दर युवती को पकड़ कर उससे विवाह करना चाहता है। हिन्दू औरगजेब के पास प्रार्थना लेकर प्रस्तुत होते हैं किन्तु बादशाह भी न्याय नहीं कर सकता। हिन्दू अशरफ को मार डालते है और चन्द्रावली खेमे मे आग लगा कर अपने प्राण दे देती है। एकांकी अभिनेय है और सफल नाट्यकृति के रूप मे समादृत है।

उपर्युक्त नाटको के सक्षिप्त परिचय के सदर्भ मे यह कहना उचित होगा कि ऐतिहासिक रचनाओ मे साहित्यकार सत्य घटना का यथातथ्य रूप चित्रित न कर उसके द्वारा किसी उद्देश्य-सिद्धि का प्रयास करता है। ऐतिहासिक कथा मे कल्पना के सूत्रो का रंगीन पट बुनता है। वर्तमान नैराश्य मे गौरवपूर्ण अतीत का स्मरण कर आशा की उज्ज्वल किरणों का संदेश देता है। ऐतिहासिक कथा-साहित्य, प्रख्यात घटना का कोरा विस्तार-मात्र नही। वह इतिहास को कल्पना से सजीवता, मांसलता प्रदान कर जातिगत, राष्ट्रगत गौरव-भावना को जाग्रत करता है। भारतीय नाट्य-शास्त्र के अनुकूल ख्यात एवं राजकुल का व्यक्ति नाटक का नायक होता है। ऐतिहासिक नाटको मे यह खरा उतरता है। संस्कृत नाट्य-साहित्य-परंपरा का पूर्णत: पालन न करते हुए इसमे उन्होंने स्वतन्त्रता का भी परिचय दिया है। नाटकों का दुःखान्त होना इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। ऐतिहासिक

---

१. 'यह नाटक हिन्दी में अपने ढंग का एक ही है। भारतेन्दु के पीछे ऐसा नाटक और नहीं बना।' आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (राधाकृष्ण दास की जीवनी)

नाटको मे राधाकृष्णदास जी के नाटको को पर्याप्त प्रसिद्धि उपलब्ध हुई। इस वर्ग का सर्वाधिक प्रसिद्ध नाटक महाराणा प्रताप इन्हीं की रचना है। वस्तुतः भारतेन्दु-युगीन समस्त हिन्दी नाट्य-साहित्य की यह अत्यन्त महत्वपूर्ण रचना है। रंगमच पर सफलता के साथ अनेक प्रस्तुतिओ का अधिकारी है।

ऐतिहासिक नाटकों की अधिकांश घटनाएँ व चरित-नायक राजस्थान के गौरवपूर्ण इतिहास की ही निधि हैं।

(२) सामाजिक नाटक

(अ) प्रेम-प्रधान नाटक,

४१—तप्ता-सवरण, (१८७४ ई०)। लाला श्रीनिवासदास रचित तप्ता-सवरण नाटक राजा संवरण तथा सूर्य की पुत्री तप्ता के प्रेमाख्यान की कथावस्तु पर आधारित है। इस प्रेम-प्रधान नाटक की कथावस्तु के सगठन मे महाकवि कालिदास रचित 'अभिज्ञान शाकुतल' का प्रभाव दृष्टिगत होता है। जिस प्रकार शाकुंतल नाटक मे ऋषि के शाप से दुष्यन्त प्रेम को भूल जाता है उसी प्रकार तप्ता राजा सवरण को भूल जाती है। नाटक की समाप्ति अत मे परिणय के साथ होती है। भाषा अलकार-प्रधान एव ब्रजभाषा मिश्रित है।

४२—रणधीर-प्रेममोहिनी, (१८७८ ई०)। लाला श्रीनिवास दास का यह दूसरा प्रेम-प्रधान नाटक है जिसे हिन्दी का प्रथम मौलिक दुखान्त नाटक कहा जा सकता है। नाटक की कथावस्तु पाटन के निर्वासित राजकुमार रणधीर तथा सूरत की राजकुमारी प्रेममोहिनी की प्रेम-कथा पर विकसित हुई है। सूरत के राजा द्वारा रणधीर को सामान्य व्यक्ति समझकर उससे पुत्री को विवाह न करने देना कथा को दुःखान्त स्थितियो के लिए मोड देता है। नाटक का अन्त रणधीर की युद्ध में मृत्यु और प्रेम-मोहिनी द्वारा प्राण-त्याग के साथ होता है। रणधीर की मृत्यु के बाद राजा को उसका वास्तविक परिचय मिलता है। इस प्रकार करुणा का अतिरिक्त प्रभाव नाटक पर दृष्टव्य है। खडी बोली मे रचित यह नाटक भाषा की दृष्टि से प्रवाहयुक्त है। पात्रों के अनुसार कही-कही चलती हुई भाषा का प्रयोग भी लेखक ने किया है। संस्कृत-नाटक-परम्परा के अनुसार विदूषक कोटि के पात्र की रचना भी लाला जी ने की है। वास्तव मे उनके नाटकों पर प्राचीन नाट्य-विचार का प्रभाव है। तत्पश्चात् भी यह नाटक नई शैली का अभिनेय नाटक है नाटक उस काल में इतना प्रभावी था कि उसकी समीक्षा

पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई।[1]

४३—मनमोहिनी, (१८८० ई०) (अपूर्ण)। मोतीलाल जौहरी द्वारा सम्पादित मनमोहिनी नाटक नायक श्यामलाल और मनमोहिनी के प्रथम-दर्शन-प्रेम के आधार पर प्रारम्भ होता है। नाटक के अपूर्ण अंश के आधार पर ही यह कहा जा सकता है कि यह एक अभिनेय नाटक है तथा विद्यासुन्दर की परम्परा के निर्वाह का प्रयत्न इस नाटक में किया गया है।

४४—मृगांक मौलि, (१८८४ ई०)। पं० श्रीधर पाठक की नाट्य-रचना मृगांक मौलि भी प्रथम-दर्शन-प्रेम पर आधारित है। नाटक मे गद्य के साथ पद्य का प्रयोग भी मिलता है। भाषा संस्कृत प्रभाव से प्रभावित है और सामान्य जन के समझने के लिए दुरूह है।

४५—मदन-मंजरी नाटक, (१८८४ ई०)। इस नाटक के संयुक्त लेखको मे श्री अमानसिंह गौटिया तालुकेदार परगना गढ़ा, जबलपुर तथा प० जागेश्वर-दयाल, हैड मास्टर टौन स्कूल गढा हैं। नाटक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की नाट्य-पुस्तकों से प्रभावित होकर लिखा गया है। यह एक पारम्परिक रचना है। मंगलाचरण, सूत्रधार एवं नटी द्वारा नाटक प्रारम्भ होता है। कथानक के सूत्र, नाटक के नायक मदनमोहन तथा मंजरी के प्रेम, मंजरी के पिता द्वारा मदन मोहन को बन्दी बनाना, मदनमोहन के पिता द्वारा आक्रमण कर मंजरी के पिता को पराजित करना तथा बाद में दोनों के मिलन में बिखरे हुए हैं। नाटक का कथानक स्पष्ट और प्रभावी होने के बाद भी उसमें कथा-संगठन का अभाव है। नाटक में अनेक कवियों की कविताएँ तथा गजलें अनावश्यक और निरर्थक हैं, फिर भी लेखक ने उनको स्थान दिया है।

४६—चन्द्रप्रभा-मनमुई नाटक, (१८८४ ई०)। लेखक अज्ञात है। प्रकाशक मुंशी महादेव प्रसाद, पटना निवासी हैं। नाटक सामान्य स्तर का है। असफल प्रेम-कथानक पर आधारित है।

---

१. द्रष्टव्य : नाटक की प्रत्येक पंक्ति उपदेश और उपकार की भावना से भरी पड़ी है। साप्ताहिक 'सार सुधानिधि', १ नवम्बर, १८८० ई०

'एक लोटा पास हो तो उसे बेचकर इस नाटक को खरीदो'—'कवि-वचन सुधा।' 'नाटक अभिनेय है तथा १८८१ ई० में प्रयाग में आर्य नाट्य-सभा द्वारा खेला भी गया था। इस नाटक की सफलता एवं श्रेष्ठता के कारण इसके उर्दू तथा गुजराती के अनुवाद भी हुए।'—'मिश्रबंधु-विनोद', वर्तमान प्रकरण।

४७—मिथिलेश कुमारी, (१८८८ ई०)। पं० विंध्येश्वरी प्रसाद द्वारा रचित नाटक मिथिलेश कुमारी एक सफल रगमंचीय नाटक है। कथानक अयोध्या के राजकुमार माधव तथा मिथिला की राजकुमारी केतकी के प्रेम-प्रसंगो पर आधारित है। छः अंको मे नाटक समाप्य है। भाषा खडी बोली है। कुछ अंश पद्य के भी प्राप्त होते हैं।

४८—मयक-मंजरी महानाटक, (१८९१ ई०)। पं० किशोरीलाल गोस्वामी रचित मयंक-मजरी नाटक मे महानाटक के तत्व नही मिलते। इस नाटक में कुल पाँच ही अंक है। मयंक-मजरी के प्रेमाख्यान पर इस नाटक की सृष्टि हुई है, किन्तु कथा-संगठन शिथिल और भाषा-प्रवाह की दृष्टि से सदोष है। 'मयंक-मजरी' पर सस्कृत नाट्य-शैली का प्रभाव परिलक्षित होता है। नाटक की प्रस्तावना से ज्ञात होता है कि लेखक उस समय के प्रचलित नाटको की दुर्बलताओ से परिचित हैं तथा नाटक के नाम पर 'इन्द्र-सभा' आदि पारसी रगमच से प्रभावित नाटको के प्रभाव को स्वीकार करते हैं। सस्कृत नाट्य-शैली के अनुसार इस महा-नाटक में भरत-वाक्य भी प्राप्य है। नाट्य-नियमों के प्रति भी लेखक का पर्याप्त ज्ञान है। उन्होंने 'नाट्य सम्भव'[1] मे नाटक की उत्पत्ति सबधी कथा को नाटक का रूप प्रदान किया है।

मयक-मंजरी नाटक मे संस्कृत नाट्य-शैली की मर्यादाओ का कुछ स्थलों पर अतिक्रमण भी हुआ है जैसे चुम्बन और मृत्यु। पुनर्जागरण की भावना से प्रभावित होकर पाश्चात्य 'नाट्य-शैली' के प्रति लेखक की यह रुझान अन्य नाटककारो से भिन्न कोटि की है।

४९—प्रेमसुन्दर, (१८९२ ई०)। श्री खिलावन लाल कृत नाटक प्रथम-प्रेम-दर्शन पर आधारित पारम्परिक रचना है। सुन्दर तथा नाटक के नायक प्रेम के प्रेम प्रसंग, प्रतिनायक द्वारा उसमें बाधा, अन्त में दोनों का मिलन कथा को विस्तार देते हैं। भाषा सरल और मिश्रित है। नाटक सुखान्त है।

५०—कमलमोहिनी-भँवरसिंह, (१८९६ ई०)। लाला जवाहरलाल द्वारा रचित दुःखान्त नाटक स्वप्न-दर्शन से प्रारम्भ होकर अधिकतम मृत्युओ के साथ समाप्त होता है। कथानक इस प्रकार है: कमलमोहिनी तथा भँवरसिंह एक-दूसरे को स्वप्न मे देखकर प्रेम करने लगते हैं। सखी के माध्यम से भँवरसिंह कमलमोहिनी के पास पहुँच जाता है किन्तु प्रेमी-युगल बन्दी बना लिए जाते हैं। भँवरसिंह को प्राणदण्ड दिया जाता है। जब यह समाचार मिलता है कि भँवरसिंह

१. नाट्यसंभव अंक, १ दृश्य ५, पृ० ४७-५१

राजपुत्र है तब उसे छुडाने की आज्ञा दी जाती है, किन्तु तब तक भंवरसिंह को प्राणदण्ड दिया जा चुका है। शोक में राजपुत्री और राजा तथा सखी और राज्य-मन्त्री आत्मदाह कर लेते हैं।

हिन्दी भाषा के प्रथम उत्थान-काल के प्रेम-प्रधान नाटक संस्कृत-नाट्य-परम्परा व शैली से अधिक प्रभावित हुए। कालिदास, श्री हर्ष, भवभूति, भास के अधिकांश नाटकों का भाषानुवाद विभिन्न अनुवादकों द्वारा हो चुका था। वस्तु, घटनाओं के गठन एवं संवाद—योजना में मौलिकता का अभाव ही है। अभिज्ञान शाकुतल एवं उषा-अनिरूद्ध के प्रेम-प्रसंग ही इन नाटकों की कथावस्तु के विभिन्न रूपान्तर हैं। इन प्रेम-प्रधान नाटकों मे नटी व सूत्रधार द्वारा नाटक का नाम सुझाने की परम्परा का पालन हुआ है। प्रथमदर्शन-प्रेम, अथवा रूप-दर्शन, स्वप्न-दर्शन, चित्र-दर्शन, गुण-श्रवण आदि के प्रेम का ही स्वरूप प्रधान है।

(अ) सुधारवादी नाटक (समस्या-प्रधान)

५१—प्रेम-योगिनी, (१८७५ ई०) अपूर्ण। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की यह नाट्य-कृति अन्त तक अधूरी ही रही। इस नाटक की कथावस्तु काशी मे होने वाले पाखण्डों, बाह्याडम्बरों और अनर्थों के आधार पर सुधाकर नामक एक विदेशी पडित के माध्यम से चलती है। स्थानीय प्रभाव को लेकर विनोदमयी शैली में यह नाटक लिखा गया था किन्तु किन्हीं कारणों से भारतेन्दु ने इसे पूरा नही किया। समस्या-प्रधान सामाजिक नाटकों में इस नाटक के बाद अनेक कृतियाँ स्वतंत्र रूप से सामने आती है।

५२—जैसा काम, वैसा परिणाम, (१८७७ ई०)। पं० बालकृष्ण भट्ट कृत यह प्रहसन एक समस्या-प्रधान सामाजिक नाटक है, जिसमें नारी समस्या को कथावस्तु का आधार बनाया गया है। इस नाटक के तीन संस्करण मिलते हैं जिनमें एक-दूसरे से कुछ भिन्नता है। पात्रों के नामों मे कही-कहीं परिवर्तन है, यथा पहिले सस्करण में बसंतलाल बदल कर रसिकलाल कर दिया गया है। अतिम-संस्करण में थोड़ा विस्तार भी है। कथानक संक्षिप्त-सा है। बसतलाल अपनी सुशील और सुन्दर पत्नी शशिकला का तिरस्कार करता है तथा मोहिनी से प्रेम करने लगता है। इस कार्य मे सहयोगी है उसका मित्र जो वेश्याओं का एजेन्ट है। अन्त में यह रहस्य प्रकट हो जाता है और बसंतलाल पश्चाताप करता है।

रंगमंचीय आधार पर अभिनय-कला और भाषा-प्रवाह दोनों दृष्टियो से यह एक सफल नाटक माना जाता है।

५३—दुखिनी बाला, (१८८० ई०)। बाबू राधाकृष्णदास ने इस लघु नाटक अथवा एकाकी की रचना अपने चौदह वर्ष की अल्पायु में की थी, जिसका वर्ण्य विषय है अंध विश्वास और बाल-विवाह। सात वर्ष की कन्या का विवाह जन्मपत्री न मिलने के कारण चौदह वर्ष के बालक से न कर अन्य सात वर्ष के बालक के साथ होता है। कन्या जल्दी ही विधवा हो जाती है।[1]

५४—अवधूत, (१८८० ई०)। चतुर्भुज मिश्र का यह नाटक नाटकीय शिल्प-विरत एक कथोपकथन मात्र है जिसके माध्यम से सामाजिक कुरीतियों की ओर लेखक ने प्रकाश डालने की चेष्टा की है।

५५—गौ-संकट, (१८८२ ई०)। अंबिकादत्त व्यास रचित 'गौ-संकट' नाटक समस्या-प्रधान सामाजिक नाटकों में एक महत्वपूर्ण नाटक है। साहित्यिकता के साथ-साथ अभिनय-कला का भी इसमें पूर्ण ध्यान रखा गया है। नाटक में पात्रों के अनुसार भाषा का प्रयोग किया गया है किन्तु भाषा सामान्यतया सरल और प्रभावी है। नाटक का कथानक गौ-संकट का निराकरण और अकबर बादशाह द्वारा गौवध-निषेध से सम्बद्ध है। हिन्दू जीवन की ज्वलन्त समस्या को लेखक ने बड़ी सफलता से चित्रित किया है। नाटक सभी दृष्टियों से सफल कहा जा सकता है।

५६—विवाह-विडंबन नाटक, (१८८४ ई०)। बाबू तोताराम कृत बाल-विवाह एवं वैवाहिक आडम्बरों पर आधारित यह नाटक एक सामान्य कृति है। इस नाटक में नाटककार ने इन सबके द्वारा होने वाले दुष्परिणामों को प्रकट किया है। अबोध बालिका के विवाह की चिंता और उसके बाद विवाह की धूमधाम में पिता का दिवालिया हो जाना ही इसकी कथावस्तु है। भाषा स्वाभाविक और सहज है।

५७—वारांगना-रहस्य, महानाटक, (१८८५ ई०)। श्रीयुत बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' की यह अपूर्ण रचना वेश्या-समस्या से सम्बद्ध है। नाटक का जितना अंश प्राप्त है उसके अनुसार नाटक की पद्य रचनाएँ कथानक को अग्रसर नहीं होने देतीं। आलोच्यकाल की परंपरा के अनुसार नाटक में राजीवलोचन का वेश्या के प्रति आकर्षित होना, उससे विवाह की आतुरता प्रकट करना आदि प्रसंग निर्जीव हैं एवं अभिनय के अनुरूप भाषा का प्रयोग न होना एक बड़े अभाव का परिचायक है।

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने राधाकृष्ण दास की जीवनी में लिखा है कि दुखिनी बाला नाटक का पूर्व रूप 'विधवा विवाह' नाटक था

५८—रामलीला-विजय, (१८८७ ई०)। वैद्य बल्देव प्रसाद द्वारा रचित यह नाटक हिन्दू-मुस्लिम-विरोध की समस्या को लेकर रचा गया है। मुहर्रम तथा रामलीला एक साथ पड़ने से किस प्रकार स्थानीय अंग्रेज शासको ने उचित व्यवस्था की इस विषय को लेकर ही यह नाटक लिखा गया।

५९—अकबर-गौरक्षा-न्याय नाटक, (१८८९ ई०)। श्री जगत नारायण की इस रचना के मूल में गौरक्षा-प्रचार ही प्रमुख हेतु है। शैली की दृष्टि से यह नाटक पारसी नाटक-शैली पर रचित संगीत-प्रधान रचना है। गद्य का प्रयोग भी हुआ है।

६०—मनोरजनी नाटक, (१८९० ई०)। कुमार रघुवीरसिंह वर्मा द्वारा रचित मनोरजनी नाटक आदर्श नारी के चरित्र को चित्रित करता है। नाटक का कथानक नायिका मनोरंजनी का गुण्डो द्वारा आत्मरक्षा से सम्बद्ध है। यह एक शिक्षाप्रद नाटक है।

सरल भाषा व सुलझी हुई शैली में लिखा गया है। अभिनेयता इसका गुण है।

६१—देशदशा, (१८९२ ई०)। यह नाटक गोपालराम गहमर निवासी द्वारा रचित है। जैसा कि इसके शीर्षक से स्पष्ट है। देश की दुर्गति का वर्णन ही इसका प्रधान हेतु है। इसमें छह दृश्य है। वे एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं। देश की वास्तविक दशा को चित्रित करने का हेतु सामने रखकर इस छह दृश्य वाले नाटक की रचना लेखक ने की है। समस्याओ का दिग्दर्शन ही लेखक करा सका है।

६२—गगोत्री, (१८९५ ई०)। पं० बालमुकुन्द पांडे रचित गंगोत्री नाटक एक दुःखान्त रचना है, जिसकी कथावस्तु एक कामी राजा से सम्बद्ध है। राजा की कामलिप्सा की पूर्ति हेतु गंगोत्री नामक नवविवाहिता स्त्री पकड़ कर लाई जाती है जो सतीत्व की रक्षा मे अपने प्राण न्यौछावर कर देती है। नाटक की भाषा संस्कृत-बहुल हिन्दी है।

६३—सरस्वती, (१८९८ ई०)। इस नाटक की रचना, सम्पादक प्रवर दुर्गाप्रसाद मिश्र ने परिवार की समस्या को लक्ष्य कर की है। कथावस्तु इस प्रकार है—लक्ष्मी अपने स्वभाव की कर्कशता के कारण अपने देवर को घर से अलग कर देती है। उसकी देवरानी सरस्वती आदर्श स्वभाव की है और संकट के समय देवरानी और उसका पति बडो की रक्षा करता है। नाटक सुखान्त है किन्तु कथावस्तु शिथिल और नाट्य-योजना साधारण है।

उपर्युक्त नाटको में प्रायः नारी-समस्या के विभिन्न पहलुओं को लेकर

सामाजिक संदर्भ की सृष्टि की गयी है जिसके प्रमुख उपादान निम्नलिखित हैं :—

१—बालविवाह का विरोध व उसके कुपरिणाम प्रदर्शित किए गए रचनाओं में नाटकीय कौशल का अभाव है। भाषा दैनिक जीवन मे बोलचाल की है। नाटक मे प्रचार का भाव निहित है।

२—वैश्यागामी पति द्वारा अपनी साध्वी पत्नी का तिरस्कार भी इस समस्या का एक रूप है।

३—भारतीय सस्कृति में गौ धार्मिक दृष्टिकोण से पूज्य रही है। गौरक्षा. गौसेवा, धर्मरक्षा का उपादान है। गौवध विरोधी दृष्टिकोण को लेकर प्रायः मुस्लिम शासकों के शासनकाल मे अनेक अत्याचारों का सामना हिन्दू प्रजा ने किया है। अनेक नाटक गौवध समस्या व गौवध आन्दोलन को लेकर लिखे गए हैं। गौरक्षा सबंधी तर्क सभी नाटकों के समान हैं। गौवध इस्लाम के प्रतिकूल है यह सिद्ध किया गया है। प्रचारात्मक शैली का प्रयोग है। नाटकीयता एव रोचकता से रहित हैं।

नारी-समस्या के विभिन्न पहलुओ जैसे अनमेल विवाह, बालविवाह, विधवा-विवाह, उपेक्षिता-दुखिता का करुण क्रन्दन, तिरस्कृत पत्नी के त्रास आदि, पर इन नाटककारों ने पर्याप्त ध्यान दिया है।

(इ) प्रहसन

६४—वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति, (१८७३ ई०)। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा रचित यह प्रहसन धार्मिक जीवन में व्याप्त विकृतियों पर एक व्यंग है। प्रहसन के कथानक को राजा, मंत्री, पुरोहित, भट्टाचार्य, गंडकीदास, यम और चित्रगुप्त जैसे प्रतीक पात्रों द्वारा सजाया गया है। मांसाहारी पुरोहित का यज्ञ में लीन होना और शैव, वैष्णव आदि का मांसाहार के लिए उत्सुक रहना, पाखण्ड-मात्र है, जिसकी भारतेन्दु ने खिल्ली उड़ाई है। यह एक सप्रयोजन रचना है। पूर्वीय और पाश्चात्य नाट्य-शैलियों का इसमें समन्वय हुआ है।

६५—अंधेर नगरी, (१८८१ ई०)। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का दूसरा प्रहसन अंधेर नगरी सर्वाधिक लोकप्रिय रचना है। प्रहसन की कथावस्तु लोक-प्रचलित कथा पर आधारित है, जिसमें जमींदारों के प्रतीक राजा के अन्याय को लक्षित किया गया है। नाम के अनुरूप समाज की अन्धेरगर्दी पर इस प्रहसन के द्वारा व्यंग किया गया है। ग्रामीण तथा अन्य सभी व्यक्तियों ने इसका समादर

किया।[१]

भारतेन्दुयुगीन साहित्य में प्रहसन के रूप में यह एक उत्तम कोटि की रचना है।

६६—अपूर्व रहस्य नाटक (१८८८ ई०) इस प्रहसन के रचयिता बाबू रामशरण शर्मा हैं। इस प्रहसन मे भी प्रतीक पात्र हैं जैसे अंधकारानन्द, अमगलानन्द, जो धार्मिक नेता हैं और धर्म की आड़ मे लोगों को ठगते रहते हैं। शैली तथा दृश्य अनुकृति 'वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति' के समान प्रतीत होती है। प्रहसन सामान्य है।

६७—कलियुगी जनेऊ, (१८७३ ई०)। यह प्रहसन पं० देवकीनन्दन त्रिपाठी द्वारा लिखा गया है। श्री त्रिपाठी ने उन्नीस प्रहसनों की रचना की है। भारतेन्दु-युग के प्रमुख प्रहसनकार के रूप में श्री त्रिपाठी की ख्याति है। कलियुगी जनेऊ में लेखक ने मूर्ख पंडितों का भंडाफोड़ किया है। जनता के अन्धविश्वास पर व्यंग कर उन्हें सुधारवादी दृष्टि प्रदान की है। यह प्रहसन अभिनेय और एक सफल रचना है।

६८—कलियुगी विवाह, (१८९३ ई०)। पं० देवकीनन्दन त्रिपाठी का यह प्रहसन यद्यपि पूर्व की रचना है तथापि उस पर प्रकाशन तिथि १८९२ ई० छपी है। कलियुगी जनेऊ की शैली पर कलियुगी विवाह एक ऐसा प्रहसन है जिसमें बाल-विवाह तथा अनमेल विवाह पर तीव्र व्यंग किया गया है। कथावस्तु का आधार एक ऐसा बेमेल विवाह है जिसमे लडकी की आयु बारह वर्ष की है और लड़के की पाँच वर्ष। भाषा ग्रामीण है।

६९—जय नारसिंह की, (१८७६ ई०)। पं० देवकीनन्दन त्रिपाठी का यह प्रहसन एक ढोंगी ओझा की कथावस्तु पर आधारित प्रहसन है। ओझा ने प्रत्येक व्याधि और रोग के निदान के लिए झाड़-फूँक से यश कमा रखा है, जिसका

---

१. द्रष्टव्य : डा० दशरथ ओझा का मत (हिन्दी नाटक उद्भव और विकास, पृ० १८१-१८२)।

इस नाटक में ग्रामीण जनता ने आद्योपान्त जितना हास्य-विनोद पाया उतना ही राष्ट्रीयता का पाठ भी अनजाने सीख लिया। अन्यायी राजा को अन्त में टिकटी पर चढ़कर भारतेन्दु जी भविष्य में भारत-उद्धार की ओर संकेत करते हैं। अकेले इस नाटक ने जितना उपकार ग्रामीण जनता का किया, उतना कदाचित ही आद्यावधि किसी अन्य नाटक ने किया हो।

भंडाफोड़ कर लेखक ने ओझा की पोल खोली है। नाटक का वातावरण ग्रामीण है।[१] अभिनय की दृष्टि से यह एक सफल प्रहसन है।

७०—बूढ़े मुँह मुहासे, लोग देखे तमासे,[२] (१८८७ ई०)। श्री राधाचरण गोस्वामी द्वारा रचित यह प्रहसन एक धनी व्यवसायी द्वारा मुस्लिम स्त्री के संसर्ग की घृणित वासना का चित्रण है। एक ओर ये धनी लाला जी धर्म की प्रत्येक समय दुहाई देते है तथा दूसरी ओर उनका ऐसा पतित चरित्र है, यही इस प्रहसन का तीव्र व्यंग है। लेखक ने मुस्लिम स्त्री के शरीर से निकलने वाली प्याज की गंध को लालाजी के इत्र से जोड़कर कथावस्तु को अनेक प्रसगों मे रोचक बनाया है। इस प्रहसन मे हास्य-व्यंग तो है ही किन्तु इसका परिणाम घृणा के भाव को जन्म देता है। लेखक इस दृष्टि से सफल हुआ है। प्रहसन अभिनेय है।

७१—तन, मन, धन, गुसांई जी के अर्पण, (१८९० ई०)। श्री राधाचरण गोस्वामी का यह प्रहसन लंपट धर्मगुरूओं के चरित्र को प्रकाशित कर और उनमें व्याप्त अनाचार को उजागर करने की दृष्टि से रचा गया एक सफल नाटक है। गोस्वामी ने धर्मगुरूओ के आंतरिक जीवन का पर्दाफाश किया तथा व्यंग रूप में अभिनेय प्रहसन की सृष्टि की। कथावस्तु इतनी ही है कि किस प्रकार अंध-भक्त अपनी नव विवाहिता स्त्री को अपने गुरु को प्रथम समर्पण करते हैं और लंपट गुरु धर्म के नाम पर अपने कुकर्म की तृप्ति करते हैं। आलोच्य-काल में ऐसी रचना निश्चय ही एक समर्थ रचनाकार ही कर सकता था, और इसमे उसे पूरी सफलता मिली है।

७२—कलि-कौतुक, (१८८४ ई०)। श्री प्रतापनारायण मिश्र द्वारा रचित यह प्रहसन एक सामाजिक व्यंग है। इस प्रहसन का नायक किशोरीदास वेश्यागामी है। उसकी पत्नी और पुत्र भी भ्रष्टमार्गों के अनुगामी हैं। किशोरीदास का दिवाला निकल जाता है और उसे सजा हो जाती है। प्रहसन मे सामाजिक शिष्टाचार की सीमाओ का भी उल्लघन किया गया है यद्यपि व्यंग की प्रमुखता है। प्रहसन की भाषा चुटीली तथा पात्रों के अनुसार बदलती रहती है। प्रहसन अभिनेय है।

---

१. 'इस प्रहसन के पात्र वर्ग अधिकाश नीच और गँवार है जिससे उनकी भाषा गँवारू रखी गई है।' विज्ञापन, जय नारसिंह की।

२. मिश्रबंधु-विनोद में भाग ३ में गोकुलचन्द द्वारा बंगला नाटक 'बूढ़ो शालिकेर रंगा' के बहाने के अनुवाद बूढ़े मुँह मुहासे लोग चले तमाशे का उल्लेख किया है जो एक पृथक रचना है।

७३—ग्राम-पाठशाला, तृतीय संस्करण (१८९३ ई०)। लाला काशीनाथ खत्री द्वारा रचित यह प्रहसन शिक्षा की स्थिति पर एक व्यंग है। इस प्रहसन का नायक ग्राम-पाठशाला, मूरखपुर का शिक्षक मजमूल खाँ पाँच रूपए वेतन पर काम करता है। कक्षा में विद्यार्थी नही आते हैं। इसी बीच डिप्टी साहब जाँच के लिए आते हैं और शिक्षक पर दो रूपए का जुर्माना कर देते हैं। शिक्षक सोचता है कि अध्यापन के कार्य से तो जुलाहे का कार्य ही अच्छा है। प्रहसन सामान्य है।

७४—निकृष्ट नौकरी, तृतीय संस्करण (१८९३ ई०)। लाला काशीनाथ खत्री का दूसरा प्रहसन भी नौकरी से जुडा हुआ है। नायक भरोसादास आफीसर की झिड़कियो को सहता हुआ नौकरी करता है। वह जानता है 'चाकरी अधम है,' फिर भी उसे पेट के लिए यह सब करना पडता है।

भारतेन्दु-युग मे प्रहसन विशेष रूप से समृद्धिशाली रहे। हास्य और व्यंग की रचनाओं की प्रधानता का कारण तत्कालीन परिस्थितियाँ थी। रूढ़िबद्ध समाज और परम्परा से बँधा हुआ जन-मानस नवीन पाश्चात्य प्रभावो के संपर्क मे आ रहा था। जहाँ प्रबुद्ध नाटककार अपने देश की इस रूढिबद्धता और परम्परा के मोह को परित्याग देना चाहता है, उस पर चोट तो करता है, विद्रोह नहीं। पराधीन राष्ट्र के हतोत्साह नागरिकों, जर्जरित समाज-ज्ञान व अधविश्वासों मे डूबे हुए राष्ट्र को, आशान्वित करना कठिन ही नही दुष्कर कार्य था। कुरीतियों, ढोंग और अंधविश्वासो को इन लेखको ने अपने तीव्र व्यग और उपहास द्वारा प्रदर्शित किया। इस काल मे शुद्ध हास्य के दर्शन नही होते। प्रहसनो मे हास्य के दो ही रूप प्रबल है। चाहे व्यग-प्रहसन न होकर शुद्ध हास्य-प्रधान हो अथवा व्यग-प्रधान हो वस्तु, विचार, रीति-परम्परा पर आघात करना ही उद्देश्य था। भारतेन्दु-युग के अधिकाश प्रहसन व्यग-प्रधान हैं। सामाजिक सुधार के इस युग मे अधिकाश कृतियाँ सुधारवादी दृष्टिकोण को लेकर निर्मित हुई।

इन प्रहसनों मे सामाजिक, धार्मिक, नैतिक, मानसिक तथा राजनीतिक विकृतियाँ ही मुख्य आधार हैं। इनमे बालविवाह, अंधविश्वास, पंडे, पुजारियो, गोसाईयों के ढोंग, विदेशी सभ्यता के दीवाने आचारहीन, वेकारी और नौकरी आदि के चित्र अत्यन्त मार्मिकता से चित्रित किए गए हैं। व्यग के आघात से विकृतियाँ तीव्र क्षोभ उत्पन्न करती हैं।

(४) प्रतीक (नाटक) रूपक

७५—भारत-दुर्दशा, (१८७६ ई०)। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कृत भारत-दुर्दशा रूपक राष्ट्रीयता की भावना से ओतप्रोत है। सांकेतिक पात्रो के माध्यम

से तत्कालीन राष्ट्रीय स्थिति का चित्रण छः अंकों के इस रूपक मे किया गया है। भारत-दुर्दशा के पात्र हैं : भारत, भारत-दुर्दैव, निर्लज्जता, आशा, सत्यानाश आदि जो प्रतीक रूप मे अतीत जीवन की स्मृति के साथ वर्तमान की दयनीय दशा को चित्रित करते हैं। निराशा इस रूपक की प्रमुख अभिव्यक्ति है । नाटककार की अन्तर्वेदना प्रतीक पात्रों के मानवीकरण के माध्यम से सजीव हो उठी है । वास्तव मे यह एक रूपक राष्ट्रीय चेतना से अनुप्राणित है।

प्रतीक नाटक के रूप में इस रूपक की प्रमुख शक्ति है व्यंग । प्रत्येक वर्ग, जिसमें समाज, धर्म, सरकार और हीन ग्रंथियो से बँधे सुधारवादियों पर तीव्र व्यंग किये गए हैं किन्तु रूपक की परिणति निराशा है । इसलिए दुःखान्त के अतिरिक्त और कोई योजना लेखक नही कर सका है। यह पूर्ण अभिनेय रूपक है। इसमें पूर्व और पश्चिम की मिश्रित नाट्य-परपरा का सम्मिलन हुआ है।

७६—भारत-जननी, (१८७७ ई०) । भारतेन्दु द्वारा रचित भारत-जननी रूपक में एक ही दृश्य है। इस दृष्टि से इसे एकांकी ही कहा जा सकता है। इस रूपक के पात्र भी प्रतीक पात्र है। भारत-जननी में भारत सन्तान, पहला अंग्रेज, दूसरा अंग्रेज के रूपो मे पात्रों की सृष्टि की गयी है। समस्या है दरिद्र भारत के क्षुधा-निवारण की । अज्ञान और अंधकार मे पड़ी भारतीय जनता सचेत नही है।[1] नाटककार की राष्ट्रीय चेतना की प्रस्तुति इस रूपक के माध्यम से सशक्त रूप में हुई है। रूपक अभिनेय है।

७७—विज्ञान-विभाकर, (१८७६ ई०) । पं० जानी बिहारी लाल कृत 'विज्ञान-विभाकर' नाटक सस्कृत नाटक 'प्रबोध-चन्द्रोदय के प्राकृत रूप का भाषानुवाद कहा जाता है, यद्यपि उसे मात्र अनुवाद नहीं माना जा सकता। आलोच्य-कालीन वातावरण के अनुरूप अंग्रेजो के प्रति प्रशंसा का भाव नाटक में दिखाई देता है। प्रतीक-पद्धति के इस नाटक मे पात्रों की प्रतीक-योजना सामान्य है। भाषा सरल और प्रांजल है।

७८—रति-कुसुमायुध, (१८८५) । मझोली युवराज लाल खड्ग-बहादुर मल्ल ने रति-कुसुमायुध नामक प्रतीक रूपक की रचना कीं। यह रूपक

१. द्रष्टव्य : प्रतीक उपादानों के माध्यम से नाटककार ने यह प्रकट किया है कि भारत की विद्या, शक्ति और धन उससे छिन गए हैं तब भी वह सचेत नहीं हो रहा है। डा० भानुदेव शुक्ल। भारतेन्दुयुगीन नाटक, पृ० १७६।

काल्पनिक आधार पर रचा गया था। इसके पात्र कुसुमायुध, रति, मनोहर, माधुरी आदि मानवीकृत रूप में नाटक में प्रस्तुत किए जाते हैं। कथावस्तु की दृष्टि से रूपक मे नायक कुसुमायुध अनुराग नगर के राजकुमार के रूप मे चित्रित किए गए हैं और रति प्रेमनगर की राजकुमारी के रूप मे। दोनो में प्रेम हो जाता है और परिणति गन्धर्व विवाह में होती है। नाटक में गद्य-पद्य दोनो का प्रयोग हुआ है। प्रमुख रस श्रृंगार है।

७९—भारत-ललना, (१८८८ ई०)। लाल खड्गबहादुर मल्ल की दूसरी प्रतीक-शैली की रचना 'भारत-ललना' है। पात्र प्रतीक रूप मे आए हैं जैसे सौभाग्य, दुर्भाग्य। कथानक इस प्रकार है कि कलिराज भारत का अधिकार दुर्भाग्य मन्त्री के सुपुर्द कर देता है। दुर्भाग्य के सहायक छल, प्रपंच, कलह आदि हैं। नाटक की रचना 'इन्दर-सभा' की शैली पर हुई है। भाषा मे हिन्दी-उर्दू शब्दावली का प्रयोग है।

८०—आर्या किसकी भार्या, (१८८५ ई०)। इस रूपक के रचयिता का नाम ज्ञात नहीं है। कथावस्तु के रूप में हिन्द-रूपी आर्या का स्वामी ब्रिटिश शासन-रूपी सिंह है जिसके बंगाली, गुजराती आदि अनेक पुत्र हैं। रूसी भालू आर्या का हरण करना चाहता है, तभी सिंह जाग्रत हो जाता है। रूपक तत्कालीन भारतीय स्थिति को चित्रित करता है।

८१—धर्मालाप, (१८८५ ई०)। बाबू राधाकृष्णदास द्वारा रचित नाटक धर्मालाप के अवलोकन से ज्ञात होता है कि नाटक की रचना बाल्यावस्था में की गयी थी। शीर्षक के अनुसार इस नाटक में विभिन्न धर्मावलम्बी धर्म पर संवाद करते है।

८२—मन की तरंग, (१८८६ ई०)। पं० अम्बिकादत्त व्यास कृत यह एक सामान्य रचना है। वास्तव मे यह वार्ता-मात्र है और इस प्रकार अनेक वार्ताओं का संग्रह इसे कहा जावे तो अत्युक्ति न होगी।

८३—कलियुग और घी, (१८८६ ई०)। पं० अम्बिकादत्त व्यास की यह दूसरी रूपक रचना भी प्रतीक-शैली की है। विषय की दृष्टि से घी में मिलावट की समस्या का आख्यान है।

८४—भारत-सौभाग्य नाटक, (१८८७ ई०)। पं० अम्बिकादत्त व्यास का यह नाटक ऊपर लिखे दोनो नाटकों की अपेक्षा एक सफल नाट्य-कृति है। यह रूपक प्रतीक-शैली में रचा गया है। अंग्रेजी राज्य के स्थापित हो जाने पर क्या-क्या लाभ हुए, इसका लेखा-जोखा लेखक ने प्रस्तुत किया है। यह नाटक

महारानी विक्टोरिया की जुबली पर लिखा गया था, इसलिए इसकी रचना-शैली प्रशंसात्मक अधिक है।

८६—मृत्यु-सभा (१८९५ ई०)। इस नाटक के रचनाकार दरयावसिंह तथा मदनराज सयुक्त लेखक हैं। नाटक मे नशा-विरोधी अभियान है। पात्रो मे प्रतीक नामो में यमराज, वासुदेव, दया, क्षमा, शूल आदि सम्मुख आते हैं। नशे के प्रति दर्शको में विरोधभाव उत्पन्न हो सके, इसी प्रयोजन से इस नाटक की रचना की गई है।

८७—कुन्दकली, (१८९५ ई०)। पं० जगन्नाथ शर्मा (जबलपुर-निवासी) का नाटक कुन्दकली प्रतीक-शैली पर रचा गया है। नाटक में गद्य-पद्य दोनो का प्रयोग हुआ है। नाटक के पात्र हैं कुन्दकली, मालिन, वीर आदि। संवाद बड़े-बड़े हैं।

८८—सत्यवती नाटक, (१८९६ ई०)। इस राजनीतिक रूपकालकार के लेखक मुशी छगनलाल कासलीवाल (अजमेर-निवासी) ने राजाओ के पथ-प्रदर्शन के लिए इस नाटक की रचना की। कथावस्तु के रूप मे न्यायसिंधु राजा के खुशामदी, अभिमानी आदि सहायक और सलाहकार हैं। वह इन लोगो के बहकावे मे आकर अपनी रानी सत्यवती को निकाल देता है। अंग्रेजों के आगमन से भारत में न्याय की नींव फिर दृढ़ होती है, इस आशा के साथ नाटक समाप्त होता है। नाटक में पात्रों के अनुरूप भाषा का प्रयोग हुआ है, इसलिए अर्थ ग्रहण करने मे कठिनाई होती है। नाटक में अभिनय की दृष्टि से अनेक दोष हैं।

८९—भारती-हरण, (१८९८ ई०)। इस नाटक के रचयिता श्री देवकी-नन्दन त्रिपाठी हैं। इस नाटक का उद्देश्य भारतवर्ष में विद्या का पुनः प्रसार है। भारती-अर्थात् सरस्वती के नाम के अनुरूप पूर्व में जैसा भारत था, अंग्रेजों के आगमन के पश्चात् अब भी वैसा ही हो जावे। अंग्रेजी भाषा हमारी सहायता के लिए आई है। नाटक की कथा पौराणिक आधार पर रची गई है। उसी प्रकार शैली भी प्राचीन है। भाषा में ब्रजभाषा आदि के प्रयोग भी हुए हैं।

९०—भारत-दुर्दशा रूपक, (१८९४ ई०)। प० प्रतापनारायण मिश्र द्वारा रचित भारत-दुर्दशा नाटक श्री मिश्र के देहावसान के पश्चात् १९०२ ई० मे प्रकाशित हुआ। भारत-दुर्दशा रूपक के पात्र कलियुग के मित्र कुमति, फूट, रोग, चौपटसिंह आदि हैं। पात्र-परिचय "इन्दर-सभा" शैली पर है। नाटक मे गद्य व पद्य दोनो का प्रयोग किया गया है।

प्रतीक शैली के नाटकों पर निम्नलिखित मंतव्य रूप से प्रभावित

करता हुआ दृष्टिगत होता है :—

१—इन प्रतीक शैली के नाटकों में राजनैतिक सुधार भावना व राष्ट्रीयता का स्वर प्रबल है।

२—प्रतीक शैली का निर्वाह साधारणतः कठिन होता है। कथा-प्रवाह मे भी बीच-बीच मे बाधा उत्पन्न होती है। नाटक नीरस व असफल एवं अभिनय में भी कठिन होते हैं। नाटक की प्रभावोत्पादकता में प्रतीक शैली प्रतिकूलता उत्पन्न करती है। प्रतीकों की दुरूहता रस-परिपाक में भी बाधा उत्पन्न करती है।

सामान्यतया भारतेन्दु-युगीन नाटक उद्देश्य की सफलता की दृष्टि से सफल माने जा सकते हैं, यद्यपि सभी नाटकों के लिए यह कथन उपयुक्त नहीं है।

संक्षेप मे भारतेन्दु-युगीन प्रमुख नाटको का उपर्युक्त परिचय कथानक और वातावरण-सृष्टि की मात्र रूपरेखा ही प्रस्तुत करता है, जिसके आधार पर उनके नाट्यगत सौन्दर्य की रूपरेखा प्रस्तुत की जा सकती है।

अध्याय : पाँच

भारतेन्दुयुगीन नाटकों का कलागत अध्ययन।

भारतेन्दु-युग के पूर्व हिन्दी नाट्य-साहित्य को प्रभावित करने वाले दो ही रूप प्राप्त हैं—(१) संस्कृत नाट्य-शैली, (२) जन नाट्य-शैली। अंग्रेजी भाषा और साहित्य के सम्पर्क के फलस्वरूप आलोच्य-काल में एक नयी नाट्य-शैली का दर्शन हुआ, और वह नाट्य-शैली पाश्चात्य नाट्य-शैली के नाम से अभिहित की गयी, यद्यपि उसको सीधे रूप में ग्रहण किया गया हो, ऐसे कोई उदाहरण सामने नहीं आते। भारतेन्दु-युग के नाटकों को कलाशिल्प के माध्यम से निखारने और उनमें जीवन-शक्ति फूंकने का कार्य स्वयं भारतेन्दु के व्यक्तित्व ने किया। वास्तव में भारतेन्दु ने भाषा को सँवारा, भावों को नवजागरण से सम्बद्ध किया और कला का विभिन्न रूपो मे सार्थक प्रयोग किया। अंग्रेजी राज्य के स्थापित हो जाने के फलस्वरूप वास्तविक जीवन-दृष्टि और यथार्थवादी रूप भी हमारे साहित्यकारों के समक्ष चुनौती के रूप में उभरा, जिसे उन्होंने साहस के साथ स्वीकार किया। नाट्य-कला की दृष्टि से संस्कृत और जन-नाट्य-शैली के साथ अंग्रेजी-नाट्य-शैली भी अपना प्रभाव प्रकट कर रही थी। भारतेन्दु और उनके समकालीन नाटककारो ने उनके निर्देशन में जिस नाट्यकला को जन्म दिया, वह अप्रतिम और इतिहास मे अपना विशेष स्थान रखती है।[१]

---

१. द्रष्टव्य (अ) भारतेन्दु ने अपने किसी नाटक को रूपक लिखा है, किसी को व्यायोग, किसी को सट्टक, किसी को नाट्य रासक, गीतिरूपक, प्रहसन, नाटिका इत्यादि। नाटकों का यह विभाजन उन्हें अंग्रेजी साहित्य से नहीं मिला। संस्कृत के पुराने रूप लेकर भारतेन्दु नये दृष्टिकोण से उसका सजीव उपयोग कर सके। यह उनकी प्रतिभा का ही प्रमाण है और उन पुराने रूपों की सजीवता का भी। डा० रामविलास शर्मा, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृष्ठ ७६।

नाटकों के कलागत अध्ययन के अन्तर्गत वे सभी तत्त्व सम्मिलित रहते हैं, जिनके द्वारा नाटककार अपने व्यक्तित्त्व और रचना-कौशल से ऐसी सृष्टि करता है, जिसको रंगमंच पर प्रस्तुत किया जा सके। इस दृष्टि से नाटककार की कला साहित्य की अन्य विधाओं से भिन्न कोटि की है। अपने भावो और विचारो को प्रकट करने के लिए नाटककार कथावस्तु का गठन, पात्रो की सृष्टि, भावोत्कर्षपूर्ण भाषा, सहेतुक कथोपकथन और देशकाल के अनुसार वातावरण की सृष्टि करता है। संस्कृत नाट्य-शास्त्र मे इन तत्त्वो को संश्लिष्ट रूप मे वस्तु, नायक और रस के माध्यम से व्यक्त किया गया है। वस्तु, पात्र और अभिव्यजना-शैली की दृष्टि से भारतेन्दुयुगीन नाटकों का कलागत अध्ययन अनेक महत्वपूर्ण उपलब्धियो से पूर्ण है। यह निर्विवाद है।

भारतेन्दु के नाटकों का कला-शिल्प

भारतेन्दुयुगीन नाटको में भारतेन्दु के व्यक्तित्व और उनके नाट्य-प्रयोगो का प्रत्यक्ष प्रभाव सर्वत्र दृष्टिगत होता है। हरिऔध ने अपने प्रद्युम्न-विजय-व्यायोग में लिखा है—

(आ) इस समय तक हिन्दी नाट्य-रचना को नया प्रकाश मिल चुका था। राजा लक्ष्मण सिंह का शकुन्तला-अनुवाद, अंग्रेजी नाटकों के अभिनय, अंग्रेजी नाट्य-प्रेमी सज्जनों की प्रेरणा और अंग्रेजी नाटकों की छाप-संयुक्त बंगला भाषा, इस प्रकाश को हिन्दी साहित्यकारों के सम्मुख प्रस्तुत करने के माध्यम थे। अतः इस युग के नाटक भारतीय पुरातन तत्त्वो के साथ अंग्रेजी नाटकों के लक्षण भी प्रदर्शित करते है। डा० शांतिगोपाल पुरोहित, हिन्दी नाटकों का विकासात्मक अध्ययन, पृ० ६७।

(ई) भारतेन्दु जी ने परम्परागत भारतीय नाट्य-पद्धति के प्रवाह मे यूरोपीय नाट्य-कला की नई धारा संयुक्त कर दी। परीक्षा के लिए उन्होंने अपने नाटकों में दोनों शैलियों का अलग-अलग प्रयोग किया और जिस कथानक के अनुकूल जो पद्धति प्रतीत हुई उसी को स्वीकार कर लिया। रचना-शैली में उन्होंने मध्यम मार्ग पकड़ा; न तो अंग्रेजी नाटकों का अंधानुकरण किया और न बंगला नाटकों की भाँति भारतीय शैली की नितान्त उपेक्षा ही की। साथ ही साथ प्राचीन नाट्य-शास्त्र के गहन आदर्श में पली नाट्य-नौका भी न फँसने दी। डा० दशरथ ओझा—हिन्दी नाटक का उद्भव और विकास, पृ० २०६।

"मम रचित इस प्रद्युम्न-विजय-व्यायोग, जिसको मैंने भाषा-कवि-चन्द्र-चडामणि भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र गौलोक निवासी के सस्कृत से अनूदित धनंजय-विजय-व्यायोग की छाया लेकर निर्मित किया है।"

यह कथन भारतेन्दु के निधन के पश्चात् उनके प्रभाव की स्थिति को स्पष्ट करता है। भारतेन्दु के जीवन-काल मे प्रताप नारायण मिश्र, राधाकृष्णदास, बालकृष्ण भट्ट, राधाचरण गोस्वामी प्रभृति नाटककारों ने नाट्यशैली की दृष्टि से ही प्रेरणा नही ली, अपितु वर्ण्य विषय, चरित्र और भाषा सभी क्षेत्रों में भारतेन्दु को अपना मार्गदर्शक माना। निश्चय ही यह भारतेन्दु की साधना का ही प्रतिफल है। उन्होंने तत्कालीन सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों मे यथार्थवादी विषयों का चयन किया, धार्मिक और पौराणिक मान्यताओं में भावना का चरम रूप प्रतिपादित किया और प्रहसन तथा प्रतीक नाट्य-शैली को स्वीकार कर दर्शकों और लेखको दोनो को नई दृष्टि प्रदान की। भारतेन्दु के नाटक उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किये गये। यद्यपि भारतेन्दुयुगीन नाटकों में साहित्य के रूप की वैसी मर्यादा के दर्शन नही होते, जैसी भारतेन्दु ने अपने नाटकों के माध्यम से सम्मुख रखी, तथापि नाटक एक लोकप्रभावी विधा के रूप में ग्रहण किया गया, और पारसी नाट्य-मच, अंग्रेजी अनुवादों के मंच के साथ हिन्दी रंगमंच का स्वरूप निर्धारित हुआ। नाटक लिखे गये तथा उनके अभिनय के भी कहीं-कहीं प्रयत्न हुए। भारतेन्दुयुगीन नाटकों की कलागत उपलब्धि का अध्ययन करने के पूर्व भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटकों के कलात्मक पक्ष का, जिसमे संस्कृत नाट्य-शिल्प के आधार पर आये रूप-विधान तथा पश्चिमी यथार्थवादी दृष्टि के नाटकों की दुखान्त स्थिति तक सम्मिलित है, परिचय प्राप्त करना अभीष्ट होगा। वास्तविक स्थिति यह है कि भारतेन्दु के नाटकों का अध्ययन कर लेने पर एक सुनिश्चित परम्परा का विकास होता हुआ दृष्टिगत होता है, तभी आलोच्य युग के नाटकों का स्वरूप ठीक से हृदयगम किया जा सकता है।

चन्द्रावली नाटिका

मौलिक नाटक

प्रायः सभी समीक्षक चन्द्रावली नाटिका को मौलिक नाटकों में श्रेष्ठतम उपलब्धि मानते हैं। नाटिका की गणना उपरूपक के अठारह भेदों में से सर्वप्रथम भेद के रूप मे की जाती है। भारतेन्दु ने उसे "नाटिका" कहा है। अतः नाटिका के शास्त्रीय लक्षणों के अनुसार नाटिका मे कथावस्तु उत्पाद्य, अंक चार, नारी पात्र प्रधान, शृंगार रस, नायिका के प्रेम-प्रसंग में नायक की पत्नी की बाधा, नायक

धीरललित कैशिकी वृत्ति आदि प्रमुख है।

चन्द्रावली की रचना भारतीय नाट्य-परंपरा के आधार पर है। चन्द्रावली की कथावस्तु कल्पित है, यद्यपि इसका बीज श्रीमद्भागवत मे मिलता हैं, तथापि संपूर्ण कथा का स्वरूप-संगठन नाटककार का कल्पना-प्रसूत है।

कथावस्तु

श्रीकृष्ण के प्रति चन्द्रावली का अनन्य प्रेम इसका मूल है। प्रेम को लेकर ही उसका विकास हुआ है। कथावस्तु मे जटिलता नही है। प्रेम के दोनों पक्षो मे प्रमुखता वियोग को प्राप्त है। संयोग सुखान्त है। पत्र-माध्यम से सखी ललिता इस वियोग को समाप्त करने में सहायिका है। प्रेम-विरह-मिलन की परिधि में घिरी हुई इस विलक्षण अनन्य प्रेम-कथा को नाटककार ने चार अंकों मे विभाजित किया है। प्रथम अंक में प्रेम की चर्चा, द्वितीय व तृतीय अंक मे विरह-वर्णन की प्रधानता है। चतुर्थ में मिलन से कथा की समाप्ति है।

आरंभ में सूत्रधार का रंगमंच पर प्रवेश होता है। सूत्रधार पारिपार्श्विक के साथ वार्तालाप के द्वारा नाटिका अभिनीत होने की चर्चा करता हुआ रचयिता, नाटककार का परिचय कराता है। नारद व शुकदेव मुनि के आगमन से चन्द्रावली व श्रीकृष्ण के प्रेम का परिचय मिलता है। नाटिका के प्रथम अंक में कार्य व्यापार की प्रथम अवस्था प्रारंभ नायक कार्यावस्था है। चन्द्रावली और ललिता के सम्बन्ध से सखी उसके मन का प्रीतिभाव जान लेती है तथा सहनायिका होने का आश्वासन आरंभ, नायक कार्यावस्था को जन्म देता है। प्रथम अंक में ललिता का छिपा कथन, फल का स्पष्ट इंगित होने से बीज नायक अर्थ प्रकृति है। इसके सहयोग से मुख-सन्धि हुई है। द्वितीय अंक मे पत्र-प्रेषण और सखियों की क्रियाशीलता, चन्द्रावली का उद्योग-प्रयत्न नायक कार्यावस्था है। इस अंक मे बिन्दु अर्थप्रकृति है। चन्द्रावली का प्रेम पूर्ण विकसित है। इसी अंक में बीज पल्लवित है, अतः प्रतिमुख संधि मानना उचित है। तृतीय अंक में आशा-निराशा के मध्य प्राप्त्याशा और प्रकरी अर्थप्रकृति है। फलप्राप्ति की पूर्ण आशा गर्भसंधि है। चतुर्थ अंक मे नियताप्ति व फलागम दोनों अवस्थाएँ हैं। श्रीकृष्ण का योगिनी वेश में आना और चन्द्रावली की आशा-जन्य आशंका नियताप्ति है। श्रीकृष्ण का वास्तविक रूप धारण कर लेना, चन्द्रावली का आलिंगन करना, फलागत नामक कार्यावस्था है। इसी अंक मे कार्य नामक अर्थप्रकृति है। निराशा की स्थिति में विमर्श संधि और मिलन मे निर्वहण संधि का रूप स्पष्ट हो जाता है। प्रथम अंक से ही नाटिका की कथावस्तु प्रारंभ होती है। नाटिका मे पुरुष-पात्रों की सत्ता नहीं है। कथा के अन्त तक केवल नारियाँ ही

रंगमंच पर आती हैं। नायक राजवंश का धीर ललित है, नायिका भी संगीत में निपुण है। नायक की पत्नी श्रीमती का भय ही दोनों के मिलन में व्यवधान है। शास्त्रीयता के अनुरूप सखी विशाखा के प्रयत्न से श्रीमती की आज्ञा से ही मिलन होता है :—

विशाखा—'सखी बधाई है। स्वामिनी ने आज्ञा दई है के प्यारे सो कहिदे कि चन्द्रावली के कुन्ज मे सुखेण पधारो।'

नाटिका में शृंगार रस के विप्रलंभ-पक्ष का प्राधान्य है। नाटिका का मुख्य विषय प्रेम है। एक गोपिका का आराध्य श्रीकृष्ण के प्रति आकुल आत्म-समर्पण है। प्रेम का उदात्त स्वरूप है। विप्रलंभ का चित्रण ही उसके उदात्त रूप, उसकी विविधता एवं विविध दशाओं का परिचायक है। इसे विरह के प्रवास के अन्तर्गत रखा जा सकता है। आचार्यों के अनुसार विरह की दस अवस्थाओं में से अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, जड़ता, मूर्च्छा व मरण में से मरण के अतिरिक्त शेष सब उपलब्ध हैं। विरह की दशा को उद्दीप्त करने में प्रकृति का स्वरूप रीतिकालीन साँचे में ढला है। विरह-वर्णन में स्वाभाविकता, मार्मिकता एवं अनुभूति की सच्चाई है। वस्तुतः चन्द्रावली वल्लभाचार्य के पुष्टि-मार्गीय सिद्धान्त में भक्ति-भावना का स्वात्म-समर्पण का प्रतीक रूप है। आत्मा प्रिय के वियोग मे असह्य पीर को सहन करती हुई उसी में तद्रूप हो जाती है। चन्द्रावली को अपनाते समय श्रीकृष्ण स्पष्ट कथन करते हैं—'तो प्यारी मैं तोहि छोडि के कहाँ जाऊँगो, तू तो मेरा स्वरूप ही है। यह सब प्रेम की शिक्षा करिबे को मेरी लीला है।' विरह का महत्व प्रतिपादित करते हुए कहते हैं—'परन्तु मोहि निहचे है के हमारे प्रेमिन को हमसों हूँ हमारो विरह प्यारो है'। पुष्टिमार्गीय भक्ति में विरह का प्राधान्य है। समर्पण के निवेदन में स्पष्ट है कि भारतेन्दु ने चन्द्रावली के माध्यम से अपने आराध्य के प्रति अपने प्रेम-भाव की अभिव्यक्ति की है।

कैशिकी वृत्ति के अन्तर्गत नायक और नायिका के प्रेमविलास की प्रधानता, गायन-वादन, नृत्य की अधिकता होती है। प्रेम का स्वरूप इसकी कथा है। सम्पूर्ण नाटिका गीत-प्रधान है। वर्षा-ऋतु में हिंडोले के अवसर पर सखियों के नृत्यगीत का सारा वातावरण आमोद-प्रमोद का है।[1] इसमें शृंगार-विप्रलंभ

१. द्रष्टव्य—डा० दशरथ ओझा का मत—'भारतेन्दु ने यह नाटिका रास-शैली को लक्ष्य करके लिखी है। भारतेन्दु जी किसी नाट्य-परम्परा का बहिष्कार एवं संहार नहीं चाहते थे, वरन् उसके परिष्कार और उद्धार के लिये प्रयत्न-शील थे। चन्द्रावली के द्वारा रासलीला-नाटकों में एक नवीन विधान का संयोग कराना चाहते थे।'—हिन्दी नाटक उद्भव और विकास, पृ० १७

शृंगार को समुचित स्थान मिला है।

भाषा

नाटिका मे भाषा भावो की सरलता के अनुरूप प्रवहमान है। भाषा की विदग्धता प्रशंसनीय है। ब्रजभाषा व खड़ी बोली में संवादो की अवतारणा हुई है। भावावेश मे चन्द्रावली की भाषा ब्रज है। पद्यभाग ब्रजभाषा है। ब्रजक्षेत्र होने से देशकाल परिस्थिति की दृष्टि से ब्रजभाषा का प्रयोग नितान्त वान्छनीय है। संवाद भावाभिव्यंजक है। काव्यात्मक भाषा का बाहुल्य है। संवादों में सजीवता है—यथा,

ललिता कहाँ तुम्हारो देश है ?
जोगिन प्रेम नगर पिय गाँव।
ललिता का गुरु कहि बोलहिं
जोगिन प्रेमी मेरो नाव।
ललिता जोग लियो केहि कारने ?

सपूर्ण नाटक में प्रेम-तत्त्व की प्रधानता है। भारतेन्दु ने कृष्ण-प्रेम के जिस आदर्श को चन्द्रावली नाटिका के माध्यम से व्यक्त किया है वह परम प्रेम है। आध्यात्मिक प्रेम से परिपूर्ण यह नाटिका भक्तो के लिए अपूर्व ग्रंथ है। स्वयं भारतेन्दु का यह कथन उसकी पुष्टि करता है—'इसमे तुम्हारे उस प्रेम का वर्णन है, इस प्रेम का नही।'

नाटिका मे सूत्रधार की पारिपार्श्वक की बातचीत में प्ररोचना का उद्देश्य पूर्ण है। इनका वार्तालाप प्रस्तावना है। नैपथ्य का प्रयोग है। विष्कंभक मे नारद व शुकदेव श्रीकृष्ण-चन्द्रावली के प्रेम से परिचय करा देते हैं। अंकावतार का भी प्रयोग है। नाटक का अंत भरत-वाक्य से होता है। चन्द्रावली नाटिका शास्त्रीय नियमो एवं सिद्धान्तों के अनुसार भारतीय नाट्य-परम्परा के सर्वथा अनुरूप है। यह भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की मौलिक सृजनात्मक प्रतिभा की परिचायक है।

वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का मौलिक प्रहसन 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' प्रहसन के क्षेत्र में पहिली रचना है, जिसमें धर्म एवं समाज के पाखण्ड व ढोंग को चित्रित करते हुए भारतेन्दु ने उसकी विकृति को स्पष्ट किया है। प्रहसन के पात्र राजा, मंत्री, पुरोहित, भट्टाचार्य तथा गडकीदास अज्ञान की कूपमंडूकता व इन्द्रियों की स्वार्थलिप्सा से युक्त अनाचारी पात्र हैं। ये सभी पात्र विशेष प्रवृत्तियों के प्रतीक मात्र हैं। वेदाती, शैव और वैष्णव-पाखंड को दूर करने की चेष्टा करते हुए,

सद्ज्ञान का प्रकाश प्रसारित करते है। यम और चित्रगुप्त न्याय व धर्म के प्रतीक है। अनाचार, दुराचार तथा धर्म और न्याय के विरोध मे अनाचार के प्रतीको की पराजय दिखाई गई है।

प्रहसन के प्रथम व द्वितीय अक मे सवाद भावाभिव्यजक है। प्राचीन नाट्य-परम्परा के लक्षणो का परिपालन करते हुए नान्दी व प्रस्तावना व अकों का विभाजन किया गया है। सामाजिक व्यग एव यथार्थवादी शैली का अनुसरण है। इस प्रहसन मे भारतीय व पाश्चात्य नाट्य-शैलियों का समन्वित रूप दृष्टिगत होता है। नाटक मे अग्रेजी शब्दो के प्रयोग तथा व्यग की स्वाभाविक अभिव्यक्ति को लक्ष्य कर, इस नाटक पर अग्रेज़ी सुखान्त नाटको की छाया का भास होता है; किन्तु भारतीय परिस्थितियो का ऐसा सजीव व्यंग-चित्रण केवल शैलीगत प्रभाव से महत्वपूर्ण नहीं बन सकता। यह तो भारतेन्दु की रचना-प्रतिभा का परिणाम है, जिन्होने प्रहसनो की रचना कर सस्कृत नाटय-शिल्प की एकरसता से सहृदयो को मुक्त किया और उन्हे नई सामग्री प्रदान की। यह एक सहेतुक नाटक है।

प्रेमयोगिनी

प्रेमयोगिनी एक सामान्य कोटि की रचना है, जिसमे काशी की यथार्थ स्थिति पर चार व्यंग चित्र हैं। यह नाटिका अपूर्ण है। नाटिका मे कथानक का अभाव होने से चारित्रिक विकास के लिए कोई स्थान ही नही।

इस नाटिका के द्वारा भी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र समाज के अकर्मण्य जीवन की कटु आलोचना मे व्यस्त हैं। आधुनिक शिक्षा के दुर्गुण, गौसाई की धृष्टता, मुगलसराय स्टेशन का वर्णन आदि प्रसग यथार्थवादी कहे जा सकते है। पात्रो के द्वारा मराठी, गुजराती, खडी बोली, ब्रजभाषा, अंग्रेज़ी आदि विविध भाषाओं का प्रयोग है। अभिनेयता की दृष्टि से असफल है। नाटकीय गति का भी अभाव है। चार गर्भांको की यह नाटिका कलात्मक दृष्टि से अविकसित और नाट्य-कौशल से रहित है।[1] यद्यपि भाषा-प्रयोग की दृष्टि से यह नाटक स्मरण किया जाता है,

१. दृष्टव्य : डा० शांतिगोपाल पुरोहित का मत—हिन्दी नाटकों का विकासात्मक अध्ययन, पृ० ११३ :

'इसका आनरेरी मजिस्ट्रेट-वर्णन, स्वदेश-प्रेम और पाश्चात्य निन्दा का परिचायक है। काशी-वर्णन भी देश-प्रेम और देश-दुर्दशा का द्योतक है। इन्हें हम नाटक में प्रांतीय तत्व कह सकते हैं। मुगलसराय स्टेशन का वर्णन इस दृष्टि से पठनीय है। इसमें यथार्थवाद को समुचित स्थान दिया गया है। कथोपकथों में इसे यथावकाश का योगदान माना है।

तथापि डा० दशरथ ओझा का विचार है कि विविध बोलियो और संकेतमयी भाषा की छटा, काशी की स्थानीय विनोद-शैली के साथ, जैसी इस नाटक मे मिलती है, वैसी भारतेन्दु के अन्य किसी नाटक मे नही।[1] तथापि स्थानीय रग के कारण यह भाषा-प्रयोग उसका एक दोष भी है।

विषस्य विषमौषधम

बोलचाल की मुहावरेदार भाषा मे रचित यह भाण एक सत्य घटना पर आधारित है।

रूपक के भेदो मे भाण की गणना की जाती है। इसमे कथावस्तु का कोई सुनिश्चित स्वरूप व विकास नही होता। भाण में केवल एक ही पात्र होता है और वह आकाश भाषित (काल्पनिक पात्र) के सहारे 'किं ब्रवीषि' कहता हुआ सम्बोधन-उक्ति-प्रत्युक्ति के द्वारा वीर रस-सूचक शौर्य एवं शृ गार रस-द्योतक घटनाओं का प्रदर्शन करता है। इसमें एक ही अक होता है। इसमे भारती वृत्ति होती है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भाण का लक्षण इस प्रकार बताया है—'भाण में एक ही अक होता है। इसमे नट ऊपर देख-देखकर, जैसे किसी से बात करे, आप ही सारी कहानी कह जाता है। बीच मे हँसना, गाना, क्रोध करना, गिरना आप ही दिखलाता है। इसका उद्देश्य हँसी, भाषा, उत्तम और बीच-बीच में संगीत भी होता है।'[2]

इस भाण में बडौदा-नरेश, महाराज मल्हारराव के पतन को दिखाकर अंग्रेजो द्वारा उनको सिंहासन से राजच्युत करने की घटना का उल्लेख है। देशी राजाओ के अनाचार और चारित्रिक दुर्बलताओ को दिखाकर नाटककार अंग्रेजी राज्य के इस कार्य की प्रशसा करता है। कथावस्तु नीरस है। इस भाण मे अन्य कहावतो के साथ सस्कृत कहावतो के अनुवाद भी प्राप्त होते हैं। नान्दीपाठ और प्रस्तावना नही है किन्तु अन्त मे भरतवाक्य का प्रयोग है। भरतवाक्य से भारतेन्दु ने न केवल प्रजा वरन् राजन्य वर्ग को भी चेतावनी दी है।

भारत-दुर्दशा

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की राष्ट्रीय भावना के यथार्थ स्वरूप का परिचय 'भारत-दुर्दशा' रूपक में उपलब्ध होता है। उत्पाद्य कथा और प्रतीक पात्रो के माध्यम से युग की परिस्थितियो का शोचनीय चित्र व राष्ट्रीय अवनति के कारणो का इसमे विश्लेषणात्मक विवेचन किया गया है।

---

१. हिन्दी नाटक उद्भव और विकास, पृ० १६२।
२. भारतेन्दु नाटकावली भाग २, पृ० ४२४ (नाटक)

कथा

इस रूपक मे छः अंक हैं। निराशा के वातावरण मे भारत-भाग्य की आत्म-हत्या अत्यंत करुण परिवेश प्रदर्शित करती है, किन्तु इसे एकमात्र दु:खान्त और घोर निराशामयी हीनता का संकेत ही नही मान लेना चाहिए। इस नाटक का नायक भारत है। भारत-भाग्य अंतिम अंक में निष्क्रिय, निश्चेष्ट, मूच्छित भारत के प्राचीन गौरव का स्मरण दिलाकर उन्नति के प्रशस्त मार्ग पर बढने की प्रेरणा देता है, किन्तु निराश होकर कटार मार लेता है।

इस रूपक में भारत, भारत-दुर्दैव, निर्लज्जता, आशा, सत्यानाश, रोग, आलस्य, मदिरा, अंधकार, भारत-भाग्य प्रतीक हैं। संस्कृत के 'प्रबोध-चंद्रोदय' के पात्रों के मानवीकरण की सांकेतिक परम्परा का भारतेन्दु ने सर्वथा मौलिक रूप से प्रयोग किया है।

नाटककार प्राचीन गौरव का स्मरण करता है और वर्तमान पराभव तथा हीनावस्था के उद्धार के प्रयत्न में संलग्न है। साथ ही विदेशी अंग्रेजी राज्य के प्रति कृतज्ञ है, जिसने अनाचारी मुस्लिम शासकों से मुक्ति दिलाई। अंग्रेजी राज्य के ज्ञान-विज्ञान एवं प्रगति के प्रति यदि कृतज्ञ है तो साथ ही व्यापारिक शोषण के विरुद्ध भी—

अंग्रेज-राज सुख-साज सजे सब भारी,
पै धन विदेश चलि जात इहे अति ख्वारी,
ताहू पै महँगी, काल, रोग, विस्तारी,
दिन-दिन दूने दुख ईस देत, हा हा री !
सबके ऊपर टिक्कस की आफत आई,
हा, हा, भारत-दुर्दशा न देखी जाई।

भारत-दुर्दैव विदेशी शासको का प्रतीक है। भारत के पराभव व हीनावस्था का कारण उसकी अपनी दुर्बलताएँ थी। भारत में फैले कुसंस्कार ही भारत-दुर्दैव के साथी हैं। कलह, आलस्य, धार्मिक अधता, अज्ञान और कुमति इसके शत्रु हैं। इनके कारण ही जो देश एक समय विद्या, बल, ऐश्वर्य, बुद्धि में अग्रगण्य था वह अब दीनहीन, पराधीन है।

सबके पहिले जेहि ईश्वर धन-बल दीनो,
सबके पहिले जेहि सभ्य बिधाता कीनो,
सबके पहिले जो रूप-रंग-रस भीनो,
सब पहिले विद्याफल जिन गहि लीनो
अब सबके पीछे सोई परत लखाई।

जिस देश मे सभ्यता, संस्कृति के प्रतिमान बने, देश की यशस्वी उज्ज्वल परम्परा के कीर्तिमान स्तंभ हुए—

जहँ भये शाक्य, हरिचंदरु नहुष, ययाती,
जहँ राम, जुधिष्ठिर, वासुदेव सर्याती,
जहँ भीम, करन, अर्जुन की छटा दिखाती,
तहँ रही मूढता-कलह-अविद्या-राती।

वहाँ

अब जहँ देखहु तहँ दुःखहि दुःख दिखाई,
हा, हा ! भारत-दुर्दशा न देखी जाई।

मँहगाई, भ्रष्टाचार, छुआछूत, मदिरापान, अपव्यय, धार्मिक-साम्प्रदायिक द्वेष, आलस्य भारत के सर्वनाश मे सहायक है। व्यंग इस रूपक की शक्ति है समाज पर, धर्म पर, शासन पर, कायर सुधारको पर तीव्र व्यंग किए हैं। सन्तोष की वृत्ति जो निष्क्रियता की उद्भाविका है, उस पर तीव्र क्षोभ व्यक्त किया है—

दुनिया में हाथ-पैर हिलाना नही अच्छा
मर जाना पै उठके कही जाना नही अच्छा,

मिल जाये हिन्द खाक मे हम काहिलों को क्या,
ऐ मीरेफ़र्श रंज उठाना नही अच्छा।

इसी प्रकार मद्यपान के सम्बन्ध मे, दूधसुरा, दधि-सुरा, वेद-सुरा, ईश्वर-सुरा, स्वर्ग के नाम यहाँ तक कि सुरा, अन्न, धनधाम-जगत सुरामय होई।

पाँचवे अंक में देशोद्धार के लिए प्रयत्न करने वाले सुधारको की कोरी योजनाओं व कायरतापूर्ण व्यवहारों पर तीव्र व्यंग है। जाति-पाँति, धर्म, मत-मतांतरों की विभाजककारिणी वृत्ति को नाटककार भारत के नाश का कारण मानता है।

रूपक की भाषा पात्रोचित, रंगमंचीय एवं सरस व चित्ताकर्षक है। प्रचलित देशज भाषा व मुहावरो का प्रयोग है। रूपक अभिनेय है। भारत को मोह-निद्रा से जगाने वाला कोई नहीं। जो जानबूझकर सोया है उसे कौन जगा सकता है ?

विद्या का सूर्य पश्चिम से उदय हुआ है। देश-विदेश से नई-नई विद्या और कारीगरी आई। तुमको उस पर भी वही सीधी बातें, वही भांग के गोले, ग्राम्यगीत, बाल्यविवाह, भूतप्रेत की पूजा, जन्मपत्री की विधि, थोडे मे संतोष, गप्प हाँकने में प्रीति और सत्यानाशी चाले प्रिय हैं। अब सोने का समय नहीं है।

अंग्रेजों का राज्य पाकर भी न जगे तो कब जागोगे ? भारत-भाग्य उसे जगाने की यथाशक्ति चेष्टा करता हुआ छाती मे कटार का आघात कर लेता है और यवनिका-पतन होता है । इस प्रकार यह देशवत्सलता के भाव से परिपूर्ण एक दु:खान्त नाटक है । यद्यपि कुछ विद्वान् इसे दु:खान्त नाटक नही मानते ।[१]

इस नाटक में पाश्चात्य नाट्य-शिल्प में प्राप्त उद्देश्य की अभिव्यक्ति बडे सहज रूप से हुई है । भाग्य के भरोसे बैठने से ही हमारे देश भारतवर्ष का (नाटक मे नायक, भारत का) नाश हुआ । भाग्य के संहार में ही भारतोदय का भाव है । यह सदेश के रूप में पचम अक में प्राप्त है ।

नील देवी

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने इस ऐतिहासिक नाटक मे नारी के अबला-रूप को शक्ति का तेजस्वी स्वरूप, निर्भीकता की प्रतिमूर्ति व पुरुष के समान सहयोग के आदर्श को सजीवता प्रदान की है । समाज मे नारी केवल भोग्या नही है, वरन् वह अपनी तेजस्विता से समाज के गौरव का प्रतीक बने, देश की रक्षा करे । नाटक के पूर्व वक्तव्य में नाटककार ने अंग्रेज स्त्रियों की भाँति भारतीय गृहदेवी के भी शिक्षित, जागरूक व कर्तव्यपरायण माता बनने की लालसा व्यक्त की है ।

नाटक की कथावस्तु सक्षिप्त है । पजाब के राजा सूर्यदेव को अब्दुश्शरीफ धोखे से रात्रि के समय निद्रावस्था मे बन्दी बना लेता है और उसे धर्म-परिवर्तन के लिए मजबूर करता है । राजा किसी प्रकार भी अपनी स्वीकृति नही देता । यवनो के हाथ बन्दी अवस्था मे भी छड से अनेको को घायल करके राजा मृत्यु को प्राप्त होता है । राजकुमार के अन्य कुछ सरदार सभी, यवनों से युद्ध करके मरने की अपेक्षा, उसे अकेला छोडकर चले जाते है । रानी नीलदेवी, छल से की गई पति की मृत्यु का प्रतिशोध लेने के लिए, कूटनीति का आश्रय लेती है । वह वारागना के वेश मे यवन सरदार के विजयोल्लास के अवसर पर दरबार मे उपस्थित होती है । उसके सगीत और नृत्य से अत्यधिक उल्लसित सरदार उससे मद्यपान के लिए आग्रह करता है । मदहोश अब्दुश्शरीफ को कटार मार कर रानी नीलदेवी अपने पति की मृत्यु का प्रतिशोध लेती है । उसका पुत्र व अन्य कुछ साथी

---

१. द्रष्टव्य—डा० दशरथ ओझा का मत—यह नाटक दु:खान्त है ही नहीं । इससे यह ध्वनि निकलती है कि भारतेन्दु जी ने भारत को दो रूपों में प्रदर्शित किया है, एक पराधीन भारत, जो भाग्याधीन है, दूसरा स्वाधीन भारत जो उसका आदर्श भारत है हिन्दी नाटक उद्भव और विकास, पृ० १७६ ।

यवनों की मारपीट करते हुए निकल जाते हैं। रानी वहीं अपने को कटारी मार कर सती हो जाती है। दस दृश्यों मे कथावस्तु का संगठन कुशलता से किया गया है। नाटक में गतिशीलता है। कथा-व्यापार द्रुत गति से आगे बढ़ता है।

नील देवी गीतिरूपक है। इस पर पाश्चात्य नाट्य-शैली का प्रभाव, आरम्भ में कोरस-गान व अन्त में दुःखान्त की नियोजना मे, स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

यवनों की बर्बरता और राजपूतों के शौर्य, दर्प और वीरोचित उत्सर्ग को पूर्णतः व्यक्त नहीं किया गया। नाटक की भाषा पात्रोचित है। फारसी शब्दों के प्रयोग की भी बहुलता है।

नाटक में अभिनय की दृष्टि से रंगमंचीय सकेत पर्याप्त हैं। छठे अक का पागल प्रतीक-पात्र है। नीलदेवी, राजा सूर्यदेव, प्रतिनायक अब्दुश्शरीफ के सवाद अभिनय के अनुकूल उत्कृष्ट हैं।

नीलदेवी का व्यक्तित्व चतुर, निर्भीक, वीरांगना के रूप में हुआ है। नीलदेवी का उदात्त चरित्राकन ही इस गीतिरूपक का उद्देश्य है। नाटककार ने प्रारम्भ में दुर्गापाठ के मंत्र रखे हैं तथा समर्पण इस प्रकार है —

'मातृ, भगिनी, सखी-तुल्या आर्य ललनागण को।'

वास्तव मे इस नाटक की पृष्ठभूमि मे धर्म और अधर्म की प्रतिद्वन्द्विता है। राजा को विश्वास था कि यवन रात्रि मे सुप्तावस्था मे आक्रमण नहीं करेंगे, किन्तु राजा की मृत्यु रात्रि मे ही हुई और सभवत इसीलिए आर्यललना नीलदेवी ने मुसलमानी दरबार मे जाकर नर्तकी के भेष मे उस यवन सरदार से बदला लिया। भारतेन्दु के इस नाटक मे धर्मनीति और राजनीति के समन्वय का सकेत है। आपद्काल मे देशवत्सलता के वशीभूत आर्यनारी का यह चरित्र एक आदर्श अभिव्यक्ति है। लेखक को इसमे पूर्ण सफलता मिली है। दूसरी ओर नाटकों को सफल बनाने में 'पताकास्थानक'[१] का इस नाटक मे उपयोग किया गया है, जिससे नाटक मे चमत्कार की वृद्धि होती है। नीलदेवी नाटक का दशम दृश्य इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

भारत-जननी

भारतजननी बँगला नाटक भारतमाता का रूपान्तर है, यद्यपि डा० सोम-

---

१. पताकास्थानक में सहसा स्थिति विपर्यय से अर्थ-सिद्धि द्वारा कथावस्तु की धारा-दिशा मोड़ दी जाती है।

नाथ गुप्त इसे भारतेन्दु की मौलिक रचना मानते हैं।[1]

यह भारत की दैन्यावस्था को चित्रित करने वाला एकांकी है। भारत-जननी, भारतसंतान, पहला अंग्रेज व दूसरा अंग्रेज चारों प्रतीक-पात्र हैं। दरिद्र भारत-जननी अपनी संतानों को जगाती है। बड़ी कठिनाई के उपरान्त जागने पर वे भोजन माँगते हैं। भारत-जननी महारानी विक्टोरिया से याचना करती है। पहला अंग्रेज आकर उसे फटकारता और धमकाता है, दूसरा आकर भारत-संतानों के प्रति सहानुभूति की भावना व्यक्त करता है। प्रथम अंग्रेज कम्पनी-शासन का प्रतीक है। दूसरा उदार अंग्रेज महारानी विक्टोरिया के प्रशासन का। इसी प्रकार लक्ष्मी, दुर्गा, विद्या आदि पात्र हैं जो भारत मे आदर न पाकर अन्यत्र विदेशों में चले गये हैं।

इस रूपक के अन्त मे आशा की ध्वनि है। भारत-जननी भारत-सन्तानों को धैर्य के साथ अपने भविष्य निर्माण की प्रेरणा प्रदान करती है।

भाषा अलंकारमयी, दुरूह है। रंगमंचीय निर्देश स्पष्ट है। प्रचारात्मक उद्देश्य-प्रधान रचना है।

अन्धेर नगरी

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इस प्रहसन की रचना बिहार के किसी जमींदार के अन्याय को लक्षित करके की थी। नाटककार ने समाज व्यवस्था के ऐसे रूप पर व्यंग किया है, जहाँ पर अन्याय और न्याय के मध्य कोई अन्तर न रहता हो। समसामयिक समाज में जो विकृतियाँ पाई जाती हैं उनका उल्लेख गुरु-चेले की बातचीत (चेले का पक्वान्नप्रिय होना) में है, जैसे बाजार में सभी वस्तुओं का मूल्य समान होना, न्याय-अन्याय में भी कोई विभेद न होना आदि। अतिरंजित एवं

---

1. द्रष्टव्य : डा० दशरथ ओझा का मत—"डा० सोमनाथ इस नाटक को भारतेन्दु जी की मौलिक रचना मानते हैं और साथ ही साथ यह भी कह जाते हैं कि इसे नाटक कहना व्यर्थ है। नाटक न कहने का कारण बताते हैं कि इसमें एक ही दृश्य है और सारा कार्य-व्यापार उसी में आरम्भ होकर समाप्त हो जाता है। डा० सोमनाथ जिस कारण से नाटक नाम न देने का विरोध करते हैं, वह तो उत्तम एकांकी नाटक का लक्षण है। एक ही दृश्य में आद्योपान्त कथावस्तु दिखाई जा सके तो अभिनय में पट परिवर्तन का झगड़ा ही बच जाए और प्रेक्षकों को सफलता से रसानुभूति कराई जा सके। इस नाटक को स्वयं भारतेन्दु जी ने मौलिक नाटक नहीं बताया है। हिन्दी-नाटक उद्भव और विकास, पृ० १८३।

व्यंग-शैली में अत्यन्त रोचकता के साथ तत्कालीन स्थिति का पर्यवेक्षण इस नाटक मे हुआ है। अंधेर नगरी के राजा का चरित्र पर्याप्त विकसित हुआ है। 'अन्धाधुन्ध मच्यौ सब देशा, मानहुं राजा रहत विदेशा' में अंग्रेजी शासकों की ओर संकेत दृष्टव्य है।

भारतेन्दु की समस्त नाट्य-कृतियों में संभवतः 'अन्धेर नगरी' को सर्वाधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई। यह नाटक कदाचित उन सामान्य दर्शकों, ग्रामों में रहने वाले अपढ़ तथा सामान्य स्तर के व्यक्तियों को दृष्टि मे रखकर लिखा गया है। इस नाटक की यह एक विशेषता है कि परिमित शब्दावलि का उपयोग इसमे हुआ है तथा लोकप्रचलित स्वांग, भांड़-मडलियो द्वारा जो अश्लील खेल खेले जाते थे, उनमें से अश्लीलत्व को निकाल कर घरों में प्रयुक्त होने वाले शब्दों को रख दिया है। चूरन वाले द्वारा कहा गया यह कथन दृष्टव्य है—

चूरन अमल वेद का भारी, जिसको खाते कृष्ण मुरारी।
मेरा पाचक है पचलोना, जिसको खाता श्याम सलोना।
चूरन साहेब लोग जो खाता, सारा हिन्द हजम कर जाता।
चूरन पूलिस वाले खाते, सब कानून हजम कर जाते।

अन्यायी राजा को अन्त में टिकटी पर चढ़ाकर भारतोद्धार की ओर लेखक ने सहज ही संकेत कर दिया है।

सती-प्रताप

'सती-प्रताप' गीतिरूपक अपूर्ण ही रह गया था जिसे बाबू राधाकृष्णदास ने पूर्ण किया है। सावित्री-सत्यवान की कथा द्वारा भारतीय नारियों के समक्ष सतीत्व का आदर्श प्रस्तुत किया गया गया है। सजग, सशक्त राष्ट्र में नारी का पूर्ण सहयोग जिस प्रकार हो सकता है, उस स्वरूप को भारतेन्दु ने भारतीय आदर्शों के अनुरूप प्रकट करने का प्रयत्न किया है। अधूरे कथानक में ही कलात्मकता का यथेष्ट परिचय है। नाटकीय प्रयोजन व आदर्श स्थापना का सुन्दर समन्वय है। प्रथम अंक में प्रकृति-सौन्दर्य व अप्सराओ के गीत से मनोहर वातावरण की सृष्टि है।

अनुवादित नाटक

रत्नावली नाटिका

इस नाटिका के मूल रचयिता श्री हर्ष संस्कृत-नाट्य-साहित्य में प्रसिद्ध हैं। नाटिका में वत्सराज तथा रत्नावली के प्रणय का वर्णन, महारानी की बाधा, अन्ततोगत्वा पति-इच्छा की स्वीकृति को रोचकता से प्रस्तुतीकरण किया गया है।

रत्नावली में नान्दी, प्रस्तावना तथा विष्कम्भक ही उपलब्ध हैं, शेष भाग अप्राप्य है। उपलब्ध अंश से ही अनुवाद-कौशल का पूर्ण परिचय मिलता है। पद्य का अनुवाद पद्य मे तथा गद्य का गद्य मे किया गया है। भाव-सौन्दर्य की रक्षा मे अनुवादक की सफलता प्रशसनीय है। अपूर्ण होने से कथावस्तु व चरित्र, रस, आदि का विवेचन संभव नही है।

पाखण्ड-विडंबन

कृष्ण मिश्र द्वारा रचित 'प्रबोध-चन्द्रोदय' रूपक के तृतीय अंक का अनुवाद पाखंड-विडंबन नाम से किया है। प्रतीकात्मक कथानक के द्वारा नाटककार ने व्यक्त किया है कि सांसारिक जन सात्विक श्रद्धा को परित्याग कर, तमोगुणी-रजोगुणी श्रद्धा को भक्तिभावना मे समाहित कर, ऐहिक ऐन्द्रिक सुखो को ही जीवन का मूल मान बैठते हैं।

सांप्रदायिक व धार्मिक मत-मतान्तरो मे श्रद्धा विकृत स्वरूप हो गई। शान्ति श्रद्धा की खोज में दिगंबर, जैन, बौद्ध, कापालिक चेलों के साथ तमोगुणी रूप में मिलती है। करुणा इसका समाचार भक्ति के पास ले जाती है। धर्म के नाम पर फैला हुआ पाखण्ड और उसके बीभत्स स्वरूप का चित्रण है। नाटककार धर्म के उदात्तस्वरूप को श्रेयस्कारी मानता है। अनुवाद में गद्य पद्य का व्यवहार यथा स्थान है। अनुवाद में मूलभाव सुरक्षित है। संवादो मे रंगमचीय प्रभाव-व्यंजकता है।

धनंजयविजय-व्यायोग

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने महाकवि कांचन कृत 'धनंजयविजय-व्यायोग' का १८७३ ई० में अनुवाद किया। महाभारत के विराट पर्व मे अर्जुन के युद्ध-कौशल से राजा विराट की गायो की रक्षा हुई थी। कौरवों ने गायो का हरण किया। राजा विराट ने अपने पुत्र को रण हेतु भेजा। पांडवों के अज्ञातवास में होने के कारण अर्जुन सम्मुख युद्ध नही कर सकते थे। अर्जुन अकेले ही सारथी के रूप मे कौरव-सैन्य को पराजित कर गायें छुडा लेते है। इसी वीरता के उपलक्ष्य मे विराट अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु से उत्तरा का विवाह कर देते हैं।

भारतेन्दु ने नाटक की सरसता व मूल कथानक एव संवादो की भावरक्षा पर पर्याप्त ध्यान रखा है। गद्य के स्थान पर गद्य तथा पद्य के स्थान पर पद्यानुवाद किया गया है। अनुवाद यथावत् किया गया है।

मुद्राराक्षस

मूल रचयिता संस्कृत नाटककार विशाखदत्त थे। नन्दवश का नाश और

चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण इस नाटक का मूल कार्य है। नन्द के सुयोग्य मन्त्री राक्षस को चन्द्रगुप्त का अमात्य बनाने के लिए चाणक्य जो राजनीतिक दाँवपेच रचता है, नाटक में उन्हीं का उल्लेख है। ऐतिहासिक भूमि पर काल्पनिक कार्य-व्यापारों की सृष्टि से नाटककार ने अत्यन्त सरस नाट्यकृति की रचना की है। मूल नाट्यकृति और अनुवाद मे यथेष्ट भाव-साम्य की रक्षा हुई है। भावों की व्यंजना एवं राजनैतिक दाँवपेच के अनुवाद में भावात्मक कौशल की विशेष आवश्यकता है। राजनैतिक संघर्ष को गतिशील सवांदों के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। नाटक के गीत प्रसगानुकूल हैं। पद्यात्मक सम्वाद अति सुन्दर हैं।

कर्पूर-मंजरी

राजशेखर के विख्यात प्राकृत सट्टक कर्पूरमजरी का भाषानुवाद भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने १८७६ ई० में किया था। इस सट्टक मे चार अंक हैं। सट्टक मे नाट्य-परम्परानुसार प्रवेशक और विष्कमक नही होते। अंको के स्थान पर जवनिका का प्रयोग होता है। भारतेन्दु ने सट्टक को अको मे ही विभाजित किया है। आरम्भ में नान्दी (चतुष्पदी) का प्रयोग भारतेन्दु की मौलिक उद्भावना है।

हास्य और व्यंग में भाषा का सौन्दर्य पूर्ण रक्षित है।[1] भाषा आलंकारिक और व्यंजनापूर्ण है। लोकोक्ति प्रयोग से सामान्य बोलचाल की भाषा में निखार आ गया है। मूल भावो की रक्षा करते हुए भाषा का सौष्ठव भारतेन्दु के व्यक्तिगत अनुवाद-कौशल की विशेषता है।

प्रश्न है कि भारतेन्दु ने कर्पूर-मजरी सट्टक का अनुवाद क्यों किया? इस सट्टक का कथानक एक तांत्रिक योगी से सम्बद्ध है जो कुतल देश की सुन्दरी राजकन्या कर्पूरमंजरी को लाता है और लम्पट राजा को उसकी ओर आकर्षित कराकर गृह-कलह उत्पन्न करा देता है। अन्त में षड्यंत्रो से विवश होकर रानी उस राजकन्या से विवाह कराने की अनुमति दे देती है। भारतेन्दु ने भरतवाक्य मे अनुवाद के उद्देश्य को इस प्रकार प्रकट किया है :—

उन्नत चित ह्वै आर्य परस्पर प्रीति बढावैं।
कपट-नेह तज सहज-सत्य व्यवहार चलावैं॥

दुर्लभ बन्धु

शेक्सपियर के प्रख्यात नाटक (मर्चेन्ट ऑफ वेनिस) का अनुवाद भारतेन्दु

---

१. द्रष्टव्य—इसका अनुवाद भारतेन्दु ने ऐसी लच्छेदार भाषा में किया है कि मूल से भी अधिक रस मिलता है।—डा० दशरथ ओझा 'हिन्दी नाटक उद्भव और विकास,' पृष्ठ १६६।

ने १८८० ई० मे किया। इस नाटक में भारतेन्दु ने पात्रों के नामों का भारतीय-करण किया है—अनन्त, बसन्त, पुरश्री। इसी प्रकार स्थान राजस्थान व यहूदी व ईसाई के संघर्ष को जैन व आर्य-हिन्दू का संघर्ष दिखाया है। मूल भावों की यथा-सम्भव रक्षा करते हुए, परिवर्तित वातावरण के अनुकूल सामान्य संशोधन भी किये हैं। भारत मे जैन और हिन्दू का ऐसा संघर्ष (कृपणता की दृष्टि से) कभी नही हुआ।

रूपान्तरित नाटक

रूपान्तरित नाटकों मे मूल कथा को आधार मानकर अनेक परिवर्तन रूपातरकार करता है। इन मौलिक परिवर्तनो मे ही नाटककार की प्रतिभा लक्षित होती है।

यतीन्द्रमोहन ठाकुर का 'विद्यासुन्दर' नाटक बँगला भाषा मे रचित है। उसी की छाया लेकर भारतेन्दु ने हिन्दी मे इसकी रचना की है।

कथा-वस्तु

राजा विद्या के विवाह के लिए स्वयंवर-प्रथा का आश्रय लेते हैं, जिसमे जो राजकुमार विद्या को तर्कबुद्धि मे पराजित कर दे, उसी को विद्या वरण करेगी। देश-देशान्तर मे यह घोषणा भाटो द्वारा प्रचारित होती है। विद्या के रूप-सौन्दर्य के वर्णन से सुन्दर, आकर्षित होकर, वर्द्धमान आता है। मालिन के यहाँ वह आश्रय लेता है। मालिन के माध्यम से हार बनाने की कला-कौशल से प्रभावित हुई राज-कुमारी विद्या से भेंट होती है। मुग्धावस्था के परिणाम-स्वरूप गन्धर्व विवाह होता है। उसी समय राजा उसे दण्डित करते हैं। सन्यासी के रूप मे वह विद्या को पराजित करता है। उसी समय भाट से यह विदित होता है कि वह राजकुमार है। राजा उसे क्षमा कर देते है। नाटक का अंत सुखान्त है। नान्दी और प्रस्तावना से मुक्त है। कार्यावस्थाएँ और अर्थप्रकृति व संधियो का उचित निर्वाह हुआ है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से सुन्दर और विद्या ही प्रमुख पात्र है। सुन्दर धीर ललित नायक है। विद्वान्, साहसी, चतुर, कलाप्रिय और धैर्यवान है। उसने सन्यासी के वेश मे विद्वानों को शास्त्रार्थ मे पराजित किया। विद्या सामान्य, भावुक, प्रणयशीला नायिका है। 'विद्या-सुन्दर' वस्तु-सविधान, चरित्र-चित्रण, काव्यत्व, रचना-कौशल, क्रियाशीलता, भावुकता आदि के समावेश से अत्यन्त रोचक कृति है। इसे प्रतीक भी माना जा सकता है। विद्या उसी का वरण करती है जो अपने बुद्धि-कौशल, चातुर्य से उसे अपने वश मे कर ले। विद्या के वरणकर्त्ता को उद्यमी, साहसी, चतुर, धैर्यशील एवं कला-प्रेमी होना चाहिए।

सत्य हरिश्चन्द्र

सत्य हरिश्चन्द्र आर्य क्षेमेश्वर कृत 'चंडकौशिक' का रूपान्तर है। इसके छायानुवाद में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का उद्देश्य निम्नलिखित है—'मेरे मित्र बालेश्वरप्रसाद बी० ए० ने मुझसे कहा कि आप कोई ऐसा नाटक भी लिखें जो लड़को के पढ़ने-पढ़ाने के योग्य हो, क्योंकि शृंगार रस के आपने जो नाटक लिखे हैं वे बड़े लोगों के पढ़ने के हैं, लड़को को उनसे कोई लाभ नहीं। उन्ही की इच्छानुसार मैंने यह सत्य हरिश्चन्द्र नामक रूपक लिखा है।'

नाटक स्वयं नाटककार की भी दान-वृत्ति का सूचक है।

चन्द्र टरे, सूरज टरैं, टरैं जगत व्यवहार,
पै दृढ श्री हरिचन्द्र को टरै न सत्य-विचार।

कथावस्तु

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने कथा में अनेक परिवर्तन किए हैं। चंडकौशिक का प्रथम अंक शृंगार रस से परिपूर्ण है, जबकि सत्य हरिश्चन्द्र मे इन्द्र-नारद-संवाद मे उपदेशात्मकता है। चंडकौशिक में आखेट खेलने गये राजा हरिश्चन्द्र राज्य का दान करते हैं। सत्य हरिश्चन्द्र मे राजा स्वप्न मे राज्य का दान करते हैं। स्वप्न के वचन की पूर्ति हेतु वे व्याकुल है। इस प्रकार राजा हरिश्चन्द्र का चरित्र और भी उदात्त हो उठा है। सत्य हरिश्चन्द्र मे स्वयं विष्णु की अवतारणा वातावरण को अलौकिकता प्रदान करती है।

काल्पनिक कथा-प्रसंगों के कारण नाटक अधिक चमत्कारपूर्ण हो गया है। स्वप्न मे दिए दान को ब्राह्मण के नाम कर, राजा का सर्वस्वदान करके, उसका रक्षक बन जाना अस्वाभाविक-सा प्रतीत होता है। नाट्यकला की दृष्टि से अत्यन्त प्रौढ़ नाट्यकृति है। चार अंको के इस नाटक में नाटककार की विलक्षण सृजनात्मक प्रतिभा व कल्पना ने सुन्दर प्रसगों की अवतारणा की है। सर्वस्वदान, इन्द्र-नारद की वार्ता, विश्वामित्र का हरिश्चन्द्र की परीक्षा लेने का निश्चय, नाटक के अंत मे श्मशान का वर्णन आदि अत्यन्त सजीव चित्रण है। नाटक मे नांदी, प्ररोचना, प्रस्तावना, भरतवाक्य आदि का प्रयोग किया गया है। नाटक का अंत फलागम से हुआ है।

कार्य

सर्वस्व दान, बाधा, बाधा का निराकरण, राजा की धर्म व विष्णु द्वारा प्रशस्ति, चरम विकास हैं। रस-निर्वचना की दृष्टि से शात रस का नाटक है। लोकप्रियता एवं रंगमंच पर प्रस्तुति की दृष्टि से भारतेन्दुयुगीन समस्त नाटकों मे

इसकी गणना श्रेष्ठ मानी जाती है।

नायक, राजा हरिश्चन्द्र धीरप्रशान्त नायक है। आदर्शवान राजा विनयी, सहिष्णु, उदार, कोमल हृदय का है। कर्तव्यपरायणता का चरम उदाहरण है; चाहे राजा हो, या श्मशान का रक्षक, राजा मृत-शव पुत्र रोहिताश्व का होने पर भी अपनी कर्तव्यभावना को नहीं परित्याग करता। प्रतिनायक विश्वामित्र हैं। उग्र, अहमन्य, क्रूर, कठोर परीक्षक बने रहते हैं। परीक्षा की दृष्टि से उनकी यह कठोरता भी हरिश्चन्द्र की स्थायी कीर्तिकला का कारण है।

शैव्या का चरित्र विवेक, धैर्य, मर्यादा से युक्त आदर्श भारतीय नारी का है। पुत्र की मृत्यु पर कारुणिक, मार्मिक क्रन्दन भावोद्वेग का चरम रूप है। नाटक का यह अंश अत्यन्त मार्मिक व प्रभावशील है।

भारतेन्दुयुगीन अन्य प्रमुख नाटक

भारतेन्दु-युग के वृहद् साहित्यिक मण्डल के प्रेरणा-स्रोत स्वयं श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र थे। भारतेन्दु-मण्डल के विद्वान् लेखकों ने अनेक नाटकों की रचना की एवं नाट्यकला को अपने प्रयोगो से नवीन रूप प्रदान किया। लाला श्रीनिवासदास भारतेन्दु के निकट मित्रों मे से एक थे, जिन्होंने 'प्रह्लाद-चरित्र, 'तप्ता-संवरण' (१८७४ ई०) 'रणधीर-प्रेममोहिनी' (१८७८ ई०) और 'संयोगिता-स्वयंवर' (१८८५ ई०) नामक चार नाटको की सृष्टि की। इनमें 'तप्ता-संवरण' और 'रणधीर-प्रेममोहिनी' का कथानक काल्पनिक है। 'प्रह्लाद-चरित' पौराणिक और 'सयोगिता-स्वयंवर' ऐतिहासिक नाटक है। लाला श्रीनिवासदास के दूसरे नाटक 'रणधीर-प्रेममोहिनी' मे कथानक, सृष्टि और चरित्र-विकास पश्चिमी नाट्य-शैली पर हुआ है, यद्यपि भारतीय पद्धति के स्वयंवर का इसमें प्रयोग किया गया है। अन्त पश्चिम की दुःखान्त शैली का है। सम्भवतः इसीलिए रणधीर-प्रेममोहिनी को हिन्दी का पहला दुःखान्त नाटक माना गया है।[१] इस नाटक की कथावस्तु पाटन के राजकुमार रणधीर और सूरत की राजकुमारी प्रेममोहिनी के प्रेम-प्रसंग पर आधारित है। अन्त मे प्रेमी नायक रणधीर सब शत्रुओ का सहार कर देता है और आहत होकर प्रेयसी प्रेममोहिनी के अक मे मृत्यु को प्राप्त होता है। आचार्य

१. द्रष्टव्य—डा० श्रीपति शर्मा का मत—हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव—पृ० ६६—'लाला श्रीनिवासदास' ने शेक्सपीयर के 'रोमियो और जूलिएट' के आधार पर रणधीर-प्रेममोहिनी नामक हिन्दी का प्रथम दुःखान्त नाटक लिखा।

रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—'रणधीर और प्रेममोहिनी नाम ही रोमियो जूलिएट की ओर ध्यान ले जाता है ।[1] पाश्चात्य नाटको की अनुकृति के कारण इस नाटक मे प्रस्तावना, नान्दी पाठ आदि का अभाव है ।[2] रणधीर का साहस रोमियो की भाँति तथा प्रेममोहिनी का अगाध प्रेम शेक्सपीयर के दु:खान्त नाटको जैसा है ।' भूमिका में नाटककार ने ट्रैजेडी के महत्व को स्वीकार करते हुए अंग्रेज़ी, बँगला, गुजराती ट्रैजेडी आदि का उल्लेख किया है ।

प्रह्लाद-चरित्र पौराणिक कथानक के आधार पर रचित रास-शैली का नाटक है, जिसका प्रारम्भ बैकुण्ठ के दृश्य से होता है । द्वारपाल जय-विजय शाप-ग्रस्त होते है । यही से कथानक प्रारम्भ होता है और प्रह्लाद-चरित का समापन नृसिंह अवतार होने के पश्चात् हो जाता है । लाला श्रीनिवासदास रचित 'संयोगिता-स्वयंवर' नाटक एक ऐतिहासिक नाटक है । नाट्य-शैली की दृष्टि से उसमे विकास की कोई दृष्टि प्राप्त नही है । प्राचीन परम्परा के पालन मे लेखक ने नादी और दीर्घ प्रस्तावना दी है किन्तु कथावस्तु को तोड-मरोड कर प्रस्तुत किया है । कथानक कवि चन्द कृत 'पृथ्वीराज रासौ तथा आत्माराम केशव द्विवेदी रचित 'पृथ्वीराज चाहुआण' से लिया गया है ।

लाला श्रीनिवासदास की नाट्य-शैली रास, सस्कृत नाटक-परंपरा तथा पश्चिमी नाट्य-शिल्प से प्रभावित है । प्राचीन और नवीन नाट्य-शैली की विशेष-ताओं को अपने नाटको मे समेटे चलना ही उनकी उपलब्धि है ।

भारतेन्दु-युग के दूसरे प्रतिनिधि नाटककार प्रतापनारायण मिश्र हैं, जिन्होने विविध कथानको को लेकर मुहावरेदार तथा संस्कृत की तत्सम भाषा मे अनेक नाटकों की रचना की । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटक 'भारत-दुर्दशा' के आधार पर श्री मिश्र ने भी 'भारत-दुर्दशा' रूपक लिखा । अनुवाद की दृष्टि से आपका 'सगीत शाकुंतल', गीति-नाट्य-परम्परा पर स्वाँग और रास-मण्डलियों को ध्यान में रख रचा गया, जिसका कथानक 'अभिज्ञान शाकुतल' से लिया गया है । सामाजिक यथार्थ की दृष्टि से प्रहसनों मे 'कलिकौतुक' 'जुआरी-खुआरी', 'कलि-प्रभाव' नाटक कलियुग (वर्तमान युग) मे कपटी साधुओ, दुराचारियों, मांसभक्षियो

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४१० ।

२. रणधीर-प्रेममोहिनी में रचना-शैली और विषय की दृष्टि से स्वच्छन्दता की प्रकृति अधिक उभरी हुई है । यह नाटक भारतीय नाट्य-रचना-शैली के बन्धन से मुक्त है । श्री शिवनाथ, भारतेन्दुयुगीन नाटक, तुलनात्मक मीमांसा, 'माध्यम' दिसम्बर अक, १९४७

और मदिरा पीने वालो की स्थिति को प्रकट करते हैं। 'गो-संकट' नाटक में गौओं की रक्षा और 'हठी हमीर' (ऐतिहासिक नाटक) मे अलाउद्दीन खिलजी का आक्रमण तथा हम्मीरसिंह की वीरता और उसके युद्ध का वर्णन है।

नाट्यकला की दृष्टि से प्रताप नारायण मिश्र की रचनाओ पर संस्कृत नाट्य-शैली का प्रभाव कम है तथा पाश्चात्य नाट्य-शैली के यथार्थ चित्रण का अधिक । 'सगीत शाकुतल' मे एक पद मे शास्त्रानुसार नान्दी पाठ है, किन्तु प्रस्तावना नही है। तत्कालीन सदर्भों मे मूल प्रस्तावना का आना स्वाभाविक नही था और प्रचलित अग्रेजी नाटको मे प्रस्तावना की कोई परिपाटी नही है। इसी प्रकार 'भारत-दुर्दशा' आदि नाटक हीनावस्था के द्योतक हैं और प्रहसनों मे व्यग की सृष्टि हुई है। कई भाषाओ पर प्रताप नारायण मिश्र का अधिकार होने से पात्रो के अनुकूल भाषा का प्रयोग इनके नाटको में मिल जाता है। इसी प्रकार आलोच्य-कालीन समाज मे नारी-समस्या पर बहुत कम रचना हुई थी। श्री मिश्र ने इस कमी को पूरा किया और 'कलि-कौतुक-रूपक' मे पतिव्रता हिन्दू स्त्री की दयनीय स्थिति को चित्रित किया है। वेश्यागामी पति से प्राप्त दुर्व्यवहार के बाद भी वह उसकी मगल-कामना करती है। उद्देश्य की प्रमुखता के कारण पाश्चात्य नाट्यकला के अन्य अंग भी प्राय: छूट गए हैं।

राधाकृष्णदास, जो भारतेन्दु के फुफेरे भाई थे तथा उन्हीं के साथ रहते थे, ने दुखिनी बाला, एकांकी, महारानी पद्मावती और महाराणा प्रतापसिंह दो ऐतिहासिक नाटक, तथा धर्मालाप-सवाद की रचना की। राधाकृष्णदास के ऐतिहासिक नाटक अपने युग के प्रसिद्ध नाटक माने जाते हैं। 'दुखिनी बाला' हिन्दू विधवा के कथानक पर दु:खान्त रचना है, जिसका उद्देश्य सामाजिक कुरीतियों के परिणामो की स्थिति से समाज को जाग्रत करना है। 'धर्मालाप' एक सामान्य कोटि की रचना है, जिसमे संवाद का ही चमत्कार दृष्टव्य हैं।

राधाकृष्णदास आलोच्यकाल मे अपने दोनों ऐतिहासिक नाटकों के लिए प्रसिद्ध माने जाते हैं। 'महारानी पद्मावती' की रचना लेखक ने अपने पूज्यपाद भाई भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटक 'नीलदेवी' से प्रेरणा लेकर तथा उनके आदेश से की। भारतेन्दु ने इस नाटक पर सम्मति देते हुए इस बात पर बल दिया है कि अपने वीर पुरुषो और वीर रमणियों के ओजस्वी चरित्र के आधार पर ग्रंथ-रचना होनी चाहिए। नाटक का कथानक इतिहास-प्रसिद्ध घटना, अलाउद्दीन की चित्तौड-विजय या पद्मावती के जौहर पर आधारित है। छः अंकों में समाप्त यह नाटक राष्ट्रीयता और देशभक्ति से ओतप्रोत है। पात्रो के चरित्र-विकास मे (अलाउद्दीन

के चरित्र में) स्वाभाविकता का अभाव है। पद्मावती का चरित्र आदर्श क्षत्रिय रमणी का चरित्र है। नाटक में वीर रस प्रमुख रस है। रसानुकूल ओजस्वी भाषा का प्रयोग लेखक ने सर्वत्र किया है।

पद्मावती नाटक मे संस्कृत नाट्य-परम्परा के अनुसार प्रस्तावना का प्रयोग हुआ, किन्तु उसके बाद भी वह एक दुखान्त रचना है। पूर्व मे गवेषणात्मक भूमिका इस नाटक की विशेषता है।

'महाराणा प्रताप सिंह' श्री राधाकृष्ण दास की एक प्रौढ़ एवं सशक्त नाट्य-रचना है। यह रचना इसलिए भी बहुत पूर्ण है कि भारतेन्दु-युग की समाप्ति के समय उन्नसवी शताब्दी के अन्तिम दशाब्द मे रची गयी। इसमें भारतेन्दुयुगीन नाट्य-साहित्य का चरम विकास परिलक्षित होता है।

'महाराणा प्रताप सिंह' का कथानक ऐतिहासिक और काल्पनिक घटनाओं की योजना से परिपूर्ण है। महाराणा प्रताप सिंह और बादशाह अकबर का संघर्ष इतिहास-प्रसिद्ध है। इस ऐतिहासिक वृत्त के साथ गुलाब और मालनी की सहवर्तनी काल्पनिक कथावस्तु भी कम रोचक नही है।[1] नाटक मे सात अंक हैं। प्रथम दो अंकों में बादशाह अकबर तथा महाराणा प्रताप के चरित्रों को तुलनात्मक रूप मे प्रस्तुत किया गया है। महाराणा प्रताप की प्रतिज्ञा और उत्साह तथा बादशाह के विलास और मीनाबाजार का चित्र कथा के प्रारम्भ मे बीजरूप मे प्रकट हुआ है। तीसरे अंक में महाराणा, मानसिंह का अपमान करते हैं। तृतीय अंक में ही सहायक कथा प्रारम्भ होती है। बीच मे मुख्य कथा कुछ रुक सी गई है, किन्तु चतुर्थ अंक मे राजा मानसिंह द्वारा अपने अपमान का उल्लेख और क्रोध अकबर के दरबार की विशेष घटना है, जिससे कथासूत्र पुन. जुड़ जाते हैं। अकबर, मोहब्बतखाँ को उदयपुर पर चढ़ाई करने का आदेश देता है। पंचम और षष्टम अंक मे कथा तीव्रता से अग्रसर होती है। अंतिम अंक में महाराणा के परिवार की दुर्दशा, महाराणा का विचलित होना, पृथ्वीराज का पत्र, भामाशाह का अपूर्व दान और निराशा के स्थान पर उत्साह का भाव प्रबल हो जाता है। अंत में महाराणा की विजय के पूर्व, देश-त्याग का कारुणिक दृश्य नाट्य-कौशल का प्रतीक है। नाटक

१. द्रष्टव्य—'एक ओर महाराणा प्रताप और अकबर की दृढ़ता, मानसिंह, सलीम और मुहब्बतखाँ के आक्रमण की विभीषिका और युद्ध का कोलाहल सुनाई पड़ता है तो दूसरी ओर गुलाब और मालती का मधुर प्रेमालाप, बहिलियों के गीत चित्त को आकर्षित करते हैं। —डा० दशरथ ओझा, हिन्दी नाटक उद्भव और विकास, पृष्ठ १६१।

सुखान्त है। वीररस के साथ नाटक में शृंगार और करुण का सम्मिलन उसे मनोरम बना देता है।

इस नाटक मे श्री राधाकृष्णदास की नाट्य-कला का चरम विकसित रूप उपलब्ध है। इतिहास की छोटी से छोटी घटनाओ को मर्मस्पर्शी रूप में लेखक ने चित्रित किया है। पात्रानुसार भाषा विविध रूप मे प्रयोग मे लाई गई है। नाटक अभिनेय है। भारतीय नाट्यशास्त्र के नियमो का पालन प्रारम्भ में लेखक ने किया है। प्रारंभ मे नादी-पाठ, प्रस्तावना और अत मे मंगल कामना (गान) है। नाटक मे उथलपुथल, नैराश्य आदि के चित्र इतने हैं कि इसे भारतीय नाट्य-परपरा का नाटक कहना कठिन है। यह एक भिन्न प्रकार की नाट्य-शैली को जन्म देने वाली रचना है। इस नाटक में भारतेन्दु-युग की समाप्ति और नवीन युग के सूत्र का श्रीगणेश सहज ही प्राप्त हो जाता है। कथानक, पात्र, भाषा-शैली और वातावरण-सृष्टि सभी दृष्टियों से 'महाराणा प्रतापसिंह' या 'राजस्थान केशरी' एक स्मरणीय रचना है।

भारतेन्दु-युग के सुप्रसिद्ध निबन्धकार श्री बालकृष्ण भट्ट के नाटक हास्य रस से युक्त तथा सरल रचनाओं के अन्तर्गत आते हैं। श्री भट्ट की नाट्य-रचनाओ (प्रकाशित और अप्रकाशित) की संख्या लगभग १५ है, जो तत्कालीन सभी नाटककारो से अधिक है। श्री बालकृष्ण भट्ट के दो अनुवाद-माईकेल मधुसूदन दत्त कृत 'पद्मावती' और 'शर्मिष्ठा' हैं। 'दमयन्ती-स्वयवर', 'वेणु-सहार' और 'जैसा काम वैसा परिणाम' मौलिक नाटकों मे अत्यन्त प्रसिद्ध रचनाएँ है।

दमयन्ती-स्वयंवर नाटक का कथानक पौराणिक कथा पर आधारित है। भारतीय नाट्य-शास्त्र के अनुसार लेखक ने नान्दी, सूत्रधार और प्रस्तावना का प्रयोग किया है। प्रत्येक अंक में गर्भांकों की सृष्टि की गई है। संस्कृत श्लोको का भी उपयोग किया गया है। अन्त मे भरत-वाक्य नही दिया गया है।[1]

इस नाटक मे भाषा और सवाद-योजना अन्य नाटकों से सुन्दर है। हास्य-योजना की दृष्टि से विदूषक यद्यपि उच्च कोटि के हास्य को प्रस्तुत करने में असफल

---

१. द्रष्टव्य—इस सम्बन्ध में डा० भानुदेव शुक्ल का मत है—यह नाटक दमयन्ती-स्वयंवर के आगे की कथा को लेकर चला है और इस प्रकार भट्ट जी ने नल-दमयन्ती की कथा को दो भागों में बाँटकर, 'दमयन्ती-स्वयंवर' और 'नल-दमयन्ती' दो नाटकों की रचना की है। दोनों भाग बिना परिवर्तन किए एक नाटक के रूप में संयुक्त किए जा सकते हैं।—भारतेन्दु-युगीन हिन्दी नाट्य-साहित्य, पृष्ठ ७६।

रहा है, तथापि भारतीय नाट्य-शैली के अनुसार कथासूत्र को विकसित करने में सहायक हुआ है।

श्री भट्ट की दूसरी प्रसिद्ध रचना 'वेणुसंहार' पौराणिक कथानक के आधार पर रचित है, जिसमें राजा वेणु के अत्याचारों की पराकाष्ठा दर्शायी गई है और प्रजा के रोदन तथा ऋषि-शाप से राजा का संहार दिखाया गया है। जहाँ तक कथानक के पौराणिक रूप का संबंध है, उसका निर्वाह श्री भट्ट ने सफलतापूर्वक किया है, किन्तु पौराणिक परिस्थितियों के साथ तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियों का मेल 'काल-दोष' के अन्तर्गत आता है। राजा वेणु के समय का वर्णन करने में नाटककार उन्नीसवीं शताब्दी का वर्णन करने लगता है, जिससे नाटक में रस बाधक होकर उसके प्रभाव को क्षीण कर देता है। नाटककार ने ऐसा संभवतः तत्कालीन समस्याओं की ओर जनता का ध्यान आकर्षित करने की दृष्टि से किया है, किन्तु उसके लिए पौराणिक कथानक का चयन उपयुक्त नहीं माना जा सकता। नाटक में कुल तीन अंक हैं।

श्री बालकृष्ण भट्ट का तीसरा मौलिक नाटक 'जैसा काम वैसा परिणाम' एक प्रहसन है, जिसका कथानक वैश्यागामी पुरुष को लेकर चलता है। वैश्यागामी पुरुष की स्त्री सब प्रकार का अत्याचार सहन करती है और अन्त में इसी सहनशीलता से प्रभावित होकर नायक वैश्यागमन से विरत हो जाता है।

नाटक के भरतवाक्य में रचना का उद्देश्य लेखक ने इस प्रकार प्रकट किया है—

होहिं एक पत्नी व्रत-रत सब भारत नटवर,
तजहिं कुपथ, पथ गहहिं धर्मकर दुर्मति तजकर।
तजि वेश्या-संग रमन करहिं श्रद्धा निज तिय पर,
जासों सुधरहिं दशा दीन भारत की सत्वर।[1]

प्रहसन में भाषा का प्रयोग अत्यन्त सशक्त हुआ है, कथा का प्रवाह और नाटकीय योजना की दृष्टि से अन्य प्रहसनों की अपेक्षा अधिक सफल रहा है।

राधाचरण गोस्वामी भारतेन्दु-युग के अन्य प्रतिनिधि नाटककार हैं जिनके निम्नलिखित नाटक प्रसिद्ध हैं—'सती चन्द्रावली', 'अमर राठौर', 'श्रीदामा (बड़े नाटक), 'बूढ़े मुँह मुँहासे', 'तन, मन, धन, गुंसाई जी के अर्पण' और 'भंग-तरंग' (छोटे प्रहसन)। 'सती चन्द्रावली' तथा 'अमरसिंह राठौर' ऐतिहासिक संदर्भों की रचनाएँ हैं। ये कथानक की दृष्टि से वीर नारी और वीर पुरुषों को लेकर रचे

१. भट्ट-नाटकावली, पृष्ठ १३६।

गये थे। नाटक भरतीय नाट्य-पद्धति के अनुसार लिखे गए हैं, किन्तु अन्त दोनो ही नाटकों का 'दुखान्त' हुआ है। 'सती चन्द्रावली' का कथानक लोक-गीतो के द्वारा लेखक को प्राप्त हुआ है और 'अमर राठौर' देश की परतंत्रता से दुखी मानस की उपज है, जिसमे चरम बलिदान द्वारा देश और धर्म की रक्षा का संदेश है। भारतेन्दुयुगीन हिन्दी नाटको में भाषा, धर्म और देश की उन्नति के उद्देश्य को लेकर लिखने वाले नाटककारों मे गोस्वामी जी का स्थान महत्वपूर्ण है।

श्री राधाचरण गोस्वामी के तीनों प्रहसनो में व्यंग का प्रबलतम रूप मिलता है। 'बूढ़े मुँह मुँहासे लोग देखें तमाशे' में लोक-प्रचलित कहावत को शीर्षक देकर, लेखक ने ऐसे व्यंग की सृष्टि की जिसमें हास्य के स्थान पर घृणा की सृष्टि होती है। 'तन, मन, धन, श्री गुसाईं जी के अर्पण' प्रहसन एक सफल व्यंग है। 'भंग-तरंग' एक सामान्य रचना है। नाट्य-कला की दृष्टि से ये नाटक पाश्चात्य नाट्य-शैली के यथार्थ के निकट हैं।

इन प्रमुख प्रतिनिधि नाटककारो के अतिरिक्त भारतेन्दु-युग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की नाट्य-शैली से अत्यधिक प्रभावित लाल खड्गबहादुर मल्ल ने पाँच नाटकों की रचना की थी, जिनमें 'रति-कुसुमायुध', 'भारत-ललना' दो रूपक हैं। 'भारत-आरत' प्रहसन और 'तीन महारास' 'हरतालिका नाटिका' तथा 'कल्पवृक्ष' पौराणिक नाटक हैं। पौराणिक नाटकों मे भारतीय नाट्य-शैली की शास्त्र-परम्परा का पूर्णरूपेण निर्वाह किया गया हैं। पौराणिक नाटको में वातावरण-सृष्टि एक महत्वपूर्ण स्थिति है, जिसका लाल खड्गबहादुर की रचनाओ में उचित निर्वाह हुआ है। नाटको की भाषा साहित्यिक, मुहावरेदार एवं सरल है। लाल खड्गबहादुर के नाटको मे 'भारत-आरत' प्रहसन सर्वाधिक सशक्त रचना है। इस प्रहसन में व्यंग की प्रधानता है। एक उदाहरण दृष्टव्य है—

'किसी काल में तो अवश्य क्षत्री सिंह-राशि थे, पर जबसे हिन्दुस्तान का वन कट गया है और इधर हथियार भी छिन गए हैं, न कोई सिंह है और न सिंह-राशि का ही नाम रह गया है।'[१]

प्रहसन लेखकों में प० देवकीनन्दन त्रिपाठी एक प्रमुख प्रहसनकार हैं जिन्होंने उन्नीस नाटको की रचना की। सख्या की दृष्टि से इतने अधिक प्रहसन किसी ने नही लिखे। 'कलयुगी जनेऊ' 'जय नारसिंह की', 'सैकड़े में दस-दस' आदि कपितय प्रहसन उच्च कोटि की नाट्यकला से अनुप्राणित हैं। प्रहसनों का उद्देश्य सामाजिक विकृतियों पर व्यंग करना है। प्रहसनों के द्वारा समाज-सुधार का

१. दृष्टव्य 'भारत-आरत', लाल खड्गबहादुर मल्ल, पृ० सं० ६।

श्रीगणेश भारतेन्दु ने किया और उस कार्य को आगे बढाया पं० देवकीनन्दन त्रिपाठी ने, यद्यपि अन्य प्रहसनकारो का भी योगदान उसमे प्राप्त है। श्री त्रिपाठी की भाषा ग्रामीण शब्दावली से भरपूर है। नाट्यकला की दृष्टि से इन प्रहसनो मे कला का अभाव है किन्तु उद्देश्य की सफलता असदिग्ध है। जिस वर्ग की समस्या है वैसी ही उसकी भाषा, वैसा ही वातावरण एवं घटना-संगठन लेखक ने प्रस्तुत किया है।

पाश्चात्य नाट्य-शास्त्र से प्रभावित प्रहसनकारों के समानान्तर संस्कृत नाट्य-विधान को अपनाने वाले अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने दो नाटको की सृष्टि की। 'प्रद्युम्न-विजय-व्यायोग' और 'रुक्मिणी-परिणय'। दोनों नाटको मे विधिवत् नान्दी-पाठ, प्रस्तावना, सूत्रधार और भरतवाक्य को स्थान दिया गया है। वर्णित दृश्यो को 'सूच्य' द्वारा लेखक ने प्रस्तुत किया है। लेखक की भाषा संस्कृत तत्सम शब्दावली से पूर्ण है तथा नाटककार के साथ कवि का रूप भी कहीं-कहीं प्रधान हो गया है।

भारतेन्दुयुगीन नाटक

कलागत दृष्टि और उसका प्रयोग

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटकों के अनुरूप भारतेन्दुयुगीन नाटकों की कथा-वस्तु भी विविध-रूपा है। पौराणिक और धार्मिक आधार पर रचे नाटकों की कथा-वस्तु प्रहसन अथवा प्रतीक-नाटको की कथावस्तु से भिन्न प्रकार की है। इसी प्रकार ऐतिहासिक और सामाजिक नाटको में कथानक देशकाल के अनुसार अपना आकार ग्रहण करते हैं।

पौराणिक कथानक

भारतेन्दुयुगीन पौराणिक नाटकों की कथावस्तु का आधार राम और कृष्ण के चरित्र-विषयक धार्मिक ग्रंथ हैं, जिनसे नाटकों के लिए सामग्री का चयन किया गया है। राम और कृष्ण की लीलाएं पूर्व से प्रचलित थी तथा रास-शैली में जैन नाट्य-पद्धतियो पर उनका अभिनय भी होता था। वास्तविक रूप मे पौराणिक कथानको के पात्र दैवी पात्रो की कोटि में आते है, इसलिए वस्तु-संगठन भी अलौकिक ही होता था। राम और कृष्ण की लीलाओ के अतिरिक्त अन्य नाटक भी लोक-प्रसिद्ध कथानकों को लेकर लिखे गये। यद्यपि उनमें किसी पुराण-विषय का

नहीं होता था फिर भी उन कथानकों की मानवेतर सृष्टि उनकी विशेषता

उनके 'सत्य हरिश्चन्द्र नाटक' व 'चन्द्रावली नाटिका' के विवरणों से यह बात प्रकट है, किन्तु उन्होंने अपनी मौलिक सूझबूझ से रचना को प्रभावी बनाया। वास्तव मे भारतेन्दुयुगीन पौराणिक नाटक शैली की दृष्टि से नितान्त भिन्न कोटि की रचनाएँ हैं तथा उनकी कथावस्तु प्रधान होती हुई भी पर्याप्त प्रधान नही है। शुद्ध साहित्यिक नाटको की कथावस्तु का गठन अभिनेय नाटकों की कथावस्तु से भिन्न प्रकार का होता था। आलोच्य-काल मे दोनो का समन्वय मिलता है। रामायण का नाटक-रूप में अभिनय केवल तुलसीदास के रामचरित-मानस के कथानक पर ही आधारित नही रहा। देवकीनन्दन का 'सीताहरण' और 'रामलीला', बलदेव जी का 'रामलीला-विजय', वन्दीदीन का 'सीता-स्वयवर', बदरीनारायण का 'प्रयोग-रामागमन' नाटकों का कथानक यद्यपि राम सबधी आधुनिक नाटको के अनुकूल नही है, तथापि वह लीलाओं के अनुरूप है। इस प्रकार दोनों प्रयोजनों को ध्यान में रखकर नाटकों की सृष्टि की गयी। राम-कथा पर आधारित नाटको मे कथावस्तु के विकास की कोई दिशा नही मिलती, जब कि कृष्ण-लीला पर आधारित पौराणिक नाटकों की कथा-वस्तु मे कल्पना-प्रसंगों के कारण सरसता उभर आई है। कृष्ण-लीला विषयक नाटकों की कथावस्तु श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध से ली गई है। चन्द्रावली की शैली पर अम्बिकादत्त व्यास ने 'ललिता नाटक' की रचना की। इसी प्रकार लाल खड्गबहादुर मल्ल की रचना 'महारास' का कथानक भी सुन्दर बन पड़ा है।

पौराणिक कथानको की श्रेणी में अन्य कुछ नाटक भी आते हैं, जिनकी कथावस्तु लोक-प्रेम अथवा आदर्श को प्रतिपादित करती है। इस प्रकार की कथा-वस्तु भारतीय मानस के आदर्श के अनुकूल रही है। 'नल-दमयन्ती', 'ऊषा-अनिरुद्ध' 'सावित्री-सत्यवान' आदि कथानक मानवीय संवेदनाओं से परिपूर्ण होते हुए भी देवत्व की कोटि मे आते है। कथावस्तु का अलौकिक होना ही इन्हें पौराणिक तथा धार्मिक कोटि की रचनाएँ घोषित करता है।

पौराणिक नाटकों के कथानकों की प्राचीनता के साथ ही कथावस्तु के कार्यव्यापार की अवस्थाओं, अर्थ-प्रकृतियो, संधियो का निर्वाह भी कतिपय नाटकों में हुआ है, जब कि आलोच्य-काल के नाटकों में इनकी आवश्यकताओ को स्वयं भारतेन्दु ने अस्वीकार कर दिया था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा अन्य नाटककारों ने परिस्थितियों के अनुकूल नाटको में नवीनता का समावेश किया है, तथापि संधि-पंचक का निर्वाह कुछ कथानकों में प्राप्त हो जाता है। हरिऔध रचित 'प्रद्युम्न-विजय-व्यायोग', और सुदर्शनाचार्य कृत 'अनघ नल-चरित्र' में संध्यंगों तक का

निर्वाह किया गया है ।[1] प्रद्युम्न-विजय-व्यायोग में मुख, प्रतिमुख तथा निर्वहण संधियाँ हैं । व्यायोग के लक्षणानुसार प्रारम्भ से भीमसेन के परिचय तक मुख-सधि, युद्धवर्णन प्रतिमुख-सधि और मुख के पश्चात् अन्त तक निर्वहण-सधि के अनुकूल है । पं० बालकृष्ण भट्ट रचित दमयन्ती-स्वयंवर मे पाँचों संधियों के निर्वाह का प्रयत्न है ।

ऐतिहासिक कथानक

आलोच्य-काल में इतिहास की घटनाओं को कथावस्तु के रूप में प्रस्तुत कर अनेक नाटकों की रचना की गई । वर्ण्य-विषय की दृष्टि से राजपूती गौरव-गाथाओं को ही इस युग के नाटककारो ने चुना । इसका कारण सम्भवतः यह है कि भारतीय जन-मानस के लिए राजपूती गौरव की गाथाएँ प्रेरणाप्रद रही हैं और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने नाटक-रचना मे देशवत्सल-भाव की प्रेरणा को सदैव ही सम्मुख रखा । फलतः शौर्य, त्याग तथा अपनी आन पर प्राण अर्पण करने की बलवती भावना कथानक के रूप में उभर कर सामने आई । केवल भारतेन्दु के ऐतिहासिक नाटक 'नीलदेवी' की कथावस्तु पजाब के राजा सूर्यदेव और उसकी रानी नीलदेवी से सम्बद्ध है, जिसमे नीलदेवी अपने पति की मृत्यु का बदला लेकर स्वयं मृत्यु का वरण कर लेती है । शेष नाटको मे बाबू राधाकृष्णदास के नाटक 'महारानी पद्मावती', 'महाराणा प्रतापसिंह', राधाचरण गोस्वामी कृत-'अमरसिंह राठौर' का कथानक राजस्थानी इतिहास से सबद्ध है । इन कथानकों मे 'महाराणा प्रतापसिंह' का वस्तु-संगठन, आधिकारिक तथा प्रासंगिक कथानकों का संबध-निर्वाह सफलता के साथ हुआ है । प्रासंगिक वस्तु में शाहजादा सलीम का अल्पायु मे हल्दी-घाटी के युद्ध मे भाग लेना इतिहास विरुद्ध है, किन्तु इसके बाद भी कथा-वस्तु का विकास आलोच्यकाल मे ऐतिहासिक सदर्भों मे महत्वपूर्ण है । 'अमरसिंह राठौर' की कथावस्तु एक अंक तथा पन्द्रह दृश्यों में विभाजित की गई है । वास्तव में यह एक बडा एकांकी है, जिसमे कथा का प्रवाह अपनी गति के साथ विकसित हुआ है । ऐतिहासिक नाटको मे श्रीनिवासदास कृत 'सयोगिता-स्वयवर' नाटक मे अवश्य ही कथानक को अस्वाभाविक रूप में प्रस्तुत कर इतिहास की रक्षा नहीं की गई ।

सामाजिक कथानक

भारतेन्दुयुगीन नाटको का मूल स्वर समाज-सुधार और सामाजिक जीवन की समस्या को नाटक के माध्यम से जन-जीवन तक पहुँचाना रहा है । स्वयं

---

१. हिन्दी नाटकों का विकासात्मक अध्ययन, डा० शांति गोपाल पुरोहित का मत, पृष्ठ ७० ।

भारतेन्दु तथा उनके समकालीन लेखकों ने इस तथ्य को प्रकट किया है। इन कथानकों मे तीन प्रवृत्तियाँ स्पष्ट दिखाई देती हैं। सामाजिक सन्दर्भो को लेकर लिखे गए नाटकों मे प्रेम-प्रसगों को वर्ण्य विषय का आधार बनाने वाले सस्कृत नाटकों का प्रभाव है। उनकी कथावस्तु मे वैसी ही रूमानी और आदर्श अभिव्यक्ति मिलती है। प्रेम-प्रधान कथानकों मे प्रेम-प्रसंग राजकुमार और राजपुत्रियों के मध्य साहचर्य के रूप में प्राप्त न होकर प्रथम-दर्शन-प्रेम या रूप-गुण-श्रवण के माध्यम से हुआ है। इस काल के प्रेम-प्रधान सामाजिक नाटकों मे पहिली बार कथा की दुखान्त परिणति हुई है, जैसे श्रीनिवासदास कृत 'रणधीर-प्रेममोहनी', लाला शालिगराम वैश्य रचित 'लावण्यमती', दुखान्त नाटक हैं। 'रणधीर-प्रेममोहनी' के कथानक पर कुछ समीक्षक अप्रत्यक्ष रूप मे पश्चिमी नाट्य-शिल्प का प्रभाव मानते हैं और 'रोमियो जूलिएट' से उसे सबद्ध करते हैं, किन्तु वातावरण-सृष्टि और वस्तु-संगठन के विवेचन पर ऐसा प्रमाणित नही होता है।

प्रेम-प्रधान नाटको में कथानक का विकास पत्रलेखन (दृष्टव्य-राम खिलावन लाल का नाटक 'प्रेम-सुन्दर') द्वारा भी कहीं-कही किया गया यद्यपि अधिकांश नाटकों में वह संस्कृत नाटक-परम्परा मे ही गृहित है।

सामाजिक कथानकों को लेकर आलोच्य-काल में दूसरे वर्ग के नाटक वे हैं जिनमें समाज-सुधार की भावना-गोरक्षा, धार्मिक चेतना, सामाजिक कुरीतियों और नारी की दयनीय स्थिति को कथानकों के माध्यम से नाटक का रूप प्रदान किया गया। समाजसुधार के नाटको की वस्तु तर्क पर आधारित है जिस पर आर्य समाज की नई शैली का स्पष्ट प्रभाव है। गोरक्षा विषयक नाटक, जिनमे केवल प० अम्बिकाप्रसाद व्यास का 'गो-संकट' अपवाद रूप है, शेष नाटक केवल वादविवाद-प्रधान होने से वस्तु-संगठन से हीन हैं। नारी-समस्या में बाल-विवाह, अनमेल-विवाह, विधवा-विवाह, वेश्यागमन, परस्त्री-अनुरक्त-पति आदि को कथानको का आधार बनाकर मार्मिक व्यंजना की है, किन्तु सुधारवादी दृष्टि के स्पष्ट आदर्श कहीं नहीं उभरे हैं। समस्या को वास्तविक रूप में चित्रित कर दर्शकों मे एक सामाजिक मनःस्थिति को उत्पन्न कर देना ही लेखकों का मंतव्य रहा होगा या उनके पास इतनी परिष्कृत दृष्टि का अभाव था, जिससे इस प्रकार के कथानक कोई निश्चित उदाहरण प्रस्तुत कर सकते। जैसे समस्या का समाधान स्पष्टतया साहित्य-रचना से उतना सम्बद्ध नही है जितना समाज-सुधारों से। तीसरे प्रकार के सामाजिक नाटको के कथानक हास्य और व्यंग के रूप में सामने आते हैं, जिन्हे प्रहसन की कोटि में रखा गया है। प्रहसनों के कथानकों के दो रूप

प्राप्त है (१) शुद्ध हास्य की दृष्टि से रचे गए प्रहसन। (२) व्यंग की दृष्टि से रचे गए प्रहसन। भारतेन्दु कृत 'मुछंदर-सभा' पन्नालाल कृत 'हास्यार्णव', शतीशचन्द्र बोस का 'मैं तुम्हारा हूँ', पं० बलदेव प्रसाद मिश्र कृत 'लल्ला बाबू' आदि का कथानक शुद्ध हास्य के अंतर्गत आता है, शेष प्रहसनों का कथानक व्यंग-प्रधान है। बालविवाह, पंडे, पुजारी, गोस्वामी आदि का ढोंग, अविद्या, बेकारी आदि की समस्याओं का कथानकों के रूप मे उपयोग किया गया है। इस संदर्भ मे यह तथ्य दृष्टव्य है कि वस्तु-विधान की दृष्टि से प्रहसनो की कथावस्तु अधिक विस्तृत नही होती है। भारतेन्दुयुगीन हिन्दी प्रहसन छोटे हैं तथा यथार्थवादी शैली के निकट हैं।

प्रतीक कथानक

प्रतीक कथानकों के पात्र अमूर्त और मनोभाव विषयक है, किन्तु कथा-वस्तु का स्वरूप अन्य कथानको के अनुरूप ही है। इन नाटकों में कथानक राष्ट्रप्रेम (देश-वत्सलता) तथा धर्म-भावना के परिष्कार मे सम्बद्ध हैं। भारतेन्दु-रचित नाटक 'भारत-दुर्दशा' से प्रभावित होकर सर्वश्री प्रतापनारायण मिश्र का 'भारत-दुर्दशा', देवकीनन्दन त्रिपाठी का 'भारतीहरण', अंबिकादत्त व्यास का 'भारत-सौभाग्य' आदि नाटक देश-प्रेम की कथावस्तु को लेकर रचे गए। इन नाटको मे अंग्रेजी शासन का विरोध और भारत का हितचिंतन प्रधान रूप से व्यक्त हुआ है। बहुत कम नाटकों में अंग्रेजी शासन का स्वागत हुआ है। प्रतीक कथानको मे प्रेम-प्रधान सामाजिक संदर्भ लेकर लाल खड्गबहादुर मल्ल का नाटक 'रति-कुसुमायुध' इस काल की समर्थ रचना है। कथानको को प्रतीक नाटकों में अनेक स्थलों से लिया गया है, वस्तु-संगठन की दृष्टि से उनकी रचना अन्य नाटको की भाँति ही है।

नेता, नायक अथवा पात्र

भारतेन्दुयुगीन नाटकों में कथानको के अनुरूप तीन प्रकार के पात्रों की सृष्टि हुई है, दैवी, आसुरी तथा मानवी। पौराणिक नाटकों में तीनों प्रकार के पात्र प्राप्त हैं। शेष ऐतिहासिक, सामाजिक और प्रतीक नाटकों में मानवी पात्रो के द्वारा कार्य-व्यापार का विकास हुआ है। भारतेन्दुयुगीन नाटकों मे पात्र-योजना की दृष्टि से प्राचीन नाट्य-परम्परा का निर्वाह नही किया गया है। संस्कृत नाटकों मे सामान्य मानव के लिए कोई स्थान नही था, वह केवल नाटक का दर्शक था। नाटक के प्रमुख पात्र, दैवी और अलौकिक रहा करते थे। भारतेन्दु-युग मे नव जागरण के फलस्वरूप व्यक्ति के महत्व को धीरे-धीरे स्वीकार किया जाने लगा। असामान्य से सामान्य की ओर चल पड़ने की यात्रा नाटक-इतिहास में चरित्र-विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। धीरे-धीरे यह रूप इस सीमा तक पहुँच गया कि नाटक में सामान्य

का ही प्राधान्य हो गया ।

भारतेन्दुयुगीन नाटकों में संस्कृत नाट्य-शैली के अनुसार नायक अथवा नेता, प्रायः धीरोदात्त नायक, उन्ही नाटकों में प्राप्त हैं जो संस्कृत नाट्य-शास्त्र से प्रभावित हैं। 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'विद्या-सुन्दर', 'धनंजय-विजय', 'मुद्राराक्षस', 'कर्पूरमंजरी', 'नीलदेवी' आदि नाटकों के नायक उच्च श्रेणी के कुलीन पुरुष हैं। इन आदर्श पात्रो मे चारित्रिक अन्तर्द्वन्द्व खोजना निरर्थक है । वे आदर्शवादी पात्र हैं।[1] इन नाटको मे एक पात्री सुभद्रा (लाला शालिग्राम वैश्य कृत नाटक 'अभिमन्यु वध') की मार्मिक वेदना अवश्य ही दृष्टव्य है, जिसमें करुणा का स्वरूप अत्यन्त मुखरित हुआ है, किन्तु इन नाटको के नायक धीरोदात्त नायक होने के उपयुक्त हैं। इन नायको में शील, धैर्य, अहंकारहीनता, वीरता, निर्भयता, क्षमा आदि में से अधिकाश गुण प्राप्त होने है। ऐतिहासिक नाटको के नायक भी धीरोदात्त हैं जैसे महाराणा प्रतापसिंह (प्रतापसिंह नाटक का नायक), पुरु (पुरु-विक्रम का नायक)। रासलीला तथा कृष्ण विषयक पौराणिक नाटको के नायक धीरललित श्रेणी के नायक हैं, यथा-चन्द्रावली, ललिता, 'वसंत-कुसुमायुध' के नायक। धीरोदात्त श्रेणी के नायक 'कपटी-मुनि' का नायक चन्द्रसेन तथा धीर सुशील नायको में गोपीचन्द, प्रह्लाद आदि नायक उल्लेखनीय है ।

नायिका

संस्कृत नाट्य-प्रभावो के नाटको की विद्या, शैव्या, नीलदेवी, चन्द्रावली, कर्पूर-मंजरी आदि नायिकाएँ नाट्य-शास्त्र के गुणो से सम्पन्न हैं। विद्या एकनिष्ठ प्रेमिका, चन्द्रावली आदर्श प्रेमिका, नीलदेवी वीरांगना और शैव्या पतिव्रता, धैर्य-शीला और सेवा-परायण स्त्री है।

इन नाटकों मे विदूषक तथा मध्यस्थ (दूत, दूती) पात्र भी मिलते हैं, यद्यपि बहुत कम नाटकों मे इनको चित्रित किया गया है । संस्कृत नाटकों की परम्परा के अनुसार 'शील सावित्री' और 'अजना सुन्दरी' (दादू कन्हैयालाल कृत नाटक) के विदूषक चतुर एवं गंभीर हैं तथा केवल हास्य ही उनका हेतु नहीं है ।

---

१. दृष्टव्य— राम मानवी-रूप को सार्थक करने के लिए सीताहरण पर व्याकुलता का प्रदर्शन करते हैं तो इसमें उनके हृदय की दुर्बलता खोजना अनुचित होगा, यह तो उनकी लीला-मात्र है— डा० भानुदेव शुक्ल, भारतेन्दुयुगीन हिन्दी नाट्य-साहित्य, पृ० २३० ।

हास्य के साथ कार्य-व्यापार के विकास मे योग देना भी है।[1]

नायक-नायिका-मिलन मे मध्यस्थ पात्र द्वितीय श्रेणी के पात्र माने जाते है। भारतेन्दुयुगीन नाटकों 'विद्यासुन्दर', 'कमल-मोहिनी', 'मदन-मंजरी' आदि मे ऐसे पात्रो की सृष्टि की गई है।

प्रतीक नाटकों के नायक उनके गुण, स्वभाव के प्रतीक-रूप में नाम ग्रहण करते है, यद्यपि उनके व्यक्तित्व के विकास के लिए विशेष स्थान नही रहता, यथा- 'कलियुग-कुमति', 'भारत-सौभाग्य' 'कुंद-कली' मे मधुकर, गुबरल, धीर आदि नाम के पात्र।

सामान्य नाटक

संस्कृत परम्परा से पृथक नाटकों के पात्र सामान्य मानव हैं, जिनमें वर्ग-गत अथवा विचारगत प्रतिनिधित्व लिए पात्र भी हैं, तो निजी व्यक्तित्व-प्रधान मानव-पात्र भी। ऐतिहासिक नाटको मे नायक आदि को छोडकर शेष पात्र मानवी हैं। सामाजिक नाटको और विशेषतया प्रहसनों में इन पात्रों के चरित्र-विकास का अवसर मिला है। कुछ प्रहसनों मे अति साधारण पात्र हैं, अंधविश्वासी ग्रामीणजन हैं, पंडे-पुजारी हैं, वेश्यागामी तथाकथित मित्र हैं। तात्पर्य यह है कि युग के अनु-रूप सामान्य कोटि के मनुष्यों को नाटक के पात्रों के रूप में समाहित किया गया है। वे एक वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। भारतेन्दुयुगीन नाटकों में पात्रों को विविध रूपो में प्रस्तुत होते हुए देखकर यह निष्कर्ष निकलना स्वाभाविक है कि आदर्श से यथार्थ के धरातल पर कथानकों की सृष्टि हुई और कथानको को विक-सित और मूर्तरूप प्रदान करने में दैवी चरित्रों, इतिहास-पुरुषों के साथ-साथ सामान्य चरित्रों की सृष्टि का भी योगदान रहा।

रस

रस की दृष्टि से आलोच्य-काल के नाटकों पर संस्कृत का प्रभाव स्पष्ट है। नाटककारो ने रस-योजना की दृष्टि से प्रयत्न किए हैं, यद्यपि रस-परिपाक के विचार से उन्हें सफलता नही मिली। भारतेन्दुयुगीन नाटको में वीर, शृंगार और करुण रस का आस्वादन किया जा सकता है। संस्कृत-प्रभाव से विच्छिन्न नाटकों मे रस के स्थान पर देश-प्रेम, जन-जागृति, हिन्दी-सेवा आदि को अपना मानकर नाट्य-सृष्टि की गई। इस प्रकार रस के अन्तर्गत आने वाले उद्देश्य-पक्ष

---

१. द्रष्टव्य : बाबू कृष्णदेव कृत नाटक 'भर्तृहरि-राजत्याग' का विदूषक हास्य के साथ विद्वत्ता को भी प्रकट करता है, जबकि अंबिकादत्त व्यास कृत नाटक 'गौ-संकट' का विदूषक केवल हास्य का।

को सामाजिक नाटकों, व्यंग-प्रधान प्रहसनों मे प्रखर रूप में देखा जा सकता है। कुछ नाटकों में रीतिकालीन शृंगारिकता का प्रभाव भी परिलक्षित होता है।[१] आलोच्यकालीन नाटकों में भिन्न-भिन्न रसों के सुन्दर उदाहरण खोजने पर यत्र-तत्र प्राप्त हो जाते हैं :—

सत्य हरिश्चन्द्र नाटक में श्मशान-चित्रण में भयानक रस, वर्षा में नदी का भयंकर प्रवाह, साँझ होने से श्मसान के पीपल पर कौओं का एक संग अमंगल शब्द से काँव-काँव करना और रात के आगमन से सन्नाटे का समय चित्त मे कैसी उदासी और भय उत्पन्न करता है।[२]

करुण रस की दृष्टि से 'गंगोत्री' नाटक का यह स्थल दृष्टव्य है : –

गंगोत्री का कथन, जो अपने ही पति द्वारा कामुक राजा के पास जाने के लिए बाध्य की जाती है—

'मेरे प्यारे स्वामी, यह प्रथम समागम है कि मैं तुमसे बात करती हूँ और संभवतः यही अंतिम हो। . ... मुझको कालान्तर से तुम पर स्नेह था और मैं भली भाँति जानती हूँ कि तुम भी मुझे चाहते हो। यह मैं नहीं कह सकती कि आज मैं किन.... ।'

'प्रद्युम्न-विजय' मे वीर रस का प्राधान्य है, यद्यपि भाषा को ओजपूर्ण बनाने के लिए उसे अपभ्रंश-रूप में प्रयुक्त किया गया है—

'तागिडदं तीर, छागिडदं छुट्टे। वागिडदं वीरं लागिडदं लुट्टे।

पाश्चात्य नाट्य-शास्त्र के अनुसार ट्रेजेडी में निम्नलिखित तत्त्वों का समावेश होना अपेक्षित है—वस्तु, पात्र, भाषा-शैली, विचार, छन्द-गति और दृश्य। निश्चय ही भारतीय नाट्य-शास्त्र के वस्तु, नेता और रस के साथ आलोच्यकाल में पश्चिमी नाटको के तत्त्वों का प्रभाव परिलक्षित होता है, इसलिए भाषा, शैली और कथोपकथन, वातावरण और रंगमंचीय प्रभाव की दृष्टि से दृश्य आदि का उल्लेख भी यहाँ करना अभीष्ट होगा। यहाँ पर यह स्पष्ट करना उचित होगा कि भारतेन्दुयुगीन नाटकों की कला मे भारतीय और पाश्चात्य नाट्य-कला का समन्वय हो गया था, किन्तु मध्यम मार्ग को ग्रहण करने वाले इन नाटककारों ने न तो प्राचीन नाट्य-शास्त्र की जटिलता से अपने को प्रतिबद्ध किया और न अंग्रेजी परम्परा की नकल

१. दृष्टव्य : कृष्णदास कृत नाटक 'युगल-विहार', लाल खड्गबहादुर मल्ल कृत नाटक 'महारास'।
२. दृष्टव्य : सत्य हरिश्चन्द्र, चतुर्थ अंक।

ही की। फलतः नवोत्थान-काल की यह नाट्य-कला, जिसके केन्द्र-बिन्दु भारतेन्दु हरिश्चन्द्र थे, अपनी ही तरह विकसित हुई।[1]

कथोपकथन और भाषा

कथावस्तु और पात्र अथवा चरित्र-विकास के लिए कथोपकथन एक ऐसा उपकरण है, जिससे एक ओर वस्तु का विस्तार होता है तो दूसरी ओर पात्रों के चरित्र का विकास भी। विचार और भाव की सृष्टि में भी कथोपकथन अथवा संवाद का विशेष महत्व होता है। गंभीर संवाद ओज और विदग्ध वाक्य-विलास हास्य की सृष्टि करते हैं। भारतेन्दुयुगीन नाटकों में संवाद और भाषा का स्वरूप एक-सा प्राप्त नहीं है। कारण भी स्पष्ट है। उस युग के नाटककार एक कोटि के नाटककार नहीं थे। अनेक नाटकों में कथोपकथन और भाषा की दृष्टि से सुष्ठु उदाहरण प्राप्य हैं, जब कि अधिकांश नाटक इस दृष्टि से असफल कहे जा सकते हैं। मध्यम कोटि के नाटक भी इस युग में बहुत संख्या में प्राप्त हैं।

इस युग के नाटकों के संवाद कहीं-कहीं लम्बे हो गए हैं। वाक्य-विन्यास की जटिलता दृश्य-काव्य के प्रभाव की सूचना है। संस्कृत नाटकों में इस प्रकार के लंबे और काव्यात्मक संवादों की परम्परा थी। भारतेन्दुयुगीन नाटकों पर भी उसका प्रभाव है। ये संवाद कहीं-कहीं अनुपयुक्त भी कहे जा सकते हैं। ओजपूर्ण स्थितियों को प्रकट करते समय जो संवाद बड़े हो गए हैं, वे वातावरण-सृष्टि में सहायक हैं।[2] जन-नाट्य-शैली में भी स्वगत कथन और लम्बे संवादों का स्वरूप प्राप्त है, जो बाद में हिन्दी नाटकों में ग्रहण कर लिया गया। नाटकों में मुहावरों और लोकोक्तियों, सूक्तियों, संस्कृत श्लोकों और अवधी-व्रजभाषा के कवित्त और छन्दों का प्रयोग संवादों के मध्य किया गया है। पात्रानुसार विविधरूपिणी भाषा का व्यवहार भी इस युग के नाटकों में प्राप्त है, यथा:—(महाराणा प्रतापसिंह नाटक)

---

१. द्रष्टव्य : यद्यपि अंग्रेजी नाटकों का प्रभाव देशव्यापी हो रहा था और पाश्चात्य नाट्य-शैली पर नाटक विरचित हो रहे थे, किन्तु इस काल के हिन्दी नाटकों में अल्प परिवर्तन के साथ विष्कंभक, प्रवेशक, अंकावतार, अंक-मुख आदि का प्रयोग बहुत ही कम नाटकों में मिलता है। नाट्यशास्त्र के नियमों का पालन किया जा रहा था। डा० दशरथ ओझा, हिन्दी नाटक, उद्भव और विकास, पृ० २०३।

२. द्रष्टव्य : श्रीनिवास दास कृत 'रणधीर-प्रेममोहिनी' नाटक के संवाद; राधा-कृष्णदास कृत 'महाराणा प्रतापसिंह' के संवाद।

'प्रताप .... (आवेश मे) प्रतापसिंह ··· तुझे अपनी जननी के दूध की सौगन्ध है जो प्राण रहते कभी इन म्लेच्छो को निकालने की चेष्टा से निरस्त हो । जो अपनी प्रतिज्ञा-पालन कर सके तो वीर माता का दूध पीना सफल है, नही तो ऐसे जीवन पर धिक्कार।'

अकबर आदि मुस्लिम पात्र ठेठ फारसी शब्दों का व्यवहार करते है :—

'अकबर... .. आ हा हा, हिन्दू-मुसलमानों की रिश्तेदारी की बुनियाद कैसी उम्दा डाली गई है। अगर इसमे पूरी तौर पर कामयाबी हुई तो खानदान तैमूरिया कभी हिन्दुस्तान से नही हट सकता। क्या बजोर शमशीर इनका मजहबी खियाल तब्दील हो सकता है ?.........'

व्रज की गोपिकाएँ अपनी भाषा का उपयोग करती हैं :—

एक व्रज·· अरी वीर।

दूसरी व्रज···का कहै वीर।

पहिली—अरी नेक पायँ बढाय जा। या व्रज मे ऊधमी को राज ठहर्यो। कहुँ काहू मे दीठ न परि जाय, सिदोसिए घर कूँ चल।

'महाराणा प्रतापसिंह' नाटक मे एक पुर्तगाली पात्र एक विशेष प्रकार की मिश्र भाषा बोलता है।

भारतेन्दुयुगीन नाटकों में पात्रानुसार भाषा-प्रयोग[१] के साथ ग्रामीण भाषा के प्रयोग भी प्राप्य हैं। देवकीनन्दन त्रिपाठी का 'जय नारसिंह' प्रहसन तो पूरा ही ग्रामीण भाषा मे लिखा गया है।[२] किशोरीलाल गोस्वामी कृत प्रहसन में बनारसी भाषा का प्रयोग सुनने को मिलता है। प्रभास-मिलन (बलदेव प्रसाद कृत) मे कृष्ण, वासुदेव खडी बोली का प्रयोग करते है, राधा, यशोदा आदि ब्रज का। प्रहसनो की भाषा प्रायः बोलचाल की सरल और 'चलताऊ' है, जबकि अन्य नाटको—पौराणिक, ऐतिहासिक और प्रतीक नाटकों की भाषा साहित्यिक है। चलताऊ भाषा मे भी गुण्डों की भाषा (दृष्टव्य कलि-कौतुक-रूपक, प्रतापनारायण मिश्र कृत), महफिली भाषा, मद्यपान के पश्चात् बहकी शब्दावली का प्रयोग भी

---

१. दृष्टव्य : बाल-विवाह (श्री गणेश कृत), मदनमंजरी (अमानसिंह गोंटिया कृत), गोसंकट और कलि-प्रभाव (प्रताप नारायण मिश्र कृत) रचनाओं के संवाद।

२. जय नारसिंह के विज्ञापन में स्पष्ट किया गया है—इस प्रहसन के पात्र-वर्ग अधिकांश नीच और गँवार हैं, इससे इनकी भाषा गँवारू ही रखी गई है।

नाटकों मे हुआ है । सामाजिक नाटको मे कुछ प्रेम-प्रधान नाटकों के संवाद संस्कृत शब्दों के बोझ से लदे होने के कारण नीरस हो गए है । प्रेम जैसे भाव की व्यंजना मे तर्कपूर्ण भाषा-जाल अस्वाभाविकता को जन्म देता है । पं० जगन्नाथप्रसाद शर्मा कृत 'कुंदकली' नाटक का निम्नलिखित सवाद इस दृष्टि से उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत है :—

कुंदकली—आप साहसहीन न होवें । मेरी अल्प बुद्धि मे कुछ शंकाएँ समा रही है । आप दया करके उनका समाधान कर दें ।

मधुकर—उन शंकाओं का उच्चारण करो, मैं यथाशक्ति संतुष्ट करूँगा ।

कुंदकली—(१) इस ससार मे मनुष्य-मात्र का प्रिय होता हुआ भी पूर्ण शत्रु कौन है ?

(२) मनुष्य-मात्र का सुख क्या है ?

(३) वह अदृश्य भंडार कहाँ है जहाँ सब कुछ प्रापनीय है पर दृष्टिगत नही होता । आदि ।

प्रकट है कि भारतेन्दुयुगीन नाटकों में सभी प्रकार के संवादों की छटा देखने को मिलती है । कहीं पर सरल छोटे-छोटे वाक्य नाटकीय भाव-व्यंजना मे सहायक हैं तो कहीं ओजपूर्ण कथन कथा को गति प्रदान करते हैं । कहीं पर स्वाभाविक व्यंग-विनोद को जन्म देने वाली शब्दावली है तो कही पर नीरस, लम्बे-लम्बे निरर्थक कथन हैं । पं० बालकृष्ण भट्ट के संवाद शुद्ध और दोषरहित भाषा में हैं । वास्तव मे नाटक मे संवाद-योजना या कथोपकथन नाटक की अंतः प्रेरणा से सम्बद्ध होते हुए भी लोक-जीवन के निकट होने पर ही सफल हो सकते हैं । प्रतिनिधि और सफल नाटको के संवाद प्रभावी और सार्थक बन पड़े हैं । उनमे सस्कृत की काव्यात्मक शैली का भी समावेश है तथा नवीन यथार्थवादी शैली का भी, जिसका स्वरूप गद्यात्मक भाषा के विकास के साथ सम्बद्ध है ।

भारतेन्दुयुगीन सवादों में यह विविधता खडीबोली-गद्य के प्रारम्भ के फलस्वरूप भी दृष्टिगत होती है । भारतेन्दु-पूर्व गद्य-साहित्य, जैसा कि पिछले पृष्ठो मे प्रकट किया गया है, खड़ीबोली-गद्य न होकर ब्रजभाषा-गद्य था, जिसकी मूल प्रवृत्ति काव्यात्मक थी । आलोच्यकाल में भी पिछले प्रभावो के फलस्वरूप भाषा मे ब्रजभाषापन और संस्कृत के पंडिताऊ स्वरूप की व्यजना अनेक नाटकों के गद्य मे प्राप्य है । खड़ीबोली-गद्य का परिष्कार भारतेन्दु-युग में नहीं हो पाया था, यद्यपि इसीलिए एक ओर संस्कृत-बहुल क्लिष्ट भाषा का उपयोग किया गया तो दूसरी ओर बोलचाल की भाषा का । संस्कृत-मिश्रित भाषा का प्रयोग करने वाले नाटक-

कारो मे बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', मथुराप्रसाद उपाध्याय, लाला शालिग्राम वैश्य, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का नाम उल्लेखनीय है। प० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' कृत 'रुक्मिणी-परिणय' का निम्नलिखित अंश उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत है—

'शिशुपाल .... आज मेरे पन्नग समकक्षी बाण उसके हृदिवर में प्रवेश करके ऊष्ण रुधिर पान करेंगे। मेरे प्रचण्ड कोदण्ड जिनकी प्रचण्डता पाकारि इन्द्र भलीभाँति जानता है उसका प्रबल युद्धोन्माद क्षण भर में निवारण कर देंगे। ....'

उपर्युक्त भाषा रगमंच के अनुकूल नहीं थी, फलतः संस्कृतबहुल शब्दावली का व्यवहार नाटकों में धीरे-धीरे कम होने लगा। लोकप्रिय सामान्य भाषा के प्रयोग के संदर्भ मे कतिपय उदाहरण ऊपर प्रस्तुत किये ही गए है।

छन्द और गीत

भारतेन्दुयुगीन नाटकों में पद्य का प्रयोग प्रायः किया गया है। भारतेन्दु-पूर्व नाटको की रचना पद्य मे होती थी। भारतेन्दु-युग तक आते-आते उसमें गद्य का समावेश तो हुआ, किन्तु पद्य का बहिष्कार नहीं हो सका। सस्कृत नाट्य-शास्त्र मे गीत और सगीत की प्रधानता मिलती है। ट्रैजेडी के अतर्गत भी गीत और छन्द का महत्व आलोच्यकाल में प्राप्त था। फलत भारतेन्दुयुगीन नाटकों मे छन्द और गीत का प्रयोग किया गया। बँगला नाटकों मे, जिनमें पाश्चात्य नाट्य-शास्त्र के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया गया था, सगीत-बहुल नाटको का प्राधान्य था और बँगला नाटको का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव शिल्पगत अभिव्यक्ति के रूप मे स्वीकार कर लिया गया। दूसरी बात यह थी कि नाटकों में छन्द और गीतों का प्रयोग सस्कृत नाट्य-परंपरा के भी अनुकूल था। ऐसी स्थिति में आलोच्यकालीन नाटको मे इसकी प्रचुरता है। पद्य अथवा गीत के स्तर की दृष्टि से अवश्य ही भारतेन्दुकालीन नाटको मे अत्यल्प सामग्री मिलती है। लोकरुचि तब भी निम्न स्तर के असाहित्यिक नाटकों मे थी, जिनमें अश्लीलता और शृंगारिक सरस पदावली का प्रयोग होता था। साहित्यिक नाटको मे सूर, तुलसी, घनानन्द आदि के छन्दों का प्रयोग नाटकीय सरसता को विकसित करने मे सहायक सिद्ध नहीं हो सके। फलतः इस दृष्टि से आलोच्यकालीन नाटको में छन्द और गीत का प्रयोग एक परंपरा-निर्वाह-मात्र है। बहुत कम नाटक ऐसे हैं जिनमे छन्द और गीत का सुन्दर समन्वय हुआ है। समस्या-प्रधान सामाजिक नाटकों और ऐतिहासिक नाटको में पद्यात्मक कम ही प्राप्त है, पौराणिक, प्रेमपूरक और प्रतीक रूपकों में पद्य की

प्रधानता है ।

नाट्य-शैली : दृश्य और उद्देश्य (विचार)

आलोच्यकालीन नाटको मे नाट्य-शिल्प की दृष्टि से विशेष कलात्मक दृष्टि का अभाव है । कारण स्पष्ट है । इस काल में संस्कृत नाट्य-सिद्धान्त को आधार-भूत मानने के बाद भी उसके तत्त्वों को व्यवहृत करना कठिन समस्या थी । लोकरुचि संस्कृत नाटकों के शिल्प से अपरिचित थी तथा कुछ थोडा पढ़ालिखा वर्ग अग्रेजी नाटको के अनुवाद और अग्रेजी नाटको के अध्ययन के फलस्वरूप उसके कुछ तत्त्वों को ग्रहण करने की मन.स्थिति मे था । ऐसी स्थिति मे कलात्मक दृष्टि से इस काल के नाटक सामान्य ही कहे जा सकेंगे । मौलिक नाटको में ही कलात्मक अभिव्यक्ति संभव है, जबकि भारतेन्दुकालीन नाटकों मे मौलिक उद्भावना के स्थान पर नकल अथवा अनुकृति की प्रधानता है । महाराज विश्वनाथसिंह की संस्कृत नाट्य-शैली, जिसे भारतेन्दु ने देशकाल के अनुसार परिवर्तन और परिवर्द्धन के बाद स्वीकार किया था, अधिकाश नाटककारो ने भी ग्रहण किया । इस काल के नाटको मे नान्दी-पाठ, सूत्रधार और भरतवाक्य का प्रयोग प्रायः किया गया है । नाटक अक और गर्भांको में विभाजित किये गए हैं, किन्तु गर्भांक का अर्थ परम्परागत अर्थ से भिन्न ही समझा जाना चाहिए । गर्भांक को पाश्चात्य नाट्य-शिल्प के दृश्य के रूप मे स्वीकार कर उसका प्रयोग किया गया ।[1] प्रस्तावना का भी संकेत के रूप में प्रयोग किया गया है ।

रस के संबध में ऊपर विचार किया गया है, किन्तु संस्कृत-प्रभाव से मुक्त नाटकों मे रस के स्थान पर उद्देश्य या विचार का प्राधान्य दृष्टिगोचर होता है । भारतीय नाट्य-शास्त्र में सुखान्त नाटको की रचना का विधान है । भरतकाल मे मगलमय आदर्श, भारतीय विचार का मूल है किन्तु पश्चिमी नाट्य-शास्त्र के सम्पर्क में आने पर सब से महत्वपूर्ण घटना दुःखान्त नाटको के सृजन की है । आलोच्यकाल मे दुखान्त नाटकों की सृष्टि हुई, किन्तु प्रहसन के रूप में सुखान्त नाटकों में भी विचारोत्तेजक कथोपकथन इसके अभाव की पूर्ति करते हैं । इस दृष्टि से भारतीय काव्यशास्त्र में प्रयुक्त रस सामाजिकों के मध्य साधारणीकरण का साध्य था । उससे पृथक कोटि ही क्यो न हो, भारतेन्दुयुगीन नाटको मे देश-वत्सलता, समाज-सुधार, पौराणिक आत्मतोष और ऐतिहासिक पुनरुत्थान का सदेश प्राप्त है । नाट्य-कौशल और रंगमचीय दृष्टि के अभाव मे कभी-कभी ये विचार कोरे उद्देश्य के रूप मे प्राप्त होते हैं । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, श्रीनिवासदास, राधाकृष्णदास, बालकृष्ण भट्ट,

---

१. द्रष्टव्य : बालकृष्ण भट्ट कृत नाटक बृहन्नला, वेणुसंहार नाटक ।

राधाचरण गोस्वामी, लाल खड्गबहादुर मल्ल और पं० देवकीनन्दन त्रिपाठी के नाटकों में विभिन्न कलात्मक पक्षों की श्रेष्ठता आँकी जा सकती है। इन नाटककारों में भी श्रीनिवासदास और राधाकृष्णदास जैसे नाटककारों के प्रारंभिक नाटक नाट्य-कला की दृष्टि से सफल नहीं हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर आलोच्यकालीन नाट्यकला के संदर्भ में निष्कर्ष रूप में यही कहना समीचीन होगा कि हिन्दी नाटक के प्रथम उत्थान काल में विविध कथानकों को लेकर, लोकोत्तर व्यक्ति से सामान्य मानवों जैसे नायकों के आधार पर, जिस नाट्य-साहित्य की रचना की, उसमें प्राचीन आदर्श और तत्कालीन सामाजिक यथार्थ का समन्वय प्राप्त है। यह समन्वय केवल विषयवस्तु में ही नहीं, कलात्मक शिल्प और भाषा में भी खोजा जा सकता है। पूर्व और पश्चिम की नाट्य-कला की दो राहों से हिन्दी नाट्य-कला का मार्ग प्रशस्त करने का श्रेय इस युग के नाटककारों को है। हिन्दी का परवर्ती नाट्य-साहित्य इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।

**

अध्याय : ६

पाश्चात्य नाट्य-शैली और भारतेन्दुयुगीन नाटक।

आलोच्यकाल मे पाश्चात्य नाट्य-शैली के अनुरूप नाटकों का अभिनय, अनुवादित नाटको के द्वारा तथा मूल अंग्रेजी नाटको के द्वारा, अंग्रेजी राज्य की स्थापना के साथ ही प्रारम्भ हुआ। पिछले पृष्ठों में पाश्चात्य नाट्य-सिद्धान्त के विवेचन[1] के संदर्भ में इस बात को प्रकट किया गया है कि पाश्चात्य नाट्य-सिद्धान्त की सुदृढ़ परम्परा पश्चिमी जीवन के सन्दर्भ और उसके परिवेश में प्रमुख रूप से चरित्र-वैचित्र्य, द्वन्द्व और दुःखान्त जीवन-सृष्टि की परिणति है। संस्कृत की प्राचीन नाट्य-परम्परा से उसका स्वर भिन्न है, यद्यपि सुखान्त नाटको की रचनाएँ भी पश्चिम मे हुई है।

प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या भारतेन्दुयुगीन नाटककारों ने पाश्चात्य नाट्य-सिद्धान्तों को दृष्टि मे रखकर अपने नाटको की सृष्टि की अथवा शिक्षित समाज में प्रचलित नाटको को देख-सुन कर परम्परागत नाट्य-प्रयोगों मे परिवर्तन किया, जो पश्चिमी नाट्य-शैली के निकट हैं। इस तथ्य को जानने के लिए आलोच्य-कालीन नाटको पर पाश्चात्य प्रभाव की भिन्न-भिन्न स्थितियो से परिचित होना आवश्यक है, क्योंकि हिन्दी नाटक के उस प्रथम उत्थान-काल मे न तो नाटककार संस्कृत नाट्यशैली के ही शास्त्रीय रूप से प्रतिबद्ध हैं और न पाश्चात्य नाट्य-शैली के ही अनुवर्ती। इस दृष्टि से हिन्दी प्रदेश के नाट्य-प्रयोग बंगाली नाटको के प्रयोगों से भिन्न हैं जिन्होंने पश्चिमी नाटक शैली के ही आधार पर अपने नाटकों

की रचना की ।[१]

मध्ययुग मे यूरोपीय जातियों के संसर्ग से नवोत्थान की जो लहर समस्त यूरोप में व्याप्त हुई उसका अन्तिम दौर भारत मे अठारहवी शती मे प्रकट हुआ । जागृति की इस लहर ने राष्ट्रव्यापी सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक परिवर्तनो को जन्म दिया । व्यापारिक दृष्टिकोण को लेकर फ्रांसीसी, अंग्रेज, पुर्तगाली, डच आदि जातियो ने अपनी बस्तियाँ स्थापित की । कालान्तर मे स्थानीय जातियो के साथ संघर्ष मे विशेष साहसी, चतुर व कुशल होने से यूरोपीय जातियाँ विजयिनी हुई । व्यापारिक ईर्ष्या और संघर्षों को लेकर अन्तिम युद्ध अंग्रेजों और फ्रांसीसियों के मध्य हुआ और अंग्रेजो का सर्वाधिकार छा गया । अंग्रेजों ने अपने व्यापारिक माल की खपत के लिए और राजनैतिक व्यवस्था के लिए डाक, तार, रेल की व्यवस्था की तथा आर्थिक-लाभ की नीति मे अधिकाधिक अभिवृद्धि के लिए ग्रामोद्योग नष्ट करके भारतीय सामाजिक जीवन की धुरी ही तोड दी । सांस्कृतिक जीवन पर भी इसका घातक प्रभाव पडा । देश अधिकाधिक विपन्न, दरिद्र और अकाल-पीड़ित निरीह असहायता मे दिनोदिन अकर्मण्यता, अज्ञानता और शोषण का शिकार बना । अंग्रेजो ने व्यापार और शासन के चक्र मे सहायक होने के लक्ष्य को लेकर शिक्षा की ओर भी ध्यान दिया । बम्बई, मद्रास, कलकत्ता में विश्वविद्यालय स्थापित किये व अनेक स्थानों पर कॉलेजो की स्थापना हुई जिसमे अंग्रेजी शिक्षा का माध्यम थी । ईसाई धर्म-प्रचारको ने भी कलकत्ता, मद्रास, बम्बई, पटना, जबलपुर, दिल्ली में प्रचार के केन्द्र स्थापित किये । ज्ञान, विज्ञान, गणित, दर्शन, राजनीति, अर्थशास्त्र, व्यापार, टेलीग्राफ आदि विषयों पर पुस्तकों का प्रकाशन होने लगा । भारतीय इन पुस्तकों के प्रचार से अंग्रेजी साहित्य एवं पाश्चात्य विचारो के सम्पर्क में आने लगे । इन ईसाई पादरियो ने भारतीय जाति-पाँति, वर्णव्यवस्था, छूतछात, बालहत्या, नरबलि, बहुविवाह, पर्दाप्रथा, धार्मिक साम्प्रदायिकता, स्त्रियो की अज्ञानता, अशिक्षा और धर्म के वाह्य रूपों के कर्मकाड-जनित आचार-विचारों का खण्डन किया । इन नवीन विचारों के प्रचार व प्रसार में प्रेस ने भी अधिक योग दिया । सन् १८३५ ई० मे मेटकाफ ने प्रेस ऐक्ट बनाकर स्वतंत्रता प्रदान की । इस स्वतंत्रता और मुद्रण-यंत्रों के प्रसार से देश में समाचार-पत्रो के प्रकाशन

---

१. 'तत्कालीन बँगला नाटकों में शेक्सपीयर के नाटकों के आधार पर मानसिक अन्तर्द्वन्द्वपूर्ण नायकों के चित्र रखे गये हैं, जिसका उद्देश्य नायक के चरित्र को स्वाभाविक रूप और गति देना है ।' हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव, डा० श्रीपति शर्मा, पृ० ६४ ।

में अभिवृद्धि हुई। इण्डियन गजट, दिग्दर्शन, उदंडमारतंड, बंगदूत, बनारस अखबार, कविवचन सुधा, हरिश्चन्द्र मैगजीन, मित्रविलास, आर्य-सिद्धान्त, हिन्दी प्रदीप, नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका तथा सरस्वती आदि अनेक साप्ताहिक, दैनिक, मासिक पत्र-पत्रिकाएँ निकली। इन पत्रों के लेखों से व समाचारों से यह विदित होता है कि भारतीय जन-समुदाय बहुत वेग से पाश्चात्य सभ्यता तथा शिक्षा के सम्पर्क में आ रहा था। इस ज्ञान-विज्ञान की नवीन धारा के द्वारा एक नवीन चेतना का प्रसार समस्त भारत में व्याप्त हुआ। इस चेतना के फलस्वरूप सांस्कृतिक, सामाजिक व राजनैतिक क्षेत्रों में आन्दोलनो का सूत्रपात हुआ। ब्रह्म-समाज, आर्यसमाज, प्रार्थना-समाज, थियोसोफी, रामकृष्ण-मिशन, तदीय समाज, अरविन्द तथा टैगोर के बौद्धिक तथा सांस्कृतिक विचार, गान्धी जी के नेतृत्व में सामाजिक व राजनैतिक आन्दोलन आदि राष्ट्र की नवीन चेतना के परिचायक थे।

ब्रह्म-समाज के सस्थापक राजा राममोहन राय ने बाल-विवाह, सतीप्रथा, पर्दाप्रथा व मूर्तिपूजा का विरोध कर, धार्मिक सहिष्णुता व समन्वयवादी संस्कृति की भावना को जन्म दिया। वे ईसाई धर्म की अच्छाई को ग्रहण करना चाहते थे। स्त्रियों की शिक्षा के समर्थक थे। स्वामी दयानन्द ने हिन्दू धर्म के आचार व मूर्ति-पूजा के खण्डन के साथ स्त्री-शिक्षा का प्रचार व धार्मिक रूढ़ियों का खण्डन और अन्धपरम्पराओं का नाश किया। थियोसोफी धार्मिक सहिष्णुता के क्षेत्र में क्रियाशील थी। रामकृष्ण-मिशन द्वारा धर्म व दर्शन के क्षेत्र मे प्राच्य व पाश्चात्य के समन्वय की दिशा में प्रयत्न किया जा रहा था।

इस प्रकार पाश्चात्य सम्पर्क के प्रभाव से, ईसाई-पादरियों, नवीन शिक्षा सस्थानों, यातायात की सुविधा, रेल व समाचार-पत्रो व सामाजिक, धार्मिक आन्दोलनो के फलस्वरूप राष्ट्रीय जागरण के कार्यों का सूत्रपात तीव्रतर गति से हुआ।

राजनैतिक, सास्कृतिक जागृति व सुधारो का व्यापक प्रभाव साहित्य मे मुखर हुआ और नाटक उसका सब से शक्तिशाली अस्त्र सिद्ध हुआ। सस्कृत नाटकों की समृद्धिशाली परम्परा दसवी शती में ही विच्छिन्न हो चुकी थी। जन-शैली के नाटक, रास-मण्डली और रामलीला, पौराणिक शैली के आख्यान, राजस्थान के रास आदि का सामान्य जनता में व्यापक प्रचार था। भारतेन्दु-काल के पूर्व में कुछ सस्कृत नाटकों के अनुवाद अवश्य प्राप्त होते हैं किन्तु उनमें नाटकीय तत्वों का अभाव था। अधिक से अधिक वे नाटकीय काव्य या पद्यात्मक संवाद-मात्र कहे जा सकते हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के सम्मुख हिन्दी नाटकों की प्रेरणा के लिए दो

ही प्रमुख धाराएँ थी :—

(१) संस्कृत नाटको के अनूदित रूप—(भारतीय नाट्य-परम्परा)।

(२) शेक्सपियर के नाटको के माध्यम से प्राप्त, पाश्चात्य नाट्य स्वरूप

इस पाश्चात्य संस्कृति व नवचेतना के प्रभाव से सामाजिक जीवन मे भारत परम्परागत रूढियों व धर्मान्धता से विमुख हो रहा था। विदेशी के आचार-विचार व रहन-सहन को अपना रहा था। साहित्यिक जीवन मे भी संस्कृत भाषा की अनभिज्ञता के कारण नाट्यशास्त्र की जटिलता व परम्पराओं को छोड़कर शेक्सपियर के नाटको की ओर विशेष आकर्षित हो रहा था। इस युग मे संस्कृत नाटकों की नियमबद्धता तथा शास्त्रीयता से मुक्त नवीन सामाजिकता और राष्ट्रीयता के दर्शन गद्य व काव्य मे होते है। इस युग के नाटक-साहित्य पर पाश्चात्य प्रभाव निम्न दिशाओ से आया परिलक्षित होता है :—

(१) बँगला के मौलिक व अनुवादित नाटको के माध्यम से, जिन पर शेक्सपियर के नाटको की छाया थी।

(२) शेक्सपियर के अनुवादित तथा पारसी रगमच पर अभिनीत नाटको के माध्यम से।

(३) अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार द्वारा।

बगाल सब से प्रथम अग्रेजों की क्रीड़ाभूमि बना और बहुत पहले ही वहाँ शेक्सपियर के नाटकों की धूम मच चुकी थी। पाश्चात्य नाटकों का अभिनय अठारहवीं शती के उत्तरार्द्ध मे प्रारम्भ हो गया था। बँगला नाटककारो में माइकेल मधुसूदन दत्त, मनमोहन बसु, सतीशचन्द्र बसु, गिरीशचन्द्र घोष सबसे प्रथम पाश्चात्य नाटको से प्रभावित हुए।

माइकेल मधुसूदन दत्त के 'कृष्ण-कुमारी नामक ऐतिहासिक नाटक पर शेक्सपियर के दु:खान्त नाटकों का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है। भारतीय राजपूती गौरव सम्बन्धी इसकी कथा है। उदयपुर के राणा की पुत्री कृष्ण-कुमारी के सौंदर्य पर मोहित दो राजकुमारो की घोर प्रतिस्पर्धा है। अकारण रक्तपात को रोकने की चेष्टा मे कृष्णा-कुमारी को विषपान के लिए प्रेरित किया जाता है। नाटक गम्भीर विषादमय वातावरण मे अन्त होता है। यह ऐतिहासिक दु:खान्त नाटक है। राणा का मानसिक अन्तर्द्वन्द्व शेक्सपियर के दुखान्त नाटको की छाया लिए हुए है। कृष्ण-कुमारी की मृत्यु के पूर्व आँधी के वातावरण-चित्रण पर भयानक दु:खान्त वातावरण की सृष्टि है। शेक्सपीयर की ट्रैजेडियों मे प्रकृति का ऐसा ही चित्रण है।

गिरीश घोष तो बगाल के शेक्सपीयर ही प्रसिद्ध हैं। मानसिक

तथा वातावरण-चित्रण मे उन्होंने शेक्सपीयर के नाटको का आधार लिया है। 'पतिव्रता', 'प्रफुल्ल', 'वैधव्य कठोर दण्ड है या शांति', 'बलिदान' आदि नाटको मे यह छाया स्पष्ट है। 'पतिव्रता' सामाजिक नाटक है। इस में जीवन की यथार्थवादी परिस्थितियों को स्वाभाविक ढंग से चित्रित किया गया है। 'प्रफुल्ल' सामाजिक दुखान्त नाटक है। एक धनी जमीदार कुव्यसन मे पडकर मद्य-पान में अपनी सम्पत्ति नष्ट कर देता है। समस्त परिवार ही पतन के मार्ग पर है। भारतीय आदर्श नारी, प्रफुल्ल, अपने को परिवार की रक्षा मे बलिदान कर देती है। 'वैधव्य कठोर दण्ड है या शांति' नाटक मे विधवाओ के जीवन की असहाय करुण-कथा है। नाटक की शैली पाश्चात्य है। विधवा कन्याएँ पिता के घर लौट आती हैं। गरीबी का त्रास है। दुःख, कष्ट, पीड़ा में नायक की जीवन-लीला समाप्त हो जाती है।

'बलिदान' सामाजिक ट्रैजेडी है। दहेज प्रथा के कारण कितने घर नष्ट हो जाते है, यही इसका कथानक है। घर की सम्पत्ति दहेज मे समाप्त हो जाती है। लडकी भी विधवा हो जाती है। घोर दरिद्रता को देखकर कन्या आत्महत्या कर लेती है। पिता भी तदुपरान्त आत्महत्या कर लेता है। इस प्रकार सामाजिक प्रथा पर एक परिवार नष्ट हो जाता है। यह कथानक करोडों भारतीयो की कथा है।

बगाली भाषा के इन सामाजिक दुखान्त नाटको मे सामाजिक समस्या, वातावरण-चित्रण, अन्तर्द्वन्द्व, चरित्र-चित्रण, यथार्थ-चित्रण शेक्सपीयर के दुखान्त नाटकों जैसा है। इस समय तक पारसी कम्पनियो के थियेटर बम्बई, दिल्ली तथा अन्य प्रसिद्ध नगरों मे स्थापित हो चुके थे। इन कम्पनियो के व्यवस्थापक शेक्सपीयर के नाटकों की जनता मे लोकप्रियता से परिचित थे। परन्तु उनके साहित्यिक सौन्दर्य से अनभिज्ञ थे। उन्होंने इन नाटको की कथा को जन-भाषा में अनुवादित करवाकर देशीय वातावरण और देशज भाषा मे ही अभिनीत करवाया। इन कम्पनियों ने शेक्सपीयर के नाटकों का भारतीय जनता मे बहुत प्रचार किया। मूल नाटक के कलेवर मे परिवर्तन कर, उसमे तडक, भडक, सजावट के दृश्यो की योजना कर, नामो तक का भारतीयकरण करके जनता का ध्यान आकर्षित किया। 'मर्चेन्ट आफ वेनिस,' 'कामेडी आफ एरर्स,' 'द विंटर्स टेल', 'मेज़र फ़ार मेजर', 'रोमियो एण्ड जूलियट', 'हैमलेट', 'किंग लियर' आदि के नाम परिवर्तित करके उनके अनुवाद मंचस्थ किये। नाटको की भाषा अशुद्ध, अनुवाद भद्दे, शेर व गज़लो की भरमार इनके प्रमुख दोष थे। व्यावसायिक दृष्टिकोण प्रमुख होने पर भी लोकप्रियता का अभाव न था।

इन नाटकों के अनुवादों की कुरूचि को देखकर, प्रतिक्रिया मे, साहित्यिक एवं शुद्ध अनुवादो की दिशा मे पर्याप्त प्रयत्न किया गया। शेक्सपीयर के नाटक-साहित्य का अध्ययन-अध्यापन विश्व-विद्यालयों के पाठ्य-क्रमों में किया जाता था। इन नाटकों मे व्यक्ति-चरित्र का व लौकिक चित्रण का आकर्षण इतना अधिक था कि शिक्षित वर्ग में उनका आदर बहुत शीघ्र हुआ। इन नाटकों मे मानव-राग-विराग, ईर्ष्या-द्वेष, महत्वाकाक्षा आदि शाश्वत भावों का सर्व स्थानीय व सार्वकालिक चित्रण है। युक्त-प्रान्त के अनेक साहित्यकारों द्वारा उसके नाटक अनूदित हुए।

शेक्सपीयर के नाटकों के अधिकाधिक अनुवादों से प्रकट होता है कि भारतीय पढ़ी-लिखी सुरुचि-सम्पन्न विद्वान् जनता का ध्यान उस ओर विशेष रूप से आकर्षित हो रहा था।

भारतेन्दु एवं भारतेन्दुकालीन नाटकों में पाश्चात्य प्रभाव

जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है कि पाश्चात्य प्रभाव सबसे प्रथम बँगला नाटकों के माध्यम से हिन्दी में आया, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी 'विद्या-सुन्दर' सं० १९२५ में बँगला भाषा से अनुवादित किया। यह भारतेन्दु की सर्वप्रथम रचना है।

'विद्यासुन्दर' शृंगार-रस-प्रधान रचना है।

कथानक शेक्सपीयर के रोमान्टिक नाटकों से मिलता-जुलता है। सुन्दर नामक राजकुमार विद्या के रूप-सौन्दर्य से मोहित होकर उससे विवाह करने की आकांक्षा रखता है। इस प्रयत्न मे मालिन सहायक होती है। राजा (विद्या के पिता) तथा विद्या की प्रतिज्ञा इसमें बाधक है। अन्त मे दोनो का मिलन हो जाता है। नाटकीय शिल्प मे पाश्चात्य प्रभाव स्पष्ट है। नान्दी, प्रस्तावना, सूत्रधार आदि नहीं हैं। पद्य का प्रयोग अल्प है। हीरा मालिन व धूमकेतु के वार्त्तालाप मे यथार्थ-वाद की झलक है।

भारतेन्दु ने 'नीलदेवी' की रचना सं० १९३७ मे की। यह एक ऐतिहासिक नाटक है। इसका कथानक संक्षिप्त ही है। पंजाब के राजा सूर्यदेव पर अब्दुश्शरीफ आक्रमण करता है और रात्रि के अन्धकार मे छल से उसे पराजित कर बन्दी बना लेता है। नरेश की रानी नीलदेवी अत्यन्त कौशल से गायिका का रूप धारण कर अब्दुश्शरीफ को कटार मारकर पति के शव को लेकर उसके साथ सती हो जाती है। दुःखान्त नाटकों की भाँति इसमें संघर्ष व क्रिया-व्यापार का वेग बहुत तीव्र है। [illegible] पाश्चात्य नाटको के समान केटास्ट्राफी (पतन) की सूचक

है। इसके नायक सूर्यदेव मे पाश्चात्य नायक के समान अनेक गुण पाये जाते हैं। पिंजरे मे मूर्छित बन्दी राजा के समक्ष देवता के गीत निराशा के भाव व विषादमय वातावरण का सृजन करते हैं। दु:खान्त नाटको के तत्वों के अनुसार भय और करुणा का संचार नायक की मृत्यु के समय किया गया है। नाटक के मध्य सराय का दृश्य पाश्चात्य नाटकों मे गम्भीर वातावरण के बीच हास्य का अवतरण करने की योजना से मिलता है।

संस्कृत नाटको के समान इसमे नान्दी, सूत्रधार, प्रस्तावना, भरतवाक्य नही है।

भारतेन्दु अपने समय के अत्यन्त जागरूक साहित्यकार थे। उन्होंने अपने नाटक-नामक निबन्ध मे नाटक-रचना के विषय मे यह स्पष्ट अभिव्यक्त किया है कि नाटकों के स्वच्छन्द विकास के लिए, संस्कृत नाटकों के ये जटिल नियम नाट्य-संधियाँ, अवस्थाये तथा कार्यप्रकृतियाँ और नान्दी, सूत्रधार तथा रस-परम्परा का पालन, बाधक होगा। यद्यपि वे संस्कृत नाट्य-शैली मे आस्था रखते थे व उसका अनुसरण किया है, तथापि युगानुकूल परिवर्तन भी अपेक्षित था। इसकी आवश्यकता उन्होंने सबसे पहले अनुभव की और मात्र इतना ही नही, उन्होंने इस सम्बन्ध मे अपने विस्तृत अनुभव से यह उचित अनुमान भी लगाया कि जनता अब पुरानी भारतीय नाट्य-परम्परा के नाटको को रुचि से नही अपनायेगी। अत: बँगला और अंग्रेजी नाटकों की परम्परा के अनुसार युगानुकूल परिवर्तन किया। हिन्दी नाटको मे संस्कृत नाटको की जटिलता दूर करके वे अंग्रेजी नाटको की स्वच्छन्द तथा सरल शैली के लिए मार्ग सन्धान कर रहे थे। अपने इस उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है 'अब नाटक मे कही आशी: प्रवृत्ति, नाट्यालंकार, कही प्रकरी, कहीं विलोभन, कही पचसंधि या ऐसे अन्य विषयो की आवश्यकता नही रही। संस्कृत नाटको की भाँति इनका हिन्दी नाटक मे अनुसंधान करना व किसी नाटकाग मे इनको यत्नपूर्वक रखकर हिन्दी नाटक लिखना व्यर्थ है, क्योंकि प्राचीन लक्षण रखकर आधुनिक नाटकादि की शोभा सपादन करने से उल्टा फल होता है और यत्न व्यर्थ जाता है।

संस्कृत नाटको में वध, मृत्यु तथा नाटको की समाप्ति दु:खान्त रूप में करने की परिपाटी नही थी। इस दृष्टिकोण से भी 'नीलदेवी' में हम वध और दु:खान्त समाप्ति देखते हैं। इस प्रकार वह भारतीय परम्परा से हटकर पाश्चात्य दु:खान्त नाटको की परम्परा का अनुकरण करता है। भारतीय रस-परिपुष्टि की दृष्टि से भी इसमें पाश्चात्य नाटको का कार्य-व्यापार, उत्सुकता कौतूहल क

विशेष महत्व है। चरित्र-चित्रण मे अन्तर्द्वन्द्व को स्थान है। संकलन-त्रय को भी इसमे महत्व दिया गया है। अभिनेयता का गुण भी इस नाटक में सर्वाधिक है। जिज्ञासा और कौतूहल की मात्रा चरमसीमा पर है। अन्त मे करुणा, निराशा का तीव्रतर विकास दिखाया गया है। दु:खान्त नाटको के सभी गुण इस नाटक मे उपलब्ध है।

भारतेन्दु ने बँगला भाषा के माध्यम से पाश्चात्य प्रभाव ग्रहण किया, किन्तु इसी समय सीधे पाश्चात्य साहित्य का अध्ययन ग्रहण करने वालों में लाला श्रीनिवासदास प्रमुख हैं। शेक्सपीयर के नाटको का उन्होने भली प्रकार अध्ययन-मनन किया था। उन्होने शेक्सपीयर के अग्रेजी नाटक 'रोमियो और जूलियट' के आधार पर 'रणधीर-प्रेममोहिनी' नामक हिन्दी के प्रथम दु.खान्त नाटक की रचना की। इसमें पाटन के राजकुमार रणधीर और सूरत की राजकुमारी प्रेममोहिनी की प्रणय-कथा है। पाश्चात्य नाटको की भाँति इसमे प्रस्तावना, नान्दी-पाठ नही है। रणधीर का साहस रोमियो की भाँति और जूलियट का अथाह प्रेम शेक्सपीयर के दुखान्त नाटको जैसा है। दृश्य के स्थान पर गर्भांक का प्रयोग है। स्वयंवर का दृश्य 'मर्चेंट ऑफ वेनिस' के कासकेट सीन से मिलता है। 'रणधीर-प्रेममोहिनी' के प्रेमालाप रोमियो-जूलियट के समान हैं। कथानक के निर्वाह मे सकलन-त्रय को दृष्टि मे रखा है। नाटक-रचना के प्रारम्भ मे ही ट्रैजेडी की परिभाषा और उसके स्थायी व्यापक प्रभाव का उल्लेख है। उनके दूसरे नाटक 'सयोगिता-स्वयवर' के अन्तिम दो अकों मे शेक्सपीयर के 'मर्चेंट ऑफ वेनिस' की छाप है। इसके अतिरिक्त समकालीन लेखको में से राधाकृष्णदास के 'महाराणा प्रतापसिंह' व 'महारानी पद्मावती' नाटकों मे पाश्चात्य नाटककार शेक्सपीयर का प्रभाव है। 'महाराणा प्रताप' मे भी गर्भांको का प्रयोग है। चरित्र-चित्रण, कथोपकथन तथा अभिनेयता की दृष्टि से यह नाटक उस युग का सर्वश्रेष्ठ नाटक कहा जा सकता है। इस नाटक में मानसिक अन्तर्द्वन्द्व के बड़े सुन्दर चित्र हैं। जंगल के दृश्य में वन-बिलाव जब राजपुत्री के हाथ से रोटी छीन कर ले जाता है और क्षुधाकुल नेत्रो से पुत्री पिता को देखकर क्रन्दन कर उठती है, उस समय महाराणा के मन में कर्त्तव्य, देशभक्ति, संतानप्रेम के बीच मार्मिक अन्तर्द्वन्द्व हैमलेट के समान दिखाया गया है। इस युग मे राधाचरण गोस्वामी का नाटक 'चन्द्रावली' भी ट्रैजेडी ही है। 'कमल-मोहिनी', 'गंगोत्री', 'लावण्यवती' आदि अन्य दु:खान्त नाटक लिखे गये हैं। पाश्चात्य नाट्यशैली का स्पष्ट प्रभाव प० केशवराम भट्ट के नाटको मे भी मिलता है। उन्होंने बंगला नाटक 'भरत और सरोजिनी' के आधार पर 'सज्जाद-सबुल'

(१८७७ ई०) तथा 'सुरेन्द्र-विनोदिनी' के आधार पर 'शमसाद-सौसन' (१८८० ई०) नाटको की रचना की। इस नाटक का आरम्भ पश्चिमी नाटकों की शैली पर होता है। नाटक के प्रारम्भ मे सज्जाद पत्र पढ़ते हुए आता है, जिसमे अगली अजुमन में साइंटिफिक एसोसिऐशन में एक भाषण होने वाला है, जिसमे विचार का विषय है—'आदमी बंदर की संतान हैं'। नाटक में कुल ६ अंक और २७ झाँकियाँ हैं। सबुल असहाय नारी के रूप में सज्जाद के यहाँ आश्रय ग्रहण करती है। दोनों मे प्रेम का उदय होता है। नाटक के अन्त में दोनों का विवाह हो जाता है। रोमेन्टिक सुखान्त नाटक की भाँति प्रेम व मिलन की सरस कथा है। पाश्चात्य विचारो का प्रभाव नाटक पर है।

'शमसाद-सौसन' भी रोमेन्टिक नाटको के अन्तर्गत है।

भारतेन्दु का 'भारत-दुर्दशा' नामक नाटक समाज-सुधार के दृष्टिकोण को लेकर लिखा गया प्रतीकात्मक दु.खान्त रूपक है। इसमे सत-असत् वृत्तियो को चरित्र के रूप मे दिखाया गया है। इस युग की परिस्थितियो में भारत की जाग्रति व पतन का यथार्थवादी चित्रण जितना इस नाटक में हुआ है, उतना अन्य किसी नाटक में नही हुआ है। राष्ट्रीय चेतना के परिपोषको को शासन जिस दृष्टि से देखता था उसका प्रतीक 'डिसलायल्टी' नामक पात्र है।

इस नाटक के अन्त मे भारत-भाग्य नामक पात्र भारत की जडता, अकर्मण्यता, अज्ञानता आदि पर उसे जगाने की यथाशक्ति चेष्टा मे असफल होकर कटार मारकर मर जाता है। इस प्रकार नाटक का अन्त दु.खान्त नाटको की परम्परा मे है।

नाटकों में तत्कालीन पराधीनता तथा उससे उन्मुक्त होने की भावना का अनेक नाटककारों ने चित्रण किया है। 'भारत-दुर्दशा' की शैली पर अम्बिकादत्त व्यास का 'भारत-सौभाग्य' (१८८८ ई०), दुर्गादत्त का 'वर्तमान दशा' (१८९० ई), गोपालराम गहमरी कृत 'देशदशा', जगत नारायण का 'भारत-दुर्दिन' (१८९५ ई०), देवकीनन्दन त्रिपाठी का 'भारत-हरण' (१८९९ ई०), प्रताप नारायण मिश्र का 'भारत-दुर्दशा' आदि प्रधान नाटक है। इन नाटकों में प्राचीन भारत की नाट्य-परम्परा के अनुसरण मे शैथिल्य दृष्टिगोचर होता है। प्रस्तावना का प्रयोग नहीं है।

सामाजिक नाटकों की धारा का सूत्रपात भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'प्रेमयोगिनी' स० १९३२ ई० में कर दिया था। 'प्रेमयोगिनी' में काशी की तत्कालीन हीनावस्था का सुन्दर चित्रण है। नारी-शिक्षा बाल-विवाह बहुविवाह,

वेश्यावृत्ति आदि विषयों को लेकर प्रतापनारायण मिश्र ने 'कलि-कौतुक-रूपक', खड्गबहादुर मल्ल का 'हरितालिका', 'भारत ललना', देवराजकृत 'सावित्री', नाटक, बालमुकुन्द पाण्डेय का 'गंगोत्री' नाटक, कामताप्रसाद का 'कन्या-संबोधिनी' नाटक रचे गये। काशीनाथ खत्री का 'विधवा-विवाह' तथा घनश्यामदास कृत 'वृद्धावस्था-विवाह' नाटक प्रसिद्ध हैं। उपरोक्त नाटको मे दोनों ही शैलियो का समन्वित रूप है।

भारतेन्दु ने नाटको को तीन भेदो में बाँटकर (१) काव्य मिश्र (२) शुद्ध कौतुक (३) भ्रष्ट। काव्य मिश्र के दो भेद किये है, प्राचीन व नवीन। नवीन के सम्बन्ध में उनकी धारणा है—'आजकल यूरोप के नाटकों की छाया पर जो नाटक लिखे जाते हैं और बंगदेश में जिस चाल के बहुत से नाटक बन भी चुके है, ये सब नवीन भेद में परिगणित हैं। प्राचीन की अपेक्षा नवीन की परम मुख्यता बारम्बार दृश्य के बदलने में है और इसी हेतु एक-एक अंक में अनेक गर्भांकों की कल्पना की जाती है। ये नवीन नाटक मुख्य दो भेदों में बँटे है। एक नाटक, दूसरा गीति-रूपक। ये दोनो, कथाओं के स्वभाव से अनेक प्रकार के हो जाते है, किन्तु मुख्य भेद इतने किये जा सकते हैं, यथा-संयोगान्त तथा वियोगान्त। वियोगान्त—जिसकी कथा अन्त मे नायक या नायिका के मरण या किसी आपद् घटना पर समाप्त हो'।

भारतेन्दु जी पाश्चात्य नाटकों के विषय, स्वरूप, विधान तथा अनेक शैलियों से परिचित थे। 'भारत-जननी' नाटक की दिशा में नवीन प्रयोग है। यह एक आपेरा है। सत्रहवी शताब्दी में इटली मे आपेरा की उत्पत्ति हुई। 'सती-प्रताप' भी गीति-रूपक है। पाश्चात्य नाटक-शैली की भाँति इसमे चुम्बन, आलिंगन, मिलन के दृश्यों को प्रदर्शित किया गया है, जो संस्कृत नाट्य-शैली के प्रतिकूल है। संस्कृत नाटक-परम्परा के नान्दी, सूत्रधार व प्रस्तावना का भी इसमे प्रयोग नही है।

'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में संस्कृत शैली के अनुसरण मे पर्याप्त शैथिल्य दृष्टिगोचर होता है। भारतेन्दु का विचार इस सम्बन्ध में दृष्टव्य है कि 'नाटकादि दृश्य-काव्य में अस्वाभाविक सामग्री, परिपोषक काव्य, सहृदय सभ्य मण्डली को नितान्त अरुचिकर है। इसलिये स्वाभाविक रचना ही इस काल के सभ्यगण की हृदयग्राहिणी है। इससे अलौकिक विषय का आश्रय लेकर नाटकादि दृश्यकाव्य प्रणयन करना उचित नही है। इस प्रकार अलौकिक का परित्याग तथा स्वाभाविक को ग्रहण करने की प्रेरणा पश्चिम की ही देन थी। भारतेन्दु ने अपने नाटकों मे मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों से पूर्ण नायकों के चित्र रखे हैं, जिसका उद्देश्य नायक के चरित्र

को स्वाभाविक रूप और गति देना है। संस्कृत की परम्परा के अनुसार नायकों में अलौकिक गुणों का समावेश किया जाता था, परन्तु इस प्रकार के चरित्र मानव न होकर देवस्वरूप हो जाते थे। पाश्चात्य नाटकों में चरित्र अपनी समस्त दुर्बलताओं-सबलताओं के साथ दर्शकों के सन्मुख आते हैं जो स्वाभाविकता का आभास देते हैं। राजा हरिश्चन्द्र की दानवीरता तथा उनके त्याग का प्रदर्शन मुख्य उद्देश्य है। साथ ही पाश्चात्य शैली के अनुसार उत्सुकता, मानसिक अन्तर्द्वन्द्व के अनेक उदाहरण इस में है। यह नाटक अभिनेय है। मरघट के दृश्य मे हरिश्चन्द्र के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का सुन्दर चित्रण है। वातावरण-चित्रण दुःखान्त नाटकों जैसा है। अन्धकारमय रात्रि, श्मशान घाट की निर्जनता, घनघोर वर्षा के भयानक वातावरण मे शैव्या का करुण विलाप, हरिश्चन्द्र की आकुलता, बिजली की कौंध मे शैव्या को पहचानना और कर्त्तव्य व भावना मे गहरा संघर्ष, उसे अति मानवीय व स्वाभाविक बना देता है। 'हा वज्र हृदय, इतने पर भी तू क्यों नही फटता ? अरे नेत्रों ! अब और क्या देखना बाकी है कि तुम अब भी खुले हो ? इससे पूर्व कि किसी से सामना हो, प्राण-त्याग करना ही उत्तम बात है। (पेड के पास जाकर फाँसी देने योग्य डाली खीचकर उसमे दुपट्टा बाँधता है) धैर्य ! मैंने अपने जान सब अच्छा ही किया। (दुपट्टे की फाँसी गले में लगाना चाहता है कि एक साथ चौंककर) गोविन्द ! गोविन्द ! यह मैंने क्या अधर्म, अनर्थ विचारा। भला मुझ दास को अपने शरीर पर क्या अधिकार था कि मैंने प्राण-त्याग करना चाहा' ? मानसिक अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण से नायक का चरित्र अत्यन्त स्वाभाविक हो उठा है।

भारतेन्दु जी जीवन्त, विनोदी प्रकृति के कारण हास्य की भी रचना कर सके। संस्कृत साहित्य मे प्रहसनों का अलग से विशेष अस्तित्व नही है। भारतेन्दु के प्रहसनों पर पश्चिम का प्रभाव स्पष्ट है। भारतेन्दु ने तत्कालीन समाज की अन्ध-विश्वास-ग्रस्त कूप-मंडूकता, अज्ञान, ढोंग व सामाजिक बुराइयों, कुरीतियों को दूर करने की दृष्टि से तीखे व्यंग और हास्य की सृष्टि की है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' मे मदिरापान व मांस-भक्षण करने वालों पर तीव्र व्यंग किया गया है। 'हे ब्राह्मण लोगो ! तुम्हारे मुख मे सरस्वती, हंस सहित वास करे, और उसकी पूँछ मुँह में न अटके। हे पुरोहित ! नित्य देवी के सामने बकरा मरवाया करो और प्रसाद खाया करो'। अन्धेर नगरी मे शासन की अव्यवस्था तथा न्यायहीनता पर व्यंग किया है। 'विषस्य विषमौषधम्' तत्कालीन राज्य-व्यवस्था पर व्यंग है। इन प्रहसनों मे अराजकता, घूस, पाखण्ड, कुव्यसन, आलस्य, विश्वासघात, धनलोलुप पंडितों और चरित्र-भ्रष्ट गोसांइयों का चित्रण किया है।

नाटकों में सामाजिक यथार्थ चित्रण के विचार से भारतेन्दु की दृष्टि निम्नलिखित पंक्तियों में स्पष्ट है—'वर्तमान समय में इस काल के कवि तथा सामाजिक लोगों की रुचि उस काल (प्राचीन) की अपेक्षा अनेकांश मे विलक्षण है। इससे सम्प्रति, प्राचीनतम अवलम्बन करके नाटकीय दृश्य-काव्य लिखना युक्ति-सगत नहीं बोध होता'। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के अन्य नाटकों में भी हास्य के आकर्षण स्थल हैं। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' मे मॉस-भक्षण को धर्मानुकूल सिद्ध करने की प्रवृत्ति, बगाली के प्रलाप, यमपुरी के दृश्य, पुरोहित और चित्रगुप्त के वार्तालाप मे हास्य की अवतारणा की गई है। 'अन्धेर नगरी' तो अपने काल का सर्वाधिक प्रशसित प्रहसन था। बालकृष्ण भट्ट ने १८७७ ई० में 'जैसा काम वैसा परिणाम' नामक प्रहसन की रचना की, जिसमें वेश्यावृत्ति तथा नशेबाजी के दुष्परिणामों का चित्रण है। श्री देवकीनन्दन त्रिपाठी ने 'रक्षा-बधन' (१८७८ ई०) 'एक-एक के तीन-तीन', (१८७९ ई०) 'स्त्री-चरित्र', (१८७९ ई०) 'वेश्या-विलास', 'बैल छ: टकेको' तथा 'सैकडे मे दस-दस', 'जय नारसिह की' और 'कलजुगी जनेऊ' (१८८६ ई०) की रचना की। 'जय नारसिह की' में ओझा, जादू-टोने का वर्णन है जिन पर निरक्षर जनता का अटूट विश्वास है। त्रिपाठी जी का स्थान व्यंग-रचना मे सर्वश्रेष्ठ है। 'बूढे मुँह मुँहासे तथा लोग देखें तमासे' (१८८७ ई०) में राधाचरण गोस्वामी जी ने वृद्ध-विवाह एव भक्तों की पोल खोली है। 'तन, मन, धन, गोसाई जी के अर्पण' (१८९० ई०) में ढोंग पाखड पर व्यंग है। 'भगतरग' और 'यमलोक-यात्रा' इनके दो अन्य प्रहसन हैं। लाल खड्गबहादुर मल्ल के 'भारत-आरत' मे मद्यपान और मुकदमेबाजी के दोषों का वर्णन किया गया है। 'चौपट-चपेट' मे किशोरीलाल गोस्वामी ने लम्पटो की दुर्दशा का चित्र खीचा है। देवकीनन्दन तिवारी ने 'कलजुगी-विवाह' (१८९२ ई०) मे बाल-विवाह के अपव्यय तथा सामाजिक कुरीतियो पर व्यग किए हैं। 'जैसे को तैसा' मे गोपाल राम ने वृद्ध-विवाह के दुष्परिणामो का चित्रण किया है। विजयानन्द त्रिपाठी ने 'महा अन्धेर नगरी' तथा देवदत्त शर्मा ने 'अति अन्धेर नगरी' की रचना भारतेन्दु की अन्धेर नगरी के आधार पर की। पन्नालाल का 'हास्यार्णव' वचनेश मिश्र का 'हास्य' राधाकान्त का 'देशी कुत्ता, विलायती बोल' और बलदेव मिश्र का 'लल्ला बाबू' आदि है।

इन व ऐसे अन्य प्रहसनो का मुख्य उद्देश्य समाज-सुधार के आन्दोलनों को गति प्रदान करना था। प्राचीन रूढियो व रीति-रिवाजो मे सुधार की बहुत आवश्यकता थी प्रहसनों में से अधिकाश का स्तर बहुत ही निम्न कोटि का था।

अश्लील हास्य को उत्पन्न करने की चेष्टा की गई। प्रहसनो के आकर्षण से जनता का ध्यान अपनी बुराइयो और कुरीतियो की ओर गया। इनके द्वारा विधवा-विवाह, मद्यपान, वृद्ध-विवाह, वेश्यागमन, साम्प्रदायिक भावना, छुआछूत आदि पर कुठाराघात किया गया, जिसके फलस्वरूप राष्ट्रीय जागरण की ऐसी लहर आई जिससे जन-समाज के मानसनेत्र आलोकित हुए।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भारतीय नाट्यशैली तथा पाश्चात्य नाट्यशैलियो का समन्वय किया है। उन्होने सस्कृत नाट्य-परम्परा का अनुसरण करते हुए भी उसकी जटिलता और नियम-बद्धता के स्थान पर स्वच्छदता को अपनाया। नाटको में दृश्य-विधान सरलता की ओर है। इस प्रकार मध्यम मार्ग का अनुसरण करके हिन्दी नाटको के लिये मार्ग प्रशस्त किया। भारतेन्दु के 'नाटक' नामक निबन्ध से यह स्पष्ट है कि उन्हे सस्कृत तथा पाश्चात्य दोनो नाट्यशैलियो का पूर्ण ज्ञान था। विषय तथा शैली दोनो ही दृष्टियो से उन्होने पाश्चात्य नाटको के आदर्शो को ग्रहण किया। ट्रेजेडी के स्वरूप और उसकी स्थापना बगाल के दु खान्त नाटको के माध्यम से हिन्दी क्षेत्र को प्रभावित कर चुकी थी। भारतेन्दु के 'विद्या-सुन्दर', 'नीलदेवी' दु.खान्त नाटक है। इसी परम्परा मे प्रथम दु.खान्त नाटक है श्रीनिवासदास का रणधीर-प्रेममोहिनी'। तदुपरान्त 'कमल-मोहिनी', 'गगोत्री', 'लावण्यवती' और 'जयन्त' आदि की रचना हुई। 'भारत-दुर्दशा' पश्चिम के मोरेलिटी नाटकों के आदर्श पर तथा 'भारत-जननी' मे आपेरा का अनुकरण है।

भारतेन्दु काल के नाटककारो ने सस्कृत की परम्परा को यथावत पालन करने मे शैथिल्य का परिचय दिया है। नान्दीपाठ भारतेन्दु के 'नीलदेवी', 'भारत-दुर्दशा', राधाकृष्ण दास के 'दु:खिनी बाला', 'सती-प्रताप', श्रीनिवासदास कृत 'रणधीर-प्रेम-मोहिनी' आदि में नही है। रस-निष्पति का स्वरूप भी अल्प-सख्यक नाटको मे ही उपलब्ध होता है। उसके स्थान पर कौतूहल व औत्सुक्य की ओर ध्यान दिया जाने लगा।

सस्कृत नाटकों के नायक आदर्श गुण-सम्पन्न थे। पाश्चात्य नाटको मे नायक का चरित्र मानसिक सघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व से पूर्ण रहता था। इसी आधार पर भारतीय दु खान्त नाटको में सघर्ष व मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण हुआ है। 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'नीलदेवी', 'महाराणा प्रताप' मे इसके उदारण उपलब्ध होते है।

सस्कृत नाटकों के विषय धार्मिक, पौराणिक व आदर्शात्मक थे परन्तु पाश्चात्य नाटको के प्रभाव-स्वरूप सामाजिक कुरीतियो, पाखंडो तथा परम्पराओ के खण्डन और आलोचना की ओर ध्यान आकर्षित हुआ।

संस्कृत नाटकों में अंक पाँच से दस तक नियमतः होते थे। भारतेन्दु-युग मे चार अंक और पाँच अक के नाटक भी लिखे गये। प्रहसनों में एकाधिक अक व दृश्य रखे जाने लगे। अक सम्बन्धी-नियम की अवहेलना सामान्य-सा लक्षण बन चुका था। अंग्रेजी 'सीन' का रूपान्तर गर्भांक के रूप मे हुआ। नाटकों में दृश्य-परिवर्तन शीघ्रता से होने लगे।

इस प्रकार भारतेन्दु-युग के नाटककारों ने प्राचीन व नवीन शैलियों का समन्वित रूप अपनी रचना में ग्रहण किया। कुछ ने प्राचीन शैली का अधिक अनुकरण किया, कुछ ने नवीन को प्रमुखता दी। कुछ ने मिश्रित विधान ग्रहण किया। स्वच्छन्दता की प्रवृत्ति प्रमुख रही। परिणामतः हिन्दी नाटकों की विकास-परम्परा मे भारतेन्दु-युग अपनी समन्वयात्मक विशेषताओं के कारण विशेष महत्व-पूर्ण है। नवयुग की चेतना के प्रचार व प्रसार मे साहित्य के क्षेत्र में नाटक की विधा अत्यन्त महत्वपूर्ण सहायक सिद्ध हुई।

भारतेन्दुयुगीन नाटको पर पड़े इस प्रभाव को हम निष्कर्षतः अनेक क्षेत्रों मे पाते हैं। वस्तुस्थिति यह है कि भारतेन्दु-युग मे पाश्चात्य प्रभाव ने सभी धाराओं को नवीन शक्ति प्रदान की। प्रत्यक्ष रूप से उसे स्वीकार न करने के बाद भी परोक्ष रूप मे जिस प्रकार पाश्चात्य नाटको में सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक सुधार की कामना से नाट्यरचना होती थी, हिन्दी मे भी भारतेन्दु-युग में वैसे ही नाटको व प्रहसनों की सृष्टि होने लगी। विषय का विस्तार हुआ। प्रहसनों मे व्यंग के समावेश से वस्तु का क्षेत्र विस्तृत हो गया। सुधारवादी भावनाओं से प्रेरणा पाकर इस युग के नाटककारो ने नवीन प्रेरणा दी। वस्तु-विन्यास, चरित्र, भाषा, वाता-वरण-सृष्टि और रचना प्रक्रिया पर पाश्चात्य नाटको के प्रभाव, युग की परिस्थिति और नवीनता की आकांक्षा से सम्बद्ध होकर प्रकट हुए। नाटकों मे दोहरी वस्तु, संघर्ष और दुःखान्त-सुखान्त मनोभावना का श्रीगणेश हुआ। समग्र रूप से यह नाट्य-विधा पर पाश्चात्य प्रभाव का ही परिचायक है।

अध्याय : सात

भारतेन्दुयुगीन नाटकों में समाज-सन्दर्भ और राष्ट्रीय चेतना का स्वरूप

समाज-सन्दर्भ

नाटक की रचना के मूल में सामाजिकों से नाटककार के भाव या विचारो का तादात्म्य एक अप्रत्यक्ष प्रेरक तत्व है, यद्यपि नाट्य-शास्त्र के आचार्यों ने उसे पृथक से कही स्वीकार नही किया है। साहित्य के अन्तर्गत नाटक ही एक ऐसी विद्या है जिसमे सामाजिकों का प्रत्यक्ष सन्दर्भ अपेक्षित है, उसके अभाव मे नाटक पाठ्य-सामग्री बन कर रह जाते है। साहित्य अपने मूल मे व्यक्ति और समाज के कलागत आदान-प्रदान की भाषागत अभिव्यक्ति है। इस दृष्टि से नाटकों मे समाज-संदर्भ जितना प्रत्यक्ष और प्रभावी होगा, जन-मानस की रुचि नाटको के प्रति उतनी ही तीव्र होगी। हिन्दी नाटक के प्रथम उत्थान-काल मे भारतेन्दु और उनके समकालीन नाटककारो ने समाज के अज्ञान, अंधकार को मिटाने और देशभक्ति की भावना जगाने मे अपने नाटको को साधन रूप मे प्रयुक्त किया है और इस प्रकार साहित्य की सोद्देश्यता को नाटक का आधार माना गया है। आलोच्यकालीन नाटककारों की दृष्टि समाज-चित्रण के साथ शिक्षा देने की भी थी।[1] ऐसी स्थिति

---

१. द्रष्टव्य : भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का मत, भारतेन्दु-ग्रंथावली निबन्ध, पृ० ७४०, "आजकल की सभ्यता के अनुसार नाटक-रचना में उद्देश्य फल उत्तम निकलना बहुत आवश्यक है। यह न होने से सभ्य शिष्टगण ग्रंथ का तादृश आदर नहीं करते, अर्थात् नाटक पढ़ने व देखने से कोई शिक्षा मिले, जैसे सत्य हरिश्चन्द्र देखने से आर्यजाति को सत्य प्रतिज्ञा, नीलदेवी से प्रेमस्नेह

भारतेन्दुयुगीन नाटक मे सामाजिक जीवन का चित्रण यदि अतिरंजनापूर्ण भी हुआ हो तो भी आश्चर्य की बात नहीं है। भारतेन्दु-युग के नाटको मे समाज की स्थिति को समस्याओ के रूप मे प्राय. नाटककारो ने उठाया है, यद्यपि कुछ नाटककारो ने सामाजिक स्थिति को यथातथ्य रूप में ही ग्रहण कर, भरत-वाक्य के द्वारा स्वस्थ समाज की कामना की है। कतिपय विद्वानो का विचार है कि चूंकि साहित्यकार सामाजिक प्राणी है, इसलिए समाज की परिस्थितियो से अपने को विलग नहीं रख सकता है,[1] इस रूप मे सामाजिक परिस्थितियो का चित्रण एक पृथक बात है, और सोद्देश्य रूप मे समाज-चित्रण दूसरी बात। सामाजिक प्राणी होने के बाद भी साहित्यकार की प्रतीति जब तक समाजोन्मुखी नहीं होगी, उसकी रचनाओं में समाज-चित्रण अथवा राष्ट्रीय चेतना प्राप्त होना सम्भव नही है।इसी दृष्टि से भारतेन्दुयुगीन नाटककारो की दृष्टि समाजोन्मुखी है और अंग्रेजी राज्य की स्थापना के फलस्वरूप पारम्पारिक समाज के पराभाव और नये सन्दर्भों की उपलब्धियों के मध्य सामाजिक चेतना के सास्कृतिक अभ्युत्थान से सम्बद्ध है, जिसमे एक ओर अपने समाज की श्रेष्ठता को ससार के सामने प्रस्तुत करने और संसार की प्रगतिशील भौतिक समृद्धि को ग्रहण करने की प्रेरणा है, तो दूसरी ओर अर्धशिक्षित समाज को जाग्रत करने की भावना।

भारतेन्दुयुगीन नाट्य-साहित्य मे सन्दर्भ और राष्ट्रीय चेतना के लिए अप्रत्यक्ष रूप से वे सम्पूर्ण स्थितियाँ उत्तरदायी हैं, जिनके फलस्वरूप भारतीय समाज अपने उदात्त और विश्व-विश्रुत जीवन-दर्शन से हटकर मध्यकालीन हीन-

---

इत्यादि शिक्षा निकलती है। इस मर्यादा की रक्षा के हेतु वर्तमान समय मे स्वकीया नायिका तथा उत्तम गुण विशिष्ट नायक को अवलंबन करके नाटक लिखना योग्य है। यदि इसके विरुद्ध नायिका-नायक के चरित्र हों तो उसका परिणाम बुरा दिखलाना चाहिए। यथा नहुष नाटक में इन्द्राणी पर आसक्त होने से नहुष का नाश दिखलाया गया है; अर्थात् चाहे उत्तम नायिका-नायक के चरित्र की समाप्ति सुखमय दिखलाई जावे किंवा दुश्चरित्र पात्रों के चरित्र की समाप्ति कंटकमय दिखलाई जाय, नाटक के परिणाम से दर्शक और मनुष्य कोई उत्तम शिक्षा अवश्य पावें।"

१. दृष्टव्य : भारतेन्दुयुगीन हिन्दी नाट्य-साहित्य—डा० भानुदेव शुक्ल का मत, पृ० २२१।

भाव और दासत्व का शिकार हुआ था। अंग्रेजों की दासता के पूर्व मुसलमानों की दासता की कहानी अधिक भयावह और क्रूर थी। अंग्रेजो ने इस स्थिति का मनोवैज्ञानिक लाभ लेकर हिन्दुओ की धार्मिक मनोभावना पर प्रत्यक्ष रूप में हस्तक्षेप की नीति को नही अपनाया, किन्तु सामाजिक क्षेत्र व हीनत्व की भावना को संक्रात्मक रूप में फैलाने मे सहयोग दिया। अंग्रेजी पढे-लिखे लोगो ने अपने अधकचरे ज्ञान और पश्चिमी सभ्यता के अनुकरण मे अपने आचार-विचार, खानपान में स्वच्छन्दता को प्रश्रय दिया। प्राचीन धर्मग्रन्थों से उद्धरण देकर उन्होंने अपनी स्वच्छन्दता को प्रमाणित करने की चेष्टा की। समाज जिससे पहिचाना जाता है, वह मूल रूप में, उसके सामाजिको का आचार-व्यवहार ही है। भारतेन्दु ने अपने प्रहसन 'वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति' मे समाज की इस स्थिति का चित्रण इस रूप मे किया है—

'जो कुछ हो, मेरा तो कल्याण हो गया। अब इस धर्म के आगे जो सब धर्म हैं, तुच्छ हैं और जो माँस न खाय, वह तो हिन्दू नही जैन है। वेद में सब स्थानों पर बलि देना लिखा है। ऐसा कौन सा यज्ञ है जो बिना बलिदान का है और ऐसा कौन देवता है जो मास बिना ही प्रसन्न हो जाता है। और, जाने दीजिए, ऐसा कौन है जो माँस नही खाता? क्या छिपा के क्या खुले-खुले। अँगोछे में माँस और चोगे मे मद्य छिपाई जाती है। उस पर, जिन हिन्दुओं ने थोड़ी सी अंग्रेजी पढी है या जिनके घर मुसलमानी स्त्री है उनकी तो कुछ बात ही नहीं, आजाद हैं।'[1]

आलोच्यकालीन नाटको मे जिस समाज का चित्रण हुआ है वह कर्मजाल मे फँसे हुए ऐसे व्यक्तियों का चित्रण है, जो कहते कुछ हैं, करते कुछ हैं, जिनके जीवन में अपनी यथार्थ स्थिति के प्रति कोई जिज्ञासा नही है। वे 'महाराज सर्कार अगरेज के राज्य' मे 'स्टार ऑफ इडिया' की पदवी प्राप्त कर अपनी प्रतिष्ठा बढाने में लगे हैं।[2] भारत की मूल प्रकृति 'धर्म-वत्सल' मानी जाती रही है। ससार मे जितनी सभ्यताएँ विकसित हुई हैं, उनमे धर्म के आधार पर मानवता के सहिष्णु भाव का व्यापक और व्यवहृत रूप भारतीय समाज में प्राप्त है, किन्तु आलोच्यकाल मे सबसे अधिक विकृति नाटककारो ने धर्म मे देखी। फलत: पात्रो के माध्यम से ऐसे चरित्रो की सृष्टि की गई, जिनको वर्ग प्रतिनिधि के रूप में स्वीकार कर लेने पर, सम्पूर्ण समाज की स्थिति उभर कर सामने आ जाती है। भारतेन्दु के

---

१. भारतेन्दु ग्रंथावली, पृ० ८२।
२. भारतेन्दु ग्रन्थावली, पृ० ८६।

'चित्रगुप्त' श्री गङगीदास पुरोहित के पवित्र चरित्र का आख्यान इस प्रकार करते हैं :—

'महाराज, ये गुरु लोग हैं, इनके चरित्र कुछ न पूछिये, केवल दंभार्थ इनका तिलक-मुद्रा और केवल ठगने के अर्थ इनकी पूजा। कभी भक्ति से मूर्ति को दण्डवत् न किया होगा पर मंदिर में जो स्त्रियाँ आईं उनको सर्वदा तकते रहे। महाराज, इन्होंने अनेकों को कृतार्थ किया है। और समय तो मैं श्री रामचन्द्र जी का, श्री कृष्ण का दास हूँ पर जब स्त्री सामने आवे तो उससे कहेंगे मैं राम, तुम जानकी; मैं कृष्ण तुम गोपी। और स्त्रियाँ भी ऐसी मूर्ख कि फिर भी इन लोगों के पास जाती है। हा! महाराज, ऐसे पापी धर्म-वंचकों को आप किस नरक में भेजियेगा ?[१]

भारतेन्दु-युग के नाटककारों ने अनुवाद के माध्यम से या मौलिक लेखन के माध्यम से समाज की विकृतियों से मुक्ति की कामना की है। निश्चय ही उस समय का समाज अपनी आंतरिक अज्ञानता और अंध-विश्वास के कारण उन्नत सामाजिक मूल्यों से नीचे गिर गया था। दासता और धार्मिक कट्टरता के कारण केवल आत्म-रक्षा ही उसका लक्ष्य था। रूढ़ि और परम्परा को ही उसने अपना धर्म मान लिया था और ढोंगी काषायधारी उसके आदर्श थे। धर्म-भ्रष्टता से निबटने के लिए उसने बाल-विवाह जैसी मध्ययुगीन परम्परा को अपनी कुलीनता मान लिया था। सत्य उससे कोसों दूर था। कर्पूरमंजरी के अनुवाद में भरत-वाक्य में उद्देश्य स्पष्ट है :—

उन्नत चित ह्वै आर्य परस्पर प्रीति बढ़ावैं।
कपट-नेह तजि सहज-सत्य व्यौहार चलावैं॥

भारतेन्दु का मंतव्य स्पष्ट है 'आर्यों में यवनों के संसर्ग से जो दोष आ गये हैं वे मिट जाएँ और सभी आर्य-भाई भक्तिपथ का अनुसरण करें। उनका भक्त, वैष्णव-हृदय यवन-संसर्ग के कारण आर्यों का दुराचारमय जीवन देखकर विदीर्ण हो जाता है। अतएव वे बार-बार पाखंडियों के कलुषित जीवन और दुराचारी धर्माचार्यों के अपावन कृत्यों की ओर संकेत करते चलते हैं'।[२]

उन्नीसवीं शताब्दी भारतीय समाज के लिए संक्रमण का काल थी। शताब्दियों से चली आई विदेशी शासन-व्यवस्था में एक और परिवर्त्तन हुआ था।

१. वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति—भा० ग्रं०, पृ० ६०।
२. डा० दशरथ ओझा, हिन्दी नाटक, उद्भव और विकास, पृ० १६७।

भारतेन्दुयुगीन नाटक

अंग्रेज शासकों न छल, बल और व्यापारिक हथकण्डों से भारतवर्ष में अपना राज-काज आरम्भ किया था। कम्पनी सरकार और ब्रिटिश सरकार के मध्य एक विभाजक रेखा खींचकर, नई अंग्रेज सरकार कम्पनी की बुराइयों को शासन-व्यवस्था से दूर कर, अपना वर्चस्व जनमानस पर डालना चाह रही थी। दिग्भ्रमित भारतीय भौतिक चकाचौंध और दण्ड-विधान की कट्टरता से उत्पन्न तथाकथित शान्ति के कारण पाश्चात्य रीति-नीति की ओर आकर्षित हो रहे थे। अंग्रेजी शिक्षा के द्वारा वे पाश्चात्य समाज के निकट पहुँच रहे थे। अपने यहाँ की रूढ़ि-परम्परा और छुआछूत की अपेक्षा विदेशियो की 'स्वच्छन्दता उन्हें प्रभावित करने लगी थी। जनता की इस मनोवृत्ति का भारतेन्दुयुगीन नाटककारो ने अनुभव किया और सास्कृतिक विरासत के रूप में अपने पूर्वजो के आदर्शों को सामने रखकर हतोत्साहित भारतीय समाज मे सामाजिक परिष्कार, धार्मिक जागरण और राजनीतिक स्वाधीनता के आन्दोलन की भूमिका का निर्वाह किया। आर्य समाज ने हिन्दी क्षेत्र मे समाज के इस अंधविश्वास के विरुद्ध सुधार-आन्दोलन को प्रबलतर किया। दूसरी ओर पढे-लिखे वर्ग में सामाजिक रहन-सहन और शिक्षा-दीक्षा से अपने को शेष समाज से पृथक कर लेने की वृत्ति बलवती हुई।

प्राचीन संस्कृति के पोषक-समाज ने गोरक्षा के आन्दोलन के माध्यम से तर्कपूर्ण पद्धति अपना कर, सामाजिक सस्कारो को नवीन मार्ग दिखाया। यद्यपि आर्य समाज एक धार्मिक पुनरुत्थान की संस्था थी, तथापि उसने शिक्षा-दीक्षा, आचार-विचार और चिंतन-पद्धति के द्वारा सामाजिक जागरण को अपना मुख्य लक्ष्य बनाया। आलोच्यकालीन गोरक्षा विषयक नाटक इस बात के प्रमाण हैं। यहाँ पर यह तथ्य भी विचारणीय है कि इस युग के नाटककारों ने सामाजिक संकटों में सबसे अधिक नाटक विवाह की समस्या और गोरक्षा को लेकर ही लिखे।

सामाजिक समस्या के रूप मे विवाह की समस्या आलोच्यकाल मे एक ज्वलन्त समस्या थी। बाल-विवाह, अनमेल विवाह समाज के लिए अभिशाप थे। जीवन के किसी सन्दर्भ को समझे बिना केवल छोटे-छोटे लड़के-लडकियो का विवाह ही मानो समाज को बनाये रखने का साधन था, जिसका नाटककारो ने प्रहसन के द्वारा उपहास ही नही किया, किन्तु उसकी निस्सारता को भी प्रतिपादित किया। धन के लालच में पुरोहित अनमेल विवाह कराते हैं, यह तथ्य नाटको के द्वारा प्रकट किया गया। 'बाल-विवाह'[1] नाटक मे नौ वर्ष की कन्या एवं सात वर्ष के

१. नाटककार, श्री शरण।

बालक का विवाह माँ-बाप का अज्ञान तो प्रकट करता ही है, पुरोहित की स्वार्थ-भावना का भी भंडा-फोड करता है। दूसरे नाटक[1] मे इसी प्रकार छ वर्ष का बालक और चौदह वर्ष की बालिका के अनमेल विवाह के फलस्वरूप दुराचरण की प्रवृत्ति और समाज-विकृति का संकेत है। श्री राधाकृष्णदास के प्रसिद्ध नाटक 'दुखिनी-बाला' मे अल्पायु मे विवाह के फलस्वरूप वैधव्य के कष्टो का उल्लेख है। विधवा-विवाह के विरोधी रूढिवादी पुरोहित, किस प्रकार समाज पर छाई हुई इस अज्ञान दशा को बढ़ावा दे कर, नवोत्थान के मार्ग मे बाधक हैं, इसका संकेत उपर्युक्त नाटक में प्राप्त होता है। इसी प्रकार वृद्धावस्था में छोटी कन्या से विवाह,[2] अल्पायु मे विवाह के कारण बाल-विधवा का कष्ट[3] आदि स्थितियो की ओर लेखको ने प्रकाश डाला है।

विवाहो में अपव्यय की ओर भी भारतेन्दु-युगीन नाटककारो की दृष्टि गई है। दावतो में अपने मालिको को खुश करने के लिए किस प्रकार के आयोजन किये जाते थे। स्त्री हेय वस्तु थी, प्रदर्शन केवल अपनी स्थिति का ही होता था। वास्तव मे ये सामाजिक व्यवहार मूल रूप मे नारी-पुरुषो के असमान वय और अज्ञान के फलस्वरूप बड़े अटपटे मालूम पडते हैं। समाज में स्वतन्त्रचेता मार्गदर्शको के अभाव मे केवल रूढि और परम्परा ही प्रधान थी। पुरुष स्वतन्त्र और अपनी इच्छा से चलने वाला था। 'स्त्री और पुरुष समान हैं और एक रथ के दो पहिए हैं' वाला आदर्श केवल किताबी था। पुरुष परस्त्रीगामी, मद्यप और समाज मे प्रतिष्ठा का इच्छुक था। दूसरी ओर उसकी पत्नी इन सब दुर्गुणो के बाद भी उसे परमात्मा तुल्य मानती है। 'विवाहिता-विलाप'[4] मे यह एक सामाजिक चुनौती है कि जिनके पति परस्त्रीगामी हैं, उन्हे यह भी पता है कि उनकी स्त्री पति के रहते किस प्रकार दुःख भोगती है। दूसरी नायिका[5] पति से झगडा करती है और उसे इस कुमार्ग से दूर करा देने में सफल होती है। श्री बालकृष्ण भट्ट के प्रहसन 'जैसा काम वैसा परिणाम' मे वेश्यागामी को जो दुष्परिणाम झेलने पडते हैं उनको नाटक के माध्यम से प्रकट किया गया है। नारी का स्थान, मध्ययुग की परम्पराओं के फलस्वरूप,

---

१. दृष्टव्य : पं० देवदत्त मिश्र कृत नाटक 'बाल्य-विवाह'।
२. दृष्टव्य : कमला चरण कृत 'अद्भुत' नाटक।
३. दृष्टव्य : तोताराम कृत 'विवाह-विडम्बना'।
४. रचयिता श्री निद्धीलाल।
५ दृष्टव्य : 'मैं तुम्हारा हूँ' रचनाकार 'सतीशचन्द्र बोस' की नायिका 'कमला'।

आर्य ललनाओ जैसा नही रहा। वह सबसे हीन, दुर्बल और पति के अधीन रहने वाली सामान्या ही चित्रित की गयी है। शशिकला उपरोक्त नाटक के दूसरे अंक मे नारी की सामाजिक स्थिति का चित्रण इस प्रकार करती है :—

'हमारे नसीब में जो कुछ सुख बदा होता तो क्या मेहरारू का जन्म पाती, नारी के जनम समान घिघौना जनम किसी का न होयगा'।[1]

समाज के इस यथार्थवादी रूप को सबसे पहिले भारतेन्दु-युगीन नाटको मे ही देखा गया, जिसमे स्त्री की दयनीय स्थिति, पुरुषों के स्वेच्छाचार, विवाह की रूढियो का पालन और इसके माध्यम से पुरोहितों का स्वार्थ आदि सामाजिक दुर्गुणो का चित्रण किया गया है। नाटककारों ने इस बात पर बल दिया है कि इनका कारण मूल मे अशिक्षा और अंध विश्वास है। आर्य समाज के प्रभाव से विधवा-विवाह का एक सामाजिक मान्य-संस्कार के रूप मे ग्रहण करने का आभास भी कही मिलता है। लीक तोड कर चलना समाज और लोगो का काम नहीं है। भारतेन्दुयुगीन समाज इस दृष्टि से समाज-भीरु ही ठहरता है, जिसके मूल मे विवेकहीन स्थितियाँ और अज्ञान प्रमुख हैं। इस युग के नाटककारो ने समाज की इस महत्वपूर्ण राजनीति को प्रभावित करने की दृष्टि से दुहरे प्रयोग किये। एक ओर सामाजिक रूढियो के प्रति विद्रोह तो दूसरी ओर सुधारो का समर्थन।[2] ग्रामीणों मे अंध-विश्वास और रूढि-आग्रह की प्रधानता थी। आलोच्यकालीन नाटकों में समाज के सभी स्तरो का परिचय मिल जाता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटक 'अन्धेर नगरी' मे चने वाला, चूरन वाला भी है तो अन्य नाटककारो की कृतियो मे लम्पट, ढोंगी और चरित्र-विरत पात्र, आदर्श समाजसेवक आदि। समाज के सभी अगो का चित्रण इस बात का प्रतीक है कि आलोच्यकालीन नाटककारों ने समाज-संदर्भ में अपने परिवेश के अनुरूप कलम चलाई थी। समाज के आदर्शोन्मुख ढाँचे मे दुराचरण का उपहास और सदाचार की उच्चता को स्वीकार किया जाता है। लेखको ने इस दृष्टि से धर्म अथवा मत से ऊपर उठकर समाज का चित्रण किया है। श्री राधाचरण गोस्वामी के नाटक 'बूढे मुँह मुँहासे, लोग देखें तमासे' मे मुसलमान स्त्री मौला किसान की पत्नी छन्नों के सदाचार और लाल नारायणदास जैसे धनिक के दुराचरण को प्रकट कर, लेखक, मानवीय मूल्यो की प्रधानता को स्वीकार कर, सामाजिक जीवन में आस्था को प्रकट करता है। आलोच्यकालीन समाज धर्म-नीति का समाज

---

१. जैसा काम वैसा परिणाम (दृश्य २)—पं० बालकृष्ण भट्ट।

२ दृष्टव्य · पं० देवकीनन्दन त्रिपाठी कृत जय नारसिंह की।

नहीं रह गया था। लेखकों ने उसे धर्म-नीति के आधार पर चलाने का आग्रह कर, सुधारने का प्रयत्न किया। वास्तव में इन नाटको का स्तर समाज-सुधार का स्तर है और इसी सन्दर्भ मे तत्कालीन समाज की स्थिति का आभास मिल जाता है।

गोरक्षा पर लिखे गये नाटकों में एक ओर धार्मिक भावना का आग्रह और तर्क है तो दूसरी ओर कुछ नाटको में साम्प्रदायिक मनोवृत्ति से ऊपर उठकर एक सामान्य मानव-बोध का आग्रह। धर्म-निरपेक्षता के रूप में मुगल-सम्राट् अकबर के द्वारा गोरक्षा का समर्थन हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य का प्रतीक है।[१] साथ ही शासक की न्यायप्रियता को सर्वोपरि मानकर, महारानी विक्टोरिया की प्रशंसा, गोरक्षा के प्रति विश्वास और आस्था की भावना की दृष्टि से नाटकों[२] की रचना की गई। समाज-सन्दर्भ में गोरक्षा का प्रश्न आलोच्यकाल में महत्वपूर्ण प्रश्न था, जिसकी ओर नाटककारो ने समुचित समाधान देने की चेष्टा की। इन नाटको के द्वारा जन-मानस की भावना को लोकव्यापी रूप प्रदान किया गया।

जैसा कि ऊपर प्रकट किया गया है, आर्य समाज के प्रचार-प्रसार के साथ तत्कालीन समाज मे, सहज तर्कबुद्धि और मौलिक जागरण के आग्रह के फलस्वरूप, ऐसे नाटकों की रचना भी हुई जिसमें एक ओर अपने धर्म, मत का प्रचार[३] और दूसरी ओर समाज-विरोधी लम्पट और स्वार्थी व्यक्तियों का पर्दाफाश[४] किया गया। समाज में उल्लिखित मूर्ति-पूजा के विरोध मे भी नाटक-रचना की गई, यद्यपि आलोच्यकालीन समाज मध्य-युगीन धार्मिक भावना का प्रतिनिधि समाज था, और उसके लिए अपनी धार्मिक भावना ही प्रमुख थी, किन्तु इन नाटकों के अध्ययन से यह बात स्पष्ट होती है कि समाज के एक वर्ग मे चेतना का प्रादुर्भाव हो रहा था और चेतना के सन्देशवाहक भारतेन्दु-युग के ये नाटककार थे, जो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नेतृत्व में नये समाज की रचना में प्रवृत्त थे।

उर्दू, हिन्दी और अंग्रेजी के प्रश्न को लेकर भी कुछ नाटकों की रचना की गई। वास्तव मे भाषा हमारी अभिव्यक्ति का माध्यम होती है और कार्य-व्यापार मे उसके द्वारा समाज प्रगति करता है। आलोच्यकाल में सर्व सामान्य समाज की भाषा के प्रति आदर और राजकीय भाषा के प्रति केवल आवश्यकता के अनुसार

१. दृष्टव्य : काशी-निवासी पं० जगत नारायण कृत 'अकबर-गौरक्षा-न्याय'।
२. दृष्टव्य : मुन्नूलाल गुप्त कृत 'सुरभी-संताप'।
३. दृष्टव्य : रुद्रदत्त शर्मा कृत 'आर्य-मत-मार्तण्ड' नाटक।
४ दृष्टव्य , मन, मत गुसाईंजी के अपरग

अध्ययन की जिज्ञासा प्राप्त है। कुछ व्यक्ति अपनी भाषा को हेय समझकर दूसरो की भाषा को ग्रहण कर रहे थे, जिसकी निन्दा भी इन नाटकों का विषय है। भाषा जैसे प्रश्न को सामाजिको के विचारार्थ रख कर नाटककारों ने तत्कालीन प्रवृत्ति का परिचय दिया है।

अंग्रेजी शासक या ब्रिटिश शासन के सुदृढ होने के साथ ही, तत्कालीन भारतीय समाज मे अनेक समस्याओं का सूत्रपात हो गया था। शिक्षित समाज को कहीं काम नही मिल रहा था। सरकारी नौकरी की ओर उसकी दृष्टि थी। सेवा-वृत्ति के कारण वह अपनी प्रतिभा का विकास नहीं कर पा रहा था। इसके अतिरिक्त यूरोपीय लोगो को भारत-शासन मे उच्च पद पर नौकरी मिलना आसान था। इस वैषम्य के कारण शिक्षित युवको मे निराशा की भावना थी।[1] जिन व्यक्तियो को नौकरी मिल भी जाती थी, वह इतने अल्प वेतन पर कि उन्हे ग्लानि होती थी। अधिकारियों के अपने अधीनस्थ कर्मचारियो के प्रति व्यवहार को चित्रित कर 'अधम नौकरी' जैसी कहावत को चरितार्थ की वृत्ति नाटककारों मे व्याप्त थी, जिसमे एक ओर स्वकर्म, स्वभाषा और स्वकार्य की भावना प्रधान थी तो दूसरी ओर आलोच्यकालीन समाज का निदर्शन। विदेशी शासन की नई रीति-नीति मे कैसे भ्रष्टाचार पनप रहा था, इसका भी उल्लेख नाटकों में मिल जाता है। पं० बालकृष्ण भट्ट का नाटक 'रेल का विकट खेल' में घूस लेने वाले रेल-कर्मचारियों का चित्रण है। इसी प्रकार अन्य नाटको मे अनाचार, पुलिस के हथकण्डे, न्याय और घूस आदि समस्याओ को प्रस्तुत कर, तत्कालीन समाज की स्थिति को चित्रित किया गया है।[2] सरकारी दफ्तरो में उस समय चपरासियों के द्वारा रिश्वत के लिए एक शब्द प्रचलित था, जो उनका अधिकार था। वह शब्द था मामूली। 'मामूली' की माँग-पूर्ति बिना कोई काम संभव नहीं था।

राष्ट्रीय चेतना का स्वरूप।

भारतेन्दुयुगीन नाटको में राष्ट्रीय चेतना का स्वरूप जितने मुखर रूप में प्रकट हुआ है, उसे देखकर यह निष्कर्ष निकालना सहज ही है कि राष्ट्रीय आन्दोलन की भूमिका के रूप मे भारतेन्दु और उनके समकालीन नाटककारों के विचार-अपने मौलिक अधिकारों के प्रति आग्रह और स्वशासन का गौरव जैसी भावना — उनके

---

१. दृष्टव्य : काशीनाथ खत्री कृत 'ग्राम-पाठशाला' और 'निकृष्ट नौकरी' प्रहसन।
२. दृष्टव्य : गोपाल राय कृत नाटक 'देशदशा'।

राष्ट्रीय बोध के परिणाम-स्वरूप ही थी। यदि यह कहा जाये कि समाज-चेतना मे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के ही प्रभालोक से यह मण्डल प्रभावित है तो अनुचित न होगा। इतिहास के गौरवशाली पृष्ठों को नाटक का विषय बनाकर, राष्ट्रीय जागरण का सूत्रपात उन्होने ही किया। शुद्ध साहित्यिक व्यक्तित्व और वैष्णव मतावलम्बी भारतेन्दु भी राष्ट्रीय चेतना के उन्नायकों में से एक थे, जिन्होने अंग्रेजी राज्य के गुणों की प्रशंसा और उसके दुर्गुणों पर कस कर प्रहार किया है। तथापि यह बात स्पष्ट होना चाहिए कि राष्ट्रीय चेतना और राष्ट्रीय आन्दोलन एक ही बात नही है। राष्ट्रीय चेतना वह मूल स्थिति है जिसके बल पर कोई भी राष्ट्रीय आन्दोलन अग्रसर होता है। फिर जिस परिवार में भारतेन्दु का जन्म हुआ, वह अपने पूर्वजों के काल से ही एक राज-भक्त परिवार था। पिता, बाबू गोपालचन्द्र, सरकार के कृपापात्र और विश्वासपात्र दोनों ही थे।[1] सन् १८५७ के विद्रोह में बनारस की रेजीडेन्सी का बहुत-सा सामान भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पिता के पास सुरक्षित रखा गया था। यह तथ्य इस बात को प्रकट करता है कि किस प्रकार भाषा के माध्यम से साहित्य के सदर्भ द्वारा उस राष्ट्रीय चेतना का स्वरूप स्थिर किया गया होगा, जिसके परिणाम-स्वरूप हिन्दी भाषी क्षेत्र आगे चल कर स्वदेशी आन्दोलन और स्वराज्य का साधन बन सका। भारतेन्दु का जन्म और लालन-पालन जिस दरबारी सस्कृति मे हुआ था, उसमे राजभक्ति स्वाभाविक परिणाम थी, किन्तु राजभक्ति के साथ देश-दशा का चित्रण उनकी देशवत्सलता का प्रतीक है, जो राष्ट्रीय चेतना के रूप मे उनके नाटको में मिलता है। 'भारत-दुर्दशा' और 'अधेर नगरी' इन दो नाटकों मे भारतेन्दु ने देश की दयनीय दशा का वर्णन किया है। प्रकट है कि इन नाटकों की सूचना का उद्देश्य राष्ट्रीय चेतना और जन-जागरण है। देश की स्थिति को देखकर किस सहृदय व्यक्ति का हृदय द्रवित न होगा, यदि वास्तव में उसमे अपने देश के प्रति प्रेम है। प्रत्येक क्रांतिकारी की आत्मा अपने यथार्थ के प्रति अवसादपूर्ण और परिवर्तन का सदेश देती है। भारतेन्दु इस दृष्टि से जागरूक चेतना के प्रतिपक्षी हैं। अधानुकरण उनकी वृत्ति नही है। 'विषस्य विषमौषधम' नाटक में गायकवाड महाराज के राज्यच्युत होने की घटना के आधार पर शासन मे कुप्रबन्ध की भर्त्सना तथा ब्रिटिश शासन द्वारा इस कार्य के लिए बधाई को देखकर कुछ समीक्षकों ने भारतेन्दु की राष्ट्रीय भावना के प्रति आशका व्यक्त की है।[2]

---

१. द्रष्टव्य : डा० रामविलास शर्मा की पुस्तक, भारतेन्दु युग, पृ० ६।
२. द्रष्टव्य : भारतेन्दु नाटकावली, बाबू श्यामसुन्दरदास।

किन्तु समीक्षकों का यह मत स्वीकार नही किया जा सकता। लेखक ने स्वय इस तथ्य को स्वीकार किया है कि विष की औषधि विष ही है। देशी राजाओ के अत्याचारों और अनैतिक कार्यों रूपी विष के लिए अंग्रेजी राज्य जैसा विष ही औषधि है।[1] तत्कालीन राजनैतिक स्थिति की चर्चा एवं सरकार की स्थिति पर निम्नलिखित कथन दृष्टव्य है :—

'इनका राज गया तो क्या आश्चर्य है? यह बात कुछ आज ही थोडे हुई, सनातन से चली आई है। और, फिर, राजनीति की रक्षा भी तो इसी से होती है। पर सरकार, ऐसे ही, सारे भारतवर्ष की प्रजा का ध्यान नही रखती। रामपुर मे दुरन्त यवन हिन्दुओ को इतना दुःख देते हैं। पूजा नही करने देते, शख नही बजता, पर सरकार इस बात की पुकार नही सुनती।' (भा० ग्रं०, पृ० ३६०)

राज्य-प्रबन्ध की कुशलता और शोपण दोनो एक साथ नही चल सकते। अग्रेजो ने आर्थिक शोषण मे अपने को किसी से पीछे नही रखा।

'भारत-दुर्दशा' नाटक प्रतीकात्मक शैली का नाटक है। भारत के मानवीकरण के रूप मे उसका चित्र उसकी वास्तविक स्थिति का परिचायक है। 'फटे वस्त्र लपेटे हुए भारत, खुले अग वाली निर्लज्जता, लडकी के वेश मे आशा, आधा क्रिस्तानी और आधा मुसलमानी वेशधारी भारत-दुर्दैव, सत्यानाश फौजदार, रोग, आलस्य, मदिरा, अधकार आदि का मानवीकरण देश-दशा का ही वर्णन है। भारत-भाग्य कैसे उपहास का कारण है! अपने जीवन मे किसी भी आशा का अभाव पाकर भारत-भाग्य अपनी छाती मे कटार भोंक लेता है और इस प्रकार नाटक की परिणति दु:खान्त होती है। राष्ट्रीय जीवन के इस नैराश्यपूर्ण अन्त को समालोचकगण भारतोदय के विपरीत मानते है।[2] किन्तु अपनी वास्तविक स्थिति से परिचित हुए विना देश मे जागरण कैसे सम्भव हो सकता है? ये ही तो सब हमारे देश के प्रच्छन्न शत्रु हैं, बाहरी शत्रु इसी लिए हम पर हावी हैं कि हम आतरिक शत्रुओ को नही जानते।

---

१. दृष्टव्य : डा० दशरथ ओझा का मत—(भारतेन्दु) वे ऐसे दुराग्रही नहीं, जो स्वदेशाभिमान के जोश में अपनी दुर्बलताओ पर भी आवरण डाल दें। हाँ, अपने देश की साधारण दुर्बलताओं को छिपाना अनुचित तो नहीं है, किन्तु जहाँ वे हद से बढ़ जावे, वहाँ उनका उद्घाटन होना श्रेयस्कर ही होता है। हिन्दी नाटक, उद्भव और विकास, पृ० १६८।

२ भा० नाटक बली पृ० ६६।

इस नाटक में एक स्थल पर एक बंगाली पात्र ने उग्र राष्ट्रीयता की ओर भी संकेत किया है :—

'हमारा देश में भारत उद्धार नामक नाटक बना है। उसमें अंगरेजों को निकाल देने का जो उपाय लिखा, सोई हम लोग दुर्दैव के वास्ते काहे न अवलंबन करें। ओ लिखता पाँच जन बंगाली मिलके अंग्रेजों को निकाल देगा। उसमें एक तो पिशान लेकर स्वेज का नहर पाट देगा। दूसरा बाँस काट-काट कर पिचकारी नामक जल-यन्त्र-विशेष बनावेगा। तीसरा उस जल-यंत्र से अंग्रेजों की आँख में धूर और पानी डालेगा'।[1]

राष्ट्रीय चेतना का लक्ष्य है स्वतंत्रता अर्थात् पराधीनता से मुक्ति। उसके लिए जन-जागरण का साधन तभी सम्भव है जब जन वास्तविक रूप में अपनी स्थिति से परिचित हों। 'अंधेर नगरी' नाटक में तत्कालीन शासन-व्यवस्था पर तीव्र व्यंग किया गया है। 'टैक्स' लगाकर जनता का शोषण किया जाता है।

'चूरन हाकिम सब जो खाते, सब पर दूना टिकस लगाते।[2]
चूरन साहेब लोग जो खाता सारा हिन्द हजम कर जाता।'

अंधेर नगरी का अंतिम कथन दृष्टव्य है :—

गुरु—जहाँ न धर्म्म, न बुद्धि, नहिं नीति न सुजन-समाज।
ते ऐसहि आपुहि नसैं जैसे चौपट राज॥[3]

भारतेन्दु की राष्ट्रीय चेतना का स्वर प्रच्छन्न आदर्शवादी कहा जा सकता है। भाग्य के भरोसे बैठे रहने वाला समाज कैसे आदर्श राष्ट्र का निर्माण कर सकता है, उनके लिए नाटक का प्रयोग वैसा ही साधन है। उन्होंने अपने एक पात्र के मुख से कहलाया है—'सब लोग मिलकर, एक चित्त हो, विद्या की उन्नति करो, कला सीखो, जिससे वास्तविक कुछ उन्नति हो। क्रमशः सब कुछ हो जावेगा'।[4] अंग्रेजों के सम्पर्क में आकर, उनकी स्त्रियों की निर्भीकता देखकर ही मानो 'नीलदेवी' नाटक की सृष्टि की गई। समर्पण में लेखक ने लिखा है :—

'जिस भाँति अंग्रेजी स्त्रियाँ सावधान होती है, पढ़ी-लिखी होती हैं, घर का काम-काज सम्हालती है···उसी भाँति हमारी गृह-देवियाँ भी वर्तमान हीनावस्था का

---

१. भा० ग्रं०, पृ० ४८८।
२. भा० ग्रं०, पृ० ६६१।
३. भा० ग्रं०, पृ० ६७५।
४. भा० ग्रं०, पृ० ४८८।

उल्लंघन करके कुछ उन्नति प्राप्त करें।'[१]

प्रकट है कि समाज-सुधार और राष्ट्रीय चेतना, धर्मनीति और राजनीति भारतेन्दु की दृष्टि मे एक दूसरे की पूरक स्थितियाँ हैं। इसके लिए हमे अपने प्राचीन गौरवशाली इतिहास की ओर दृष्टि डालनी होगी। भारतेन्दु-युग मे ऐतिहासिक नाटको के द्वारा जनमानस के मनोबल को सुदृढ करने का सकल्प लेकर ही नाटककारो ने उसकी सृष्टि की है। 'महाराणा प्रतापसिंह', 'महारानी पद्मावती', 'अमरसिंह राठौर' आदि नाटक राष्ट्रीय जीवन के वीरदर्प के प्रतिनिधि नाटक हैं। इस संदर्भ मे डा० दशरथ ओझा का निम्नलिखित कथन विचारणीय है :—

'स्वतत्रता की वेदी पर परिवार सहित हँसते-हँसते बलिदान होनेवाला प्रताप, धीरता, वीरता, क्षमाशीलता और दृढता का मानो आदर्श देवता है। मत्री भामाशाह का, संचित धन द्वारा राष्ट्र-हित मे योग देनेवाला जीवन, धनी-मानी अधिकारियो को त्याग की प्रेरणा देता हुआ आदर्श मत्रित्व का रूप खडा कर देता है।[२]

प० बालकृष्ण भट्ट कृत 'वेणु-संहार' मे, (यद्यपि पौराणिक कथा पर उसकी रचना हुई है), लेखक ने उन्नीसवी शताब्दी की राजनीतिक स्थिति का चित्रण किया है। भले ही वह एक दोष हो, किन्तु राजनैतिक जीवन से नाटककार कितने प्रभावित थे, इसका यह एक उदाहरण माना जा सकता है।

भारतेन्दुयुगीन नाटककारो में तीन प्रकार के लेखक राष्ट्रीय चेतना के सदर्भ मे स्मरणीय हैं। एक वे जिन्होने स्थिति को समझा और समाजदशा और देशदशा वर्णन कर, राष्ट्रीय उत्थान की भूमिका प्रदान की। ऊपर उन्ही लेखको के सम्बन्ध मे विचार किया गया है। दूसरे प्रकार के लेखक वे है जिन्होने अग्रेजो की व्यवस्था और भौतिक उपलब्धि को देखकर उस राज्य की प्रशसा की; जिनमे 'रामलीला-विजय' के नाटककार वैद्य बलदेव प्रसाद, 'विज्ञान-बिभाकर' के नाटककार जानी बिहारीलाल, 'भारत-सौभाग्य' के रचयिता प० अबिकादत्त व्यास आदि हैं। वास्तव मे 'अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी' वाली युक्ति के लक्ष्यार्थ की ओर ध्यान न देकर, जिन्होने स्थिति चित्रण से संतोष किया, ऐसे नाटककारो ने अंग्रेजी शासन की अच्छाइयों को स्वीकार किया। इस स्वीकृति के बाद भी राष्ट्र की उन्नति

---

१. भा० ग्रं०, पृ० ५१६।
२ हिन्दी नाटक उद्भव और विकास, पृ० १६४।

और उसका जागरण ही उनका लक्ष्य रहा। नाटककारो ने उन देशी राजाओ की भर्त्सना की, जिन्होंने अपना राज्य खो दिया, किन्तु उन्हे प्रजा का कोई ध्यान ही न आया। श्री दामोदर सप्रे ने 'रामलीला' नाटक मे लिखा है—रियासती राजागण धीरे-धीरे अपना स्वत्व, राज्य भी कैसे मजे से खोकर चैन उड़ाते है।[1] अंग्रेजी राज्य में विद्यालय, अस्पताल, आदि खोले गये; नाटको मे उनके इस कार्य की प्रशसा की गई।

पं० अंबिकादत्त व्यास ने अंग्रेजी राज्य के लाभ गिना कर, महारानी विक्टोरिया की जय-जयकार करायी है। उसके लिए उनके पात्र मुसलमानो के राज्यकाल की अंग्रेजों के राज्यकाल से तुलना करते हैं और शासन की चतुराई की प्रशसा करते हैं। श्री व्यास जी, गदर के बाद तीस वर्षो तक कही कोई तलवार भी न उठा सका, इसे सुप्रबन्ध मानते है। वास्तव मे ऐसे नाटककारो में हम राष्ट्रीय चेतना का सम्बन्ध नही पाते, किन्तु आर्थिक शोषण के माध्यम से ऐसे ही कुछ नाटककारो ने अंग्रेजी राज्य की भर्त्सना भी की है।[2]

तीसरे प्रकार के नाटककार वे है जिन्होंने स्पष्टतया इस बात को स्वीकार किया है कि साहित्य-रचना के द्वारा ही वे राष्ट्रोद्धार और समाज की उन्नति कर सकते हैं। राधाचरण गोस्वामी ने 'अमरसिह राठौर' की भूमिका मे लिखा है—भारत मे जब कि प्रकृत स्वाधीनता और वीरता का वियोग हुए सैकड़ों वर्ष हो गये, तब पुस्तक, पत्रों के द्वारा ही हम स्वाधीनता, वीरता के लिए अश्रु विसर्जित करके कृतार्थ होंगे।

उपर्युक्त कथन से यह तथ्य निसृत होता है कि आलोच्यकाल के नाटककार देश की पराधीनता से दुखी थे और देश को स्वाधीन कराने मे, पुस्तक-पत्रो को माध्यम के रूप मे स्वीकार कर, उस कार्य में दत्तचित्त थे। इन लेखको का वर्ग भाषा, जाति और राष्ट्र के उन्नयन के लिए प्रयत्नशील था। इसलिए प्रसग-हीन स्थितियो मे भी देश सुधार के सम्बन्ध मे कथन, समाज की उन्नति का मार्ग और भाषा-प्रेम की अभिव्यक्ति सहज ही प्राप्त हो जाती है।

उपर्युक्त विवेचन के संदर्भ में भारतेन्दुयुगीन नाटको के अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है कि आलोच्यकाल मे स्वस्थ

---

१. रामलीला, पृ० ६८।

२. द्रष्टव्य केशवराय भट्ट कृत 'सज्जाद सम्बुल'।

राष्ट्रीयता की भावना के विकास के सूत्र मुखर होने लगे थे। साम्प्रदायिक विद्वेष से हटकर साम्प्रदायिक सद्भाव-वृत्ति ही रचनाओं मे सर्वत्र झलकती है। अपने व्यापक परिवेश के कारण और हिन्दी के देशव्यापी रूप के कारण हिन्दी क्षेत्र की राष्ट्रीय चेतना और समाज-सुधार की भावना क्षेत्रीय न होकर सम्पूर्ण देश का प्रतिनिधित्व करती है, यद्यपि सम्पूर्ण भारत का चित्र इन नाटको मे खोजना उपयुक्त न होगा। भावना की दृष्टि से प्राचीन भारतीय भाषाओ से अनुवाद एवं अन्य प्रातीय भाषाओ से अनुवाद इस बात का प्रतीक है कि आलोच्यकाल में एक सार्वजनीन राष्ट्रीयता का उदय हो रहा था, जिसके सूत्र धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक क्रिया-कलापो मे खोजे जा सकते हैं। प्रथम उत्थान-काल के नाटककारो का निकट सम्बंध बँगला के नाटककारों से था, किन्तु भारतेन्दु ने अपने नाटको मे समाज-सदर्भ और राष्ट्रीय चेतना को कला के माध्यम से ग्रहण कर, एक ऐसा मार्ग प्रशस्त किया जो अन्यत्र देखने में नही आता। प्रतिकूल परिस्थितियो मे भारतेन्दु और उनके सहयोगी प्रतिनिधि नाटककारो ने देश-भक्ति और समाज-सुधार को अपना लक्ष्य बनाकर एक ऐसा वातावरण तैयार किया जिसे देखकर आश्चर्य होना स्वाभाविक है।

आलोच्यकालीन नाटको में सुधार-आन्दोलन का अपना विशेष लक्ष्य स्पष्ट परिलक्षित होता है। बगाल के सुधार-आन्दोलन या गुजरात से चले सुधार-आन्दोलनों को अपने परिवेश मे ग्रहण कर, लेखको ने उन्ही समस्याओं को नाट्य विषय के अन्तर्गत चुना जो तत्कालीन आवश्यकता थी। इसे अनुकरण नही कहा जा सकता है। स्वदेश की समान समस्याओ मे एक से ही विचारो वाले व्यक्ति एक हेतु लेकर एक-सी रचनाएँ कर सकते हैं, किन्तु जिन विचारो को ग्रहण करने से समाज-हित होता है, उन्हे लेखको ने दूसरी भाषा से लेकर भी स्वीकार किया है। इसी प्रकार भारतेन्दुयुगीन नाटको का स्वर धार्मिक पृष्ठभूमि के कारण मुस्लिम अत्याचारो का विरोधी रहा है। मुस्लिम रीति-नीति की भी इन्होने भर्त्सना की है, किन्तु मुसलमान जाति के प्रति कही विद्वेष का भाव दृष्टिगत नही होता। वास्तव मे हमारी जातीय और राष्ट्रीय सस्कृति की यही उपलब्धि हमारी विशेषता है। तीव्रतम रूप मे चलने वाले धार्मिक और सामाजिक आन्दोलन, जिनमे आर्य समाज प्रमुख था, उसके प्रचार-प्रसार मे भी साम्प्रदायिक विद्वेष का कहीं कोई आभास नही मिलता। हिन्दी नाटककारो ने मुस्लिम पात्रो के प्रति भी उसी प्रकार की दृष्टि अपनाई है जो हिन्दू पात्रो के प्रति। एक आदर्श और सच्चरित्र व्यक्ति, स्त्री या

पुरुष, मुसलमान भी हो सकता है और हिन्दू भी। इसी प्रकार एक आक्रमणकारी हिन्दू, मुसलमान या ईसाई भी हो सकता है, जिसका वर्णन उन्होने दूसरे प्रकार से किया है। यह सम्भवतः उस व्यापक दृष्टि का परिणाम है, जो उदारचेता मनीषियों ने, अपने साहित्य के माध्यम से, उस काल मे प्रदान की थी। वास्तव मे आलोच्य-काल के नाटककार दुर्गुणों के विद्वेषी थे, जाति के नही। इस भावना के कारण आगे जब राष्ट्रीय आन्दोलनो का स्तर मुखर हुआ, तब इसी भाव की उद्घोषणा बाद के राजनेताओ ने की। भारतेन्दु-युग मे इस प्रकार राजनैतिक चेतना से युक्त राष्ट्रीयता के आन्दोलन नही मिलते। वास्तव मे वह युग सास्कृतिक मूल्यो के पुनरुत्थान का युग था और पराधीनता के कष्टों से दुखी भारतवासी उससे मुक्ति की कामना करने लगे थे। पहले तो पिछडी हुई भारतीय जाति के उत्थान का प्रश्न सर्वोपरि था, बाद मी वही राष्ट्रव्यापी आन्दोलन बन गया।

भारतेन्दुयुगीन नाटको मे समाज का सन्दर्भ सम्पूर्ण रूप मे प्राप्य है; वर्ग-भेद, अथवा किसी विशिष्ट सन्दर्भ मे नाटकों को नही देखा जा सकता। नाटको के स्वर मे कही कोई असमानता नही है। सामाजिक और राष्ट्रीय समस्याओ पर मध्यमवर्गीय भारतीय समाज की दृष्टि से ही विचार प्राप्त होते हैं। वास्तव मे अपने काल मे उनमे यथार्थ चित्रण हुआ है और केवल इतना ही नही, वे समस्याएँ सम्पूर्ण देश की समस्याएं है, उनके विषय प्रत्येक प्रांत में समान रूप से प्राप्त हैं। हिन्दी के नाटककारो ने उसे सर्वजनीन रूप में ही प्रस्तुत किया है, जो आलोच्यकालीन नाटको का इस दृष्टि से एक वैशिष्ट्य ही है। सभी नाटककार यद्यपि एक ही मानसिक स्तर के नही है, तथापि अपनी सीमाओ में उनके प्रयत्न एक समान उद्देश्य से सम्बद्ध है।

संक्षेप में समाज-सन्दर्भ और राष्ट्रीय चेतना की दृष्टि से उपर्युक्त विवेचन आलोच्यकालीन नाटको की वैचारिक पृष्ठभूमि को प्रस्तुत करने के लिये किया गया है। मूल रचनाओ में व्याप्त सहज और व्यापक दृष्टि, निखर आत्माभिव्यक्ति और उल्लासमय व्यग-विनोद वाले इन नाटककारो की रचनाएं इस दृष्टि से अत्यत सशक्त व उपयोगी हैं।

●●

अध्याय : आठ

आलोच्यकालीन अनूदित नाटक

भारतेन्दु-युग में मौलिक नाटकों के साथ-साथ अनूदित नाटको की रचना भी समानरूप मे होती रही, यद्यपि भाषा मे नाटकों के अनुवाद की परम्परा पूर्व से प्रचलित थी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपनी नाट्य-रचना का प्रारम्भ बँगला के 'विद्या-सुन्दर' नाटक के रूपान्तरण से किया। डा० दशरथ ओझा के मतानुसार हिन्दी भाषा मे अन्य भाषाओ के अनुवाद-रूप नाटक लिखने की प्रेरणा राजा लक्ष्मणसिंह मे प्रथमबार फलवती हुई। सवत् १९१८ वि० में राजा साहब ने खडी बोली में 'शकुतला नाटक' का प्रथम गद्यमय अनुवाद किया।[1] अनुवाद की प्रेरणा भाव विषयक साम्य और उद्देश्य-समानता के फलस्वरूप जन्मती है। आलोच्यकाल के अनुवादित नाटको मे संस्कृत से अनुवादित नाटकों की परम्परा के साथ बंगाली और अंग्रेजी नाटकों के अनुवाद भी प्राप्त हैं, जिनसे रुचि-वैशिष्ट्य का परिचय सहज ही प्राप्त हो जाता है। इनके अतिरिक्त एक अनूदित नाटक मराठी से तथा एक उर्दू से प्राप्त है।[2] प्रमुख रूप से आलोच्यकालीन अनूदित नाटकों को तीन उत्सो से प्राप्त माना जा सकता है—(१) संस्कृत मूल (२) बँगला मूल (३) अंग्रेजी मूल। हिन्दी नाटक के इस प्रथम उत्थान-काल मे यह सयोग अनायास नही माना जा सकता। अनुवाद के प्रति रुचि होने के बाद भी मौलिकता के प्रति आग्रह आलोच्यकालीन नाटको की एक विशेषता है। संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी नाट्य-विधाओ से, अल्प रूप मे ही क्यो न हो, परिचित होने के बाद भी इन नाटककारों

१ हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, पृ० २०४।

२ मराठी मवदेव कृत सुलोचना सती' (१८९३ ई० ।

की रचनाओं में अंधानुकरण की वृत्ति नहीं पाई जाती। फलतः कुछ नाटक मूल नाटक के अनुवाद है तो कुछ रूपान्तरित, जिनमे नाटककार ने अपनी कल्पना का भी उपयोग किया है। वास्तव मे भारतेन्दु-युग हिन्दी साहित्य में प्राचीन और नवीन के समन्वय का युग है। भारतेन्दु-पूर्व नाटककार केवल अनुवाद और संस्कृत नाट्य-परम्परा या लोकधर्मी नाट्य-परम्परा से परिचित थे तथा उसके माध्यम से नवीनता ले आना उनकी सीमा से परे था। आलोच्यकालीन नाटककार प्राचीन और नवीन का समन्वय कर नवीनता की सम्भावनाओं को विकसित करने का अवसर दे सके थे। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया मे हिन्दीतर भाषाओं के नाटको से अनुवाद-कार्य ने बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका प्रदान की है। संस्कृत तथा बँगला के नाटकों के माध्यम से अपने सस्कार और अपनी सस्कृति को ग्रहण कर, अंग्रेजी नाटक के माध्यम से परिवर्तित परिस्थितियो को हृदयगम कर, आलोच्यकालीन नाटककारों ने जिस नाट्य-शिल्प को जन्म दिया, वह अपने युग की एक समर्थ विद्या सिद्ध हुई।

उपर्युक्त सन्दर्भ मे आलोच्यकालीन अनूदित नाटको का सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :—

खड़ी-बोली-पूर्व अनूदित नाटक

भारतेन्दु-युग के पूर्व कतिपय सस्कृत के नाटको के अनुवाद भी मिलते है। ग्यारहवी शताब्दी की रचना कृष्ण मिश्र कृत 'प्रबोध-चन्द्रोदय'।[1] का एक अनुवाद १६४३ ई० मे महाराज जसवन्तसिंह ने किया। इसके पश्चात् इसी रचना का अन्य व्यक्तियों द्वारा भी अनुवाद किया गया। अनाथदास, (१६७० ई० के लगभग), सूरति मिश्र (लगभग १७४३ ई०), प्रभृति महानुभावो ने इसका अनुवाद किया है। सन् १६७० ई० में कालिदास कृत 'अभिज्ञान-शाकुतल" का एक अनुवाद "शकुतला नाटक" के नाम से नेवाज़ कवि ने किया। इसी प्रकार सोमनाथ ने "माधव-विनोद" नामक नाटक का अनुवाद किया।

पारसी रगमच के लिए अंग्रेजी और सस्कृत के नाटको का उर्दू-मिश्रित भाषा में अनुवाद भी नाटक-कम्पनियों द्वारा किया जाता था। इन अनुवादों मे कालिदास तथा शेक्सपियर के नाटको को भी लिया जाता था, किन्तु आज उनका विवरण प्राप्त नहीं है। इन अनुवादो का साहित्यिक दृष्टि से कोई महत्व सम्भवत. नही था। ऐसी स्थिति मे भारतेन्दु-युग के पूर्व हिन्दी नाट्य-साहित्य में अनुवाद की दृष्टि से सफल रचनाएँ प्राय: नही के बराबर थी। भारतेन्दु-युग के नाटककारों ने

१ द्रष्टव्य हिन्दी नाटकों का विकासात्मक , पृ० ४१।

हिन्दी मे अनुवादित नाट्य-साहित्य की ऐसी परम्परा प्रारम्भ की, जिनसे विचार और भाषा दोनो ही क्षेत्रों में अभाव की पूर्ति हो सकी तथा अनुवाद के वातायन से भारतीय नाट्य-साहित्य का एक सर्व-सामान्य रूप हिन्दी क्षेत्र के दर्शको के सम्मुख प्रस्तुत हो सका। यहाँ पर एक प्रश्न विचारणीय है। सस्कृत और अग्रेजी नाटको का अनुवाद एक ही रुचि के साथ किस प्रकार इस युग के नाटककार कर सके? सस्कृत नाट्य-साहित्य समृद्ध था किन्तु अग्रेजी भाषा के अध्ययन-अध्यापन और शासकीय संरक्षण के फलस्वरूप उसका अभिनय जिस तीव्रता से हो रहा था, उसके फलस्वरूप अग्रेजी नाटकों का अनुवाद भी उसी रूप में किया गया; यद्यपि दोनो ही भाषा के नाटको मे आदर्शवादी कथानक, सम्भ्रात नायक-नायिका, काव्यत्व और सौन्दर्य-बोध का आग्रह प्राप्त है। सस्कृत और अग्रेजी नाटको मे अतिमानवीय घटनाएँ और दैवी मनस्थितियो के चित्रण के प्रति आग्रह था, जो आलोच्यकालीन नाटककारो की मनोवृत्ति से मेल खाता था। सस्कृत के नाटकों के विदूषक तथा शैक्सपियर के नाटको के जेस्टर एक ही कोटि के पात्र हैं, जो हास्य-योजना मे सहयोगी होते थे। रुचि की एक समानता के फलस्वरूप रचनाकारो और दर्शको की मिलीजुली अभिव्यक्ति सस्कृत तथा अग्रेजी नाटको मे खोजी जा सकती थी। इसीलिए दोनों भाषाओं से अनुवाद किये गये। बँगला भाषा से अनुवाद का कारण तो स्वय भारतेन्दु ने अपने 'नाटक" नामक निबन्ध मे इस प्रकार किया है :—

"यद्यपि हिन्दी भाषा मे दस-बीस नाटक बन गये हैं, किन्तु हम यही कहेंगे कि अभी इस भाषा मे नाटको का बहुत ही अभाव है। आशा है कि काल की क्रमोन्नति के साथ ग्रंथ भी बनते जायेगें और अपनी संपत्तिशालिनी, ज्ञान-वृद्धा बड़ी बहिन बग भाषा के अक्षय रत्न-भाडागार की सहायता से हिन्दी भाषा बड़ी उन्नति करे।"[1]

वस्तुस्थिति यह है कि आधुनिक संदर्भो मे भारतवर्ष मे नाटकों का सर्व-प्रथम विकास बगाल मे हुआ है। बँगला भाषा मे सस्कृत के नाटकों का अनुवाद साहित्यिक शैली पर हो चुका था। साथ ही पाश्चात्य शैली की यथार्थवादी परम्परा मे भी विभिन्न नाटक रचे जा चुके थे। अंग्रेजी राज्य का विस्तार हिन्दी क्षेत्र में बगदेश के बाद ही हुआ है। फलत: बँगला भाषा के नाटकों का अनुवाद और उनका रूपान्तर नाट्य-साहित्य की समृद्धि के साधन के रूप में माना गया।

संस्कृत से अनुवादित नाटक

हिन्दी नाट्य-साहित्य को सम्पन्न करने की दृष्टि से भारतेन्दु-युग में अनेक

१. भा० ग्रं०, पृ० ७५४।

संस्कृत नाटकों के अनुवाद खड़ी बोली में किये गये। भारतेन्दु ने अपने पूर्ववर्ती नाटकों में राजा लक्ष्मणसिंह कृत शकुन्तला नाटक का उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है कि हिन्दी भाषा मे दूसरा ग्रंथ वास्तविक नाटककार राजा लक्ष्मणसिंह का शकुन्तला नाटक है। भाषा के माधुर्य आदि गुणो से यह नाटक उत्तम ग्रथों की गिनती में है।[१]

राजा लक्ष्मणसिंह ने सर्व प्रथम सन् १८६१ ई० मे "शकुतला" नाम से इस नाटक को हिन्दी गद्य में अनूदित किया तथा दो वर्ष बाद ही यह नाटक प्रकाशित हो गया। नाटक के द्वितीय प्रयास मे, जो सन् १८८६ ई० के लगभग हुआ, गद्य और पद्य दोनो का उपयोग किया गया। मूल नाटक के गद्य-भाग का अनुवाद गद्य में और पद्य-भाग का अनुवाद पद्य मे करने के सम्बन्ध मे राजा लक्ष्मणसिंह ने जो स्पष्टीकरण दिया है वह इस प्रकार है :—

"मेरे पहले अनुवाद मे एक विशेष न्यूनता रह गई थी कि मूल के श्लोको का आशय हिन्दी के छन्दों में नहीं, किन्तु साधारण वार्ता मे दे दिया गया था। अब मैंने अवकाश पाकर यह न्यूनता भी मिटा दी, अर्थात् मूल के प्रत्येक श्लोक का उल्था हिन्दी के दोहे, चौपाई, सवैया इत्यादि छन्दों में कर दिया है और प्रत्येक छन्द के नीचे उसकी टीका लिख दी है।"

सन् १९०८ ई० मे बाबू श्यामसुन्दरदास ने एक जीर्ण-शीर्ण प्रति के आधार पर "शकुन्तला" नाटक का सम्पादन किया है। अन्य कोई मूल रचना उपलब्ध नही है।

श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'शकुतला नाटक के हिन्दी अनुवाद के सम्बन्ध में लिखा है कि लंदन नगरस्थ श्रीयुत फ्रेडरिक पिनकाट साहब ने भी शकुतला का हिन्दी भाषा में अनुवाद दिया है, किन्तु श्री ब्रजरत्नदास का मत है कि यह अनुवाद नही है; वास्तव में टीका-टिप्पणी सहित राजा लक्ष्मणसिंह के अनुवाद का संस्करण है।[२]

राजा लक्ष्मणसिंह कृत अनुवाद को भाषा शुद्ध और सरस है। इसके पूर्व ऐसी भाषा का प्रयोग प्राप्त नहीं होता है। निश्चय ही यह मानने मे किसी को संकोच नहीं होना चाहिए कि राजा लक्ष्मणसिंह ही प्रथम ऐसे अनुवादक हैं जिनकी भाषा शुद्ध हिन्दी है।

१. भा० ग्रं०, पृ० ७५३।
२. द्रष्टव्य : भारतेन्दु ग्रंथावली, पृ० ५४।

'शकुंतला नाटक' नाम का एक और अनुवाद श्री विश्वनाथ दुबे (संबलपुर-निवासी) ने सन् १८८० ई० में किया। अनुवाद एक विशेष अवसर पर अभिनय के लिए किया था। इसके पात्र, नारी और विदूषक को छोडकर, खडी बोली का प्रयोग करते हैं तथा नारी और विदूषक ही केवल ब्रजभाषा का प्रयोग करते हैं। इस नाटक का पद्य-भाग भी ब्रजभाषा में है। अनुवाद की दृष्टि से नाटक में भाषात्मक त्रुटियाँ हैं। पात्रो के अनुरूप भाषा-प्रयोग के कारण, कहीं-कहीं गाली आदि का प्रयोग एवं फारसी भाषा का उपयोग भी पाया जाता है। अनूदित नाट्य-साहित्य के इतिहास में पुस्तक महत्व की है।

कालिदास कृत 'मालविकाग्निमित्र' तथा 'विक्रमोर्वशीय' नाटकों का अनुवाद क्रमशः लाला सीताराम बी० ए० (१८९८ ई०) तथा श्रीगदाधर मालवीय[1] द्वारा किया गया। लाला सीताराम ने छोटे-छोटे वाक्यो में सुन्दर अनुवाद किया है। बीच-बीच मे बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया है। 'मालविकाग्निमित्र' के अनुवाद के अतिरिक्त लाला सीताराम ने 'महावीर-चरित', 'उत्तररामचरित', 'मालती-माधव', 'मृच्छकटिक', 'नागानन्द' का मूल सस्कृत नाटकों से अनुवाद किया। लाला सीताराम के अनूदित नाटकों की चर्चा करने के पूर्व दो नाटकों का ऐतिहासिक महत्व की दृष्टि से उल्लेख अपेक्षित है, एक 'रत्नावली नाटिका' तथा दूसरा 'प्रबोध-चन्द्रोदय नाटक'।

भारतेन्दु-युग में 'रत्नावली नाटिका' के तीन अनुवाद हुए हैं। श्री देवदत्त तिवारी कृत रत्नावली नाटिका (सन् १८७७ ई०)। रामेश्वर भट्ट कृत 'रत्नावली नाटिका' (सन् १८९५ ई०) तथा श्री बालमुकुन्द गुप्त कृत 'रत्नावली नाटिका' (सन् १८९८ ई०)। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने जिस 'रत्नावली नाटिका' का अनुवाद किया था, श्री बालमुकुन्द गुप्त ने उसे पूर्ण किया। रत्नावली नाटिका के द्वितीय संस्करण की भूमिका मे श्री बालमुकुन्द गुप्त ने लिखा है कि भारतेन्दु जी ने 'रत्नावली नाटिका' के अनुवाद मे हाथ डाला था पर उसे पूरा नहीं किया। सन् १८९८ ई० के सितम्बर महीने मे मैंने स्वयं रत्नावली का हिन्दी अनुवाद करने का साहस किया। जल्दी में काम अच्छा न हो सका, फिर छपने में पुस्तक बहुत खराब हो गई। सन् १९०२ ई० मे इस पुस्तक को शुरू किया। पहले से बहुत परिवर्तन हो गया है। इसमें गद्य की जगह गद्य, पद्य की जगह पद्य की रचना की गई है।

---

१. रचनाकाल अज्ञात, ग्रंथ पर अनुवादक का नाम नहीं है, किन्तु पं० बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' के एक लेख के आधार पर यह कहा जा सकता है कि विक्रमोर्वशीय नाटक के अनुवादक श्री गदाधर मालवीय थे।

भारतेन्दु ने इसी प्रकार आरम्भ किया था।[१]

श्री हर्ष (६०६ ई० से ६४८ ई०) कृत मूल संस्कृत 'रत्नावली' नाटिका का हिन्दी अनुवाद भारतेन्दु ने भी किया था जो अपूर्ण रह गया। राजा लक्ष्मणसिंह से प्रेरणा पाकर ही सम्भवतः इस नाटिका के अनुवाद-कार्य को भारतेन्दु ने उठाया था। जो अंश उपलब्ध है वह बहुत थोड़ा है।

उपर्युक्त चारों अनुवादों में श्री बालमुकुन्द गुप्त का अनुवाद उत्तम कोटि का कहा जा सकता है। उन्होंने संशोधन करते समय भाषा की शुद्धता और उसकी गरिमा के अनुरूप शब्दावली का प्रयोग किया है।[२] ऐतिहासिक महत्व की दृष्टि से श्री देवदत्त तिवारी का अनुवाद भारतेन्दु-युग के प्रारंभ में अर्थात् १८७२ ई० में होने से अत्यधिक महत्व का है। श्री तिवारी के अनुवाद की यह एक प्रवृत्ति थी कि उन्होंने संस्कृत श्लोकों का अनुवाद न करते हुए उन्हें यथावत् ग्रहण कर लिया था। जितने पद्यों का अनुवाद उन्होंने किया था वह भी सामान्य कोटि का है।

भारतेन्दु द्वारा संस्कृत नाटकों के अनुवादों 'पाखंड-विडंबन', 'धनंजयविजय-व्यायोग,' 'मुद्राराक्षस', 'कर्पूर-मंजरी' पर अध्याय पाँच में ही विचार किया गया है। शेष अनुवादों पर यहाँ विचार करना उचित होगा। सुप्रसिद्ध संस्कृत प्रतीक-नाटक 'प्रबोध-चन्द्रोदय' के तीन अनवाद हुए हैं। पं० शीतलाप्रसाद ने १८७९ ई० में, अयोध्या प्रसाद चौधरी ने सन् १८८५ ई० में तथा श्री जानी बिहारीलाल ने 'विज्ञान-विभाकर' के नाम से १८७९ में इसके अनुवाद किए। श्री शीतला प्रसाद के अनुवाद के सम्बन्ध में कोई सामग्री प्राप्त नहीं है। अयोध्या प्रसाद चौधरी ने नाटक का अनुवाद अपनी सुविधा से केवल उन्हीं प्रसंगों का किया है, जिनको उन्होंने उपयुक्त समझा है। यह एक सामान्य रचना है तथा किशोर वय में रची प्रतीत होती है। श्री जानी बिहारीलाल कृत 'विज्ञान-विभाकर' रूपान्तरित रचना है, जिसमें तत्कालीन राज्य-व्यवस्था के सम्बन्ध में भी कथन प्राप्त हो जाता है। भाषा अनुवादोचित है।

भवभूति कृत 'उत्तर रामचरित' के तीन अनुवाद हिन्दी में हुए हैं। पं० देवदत्त तिवारी ने केवल गद्य में तथा पं० नन्दलाल विश्वनाथ दुबे और बाबू सीताराम ने गद्य और पद्य दोनों में इसके अनुवाद किये हैं। पं० देवदत्त तिवारी ने

---

१. श्री बालमुकुन्द गुप्त कृत रत्नावली नाटिका, द्वितीय संस्करण की भूमिका का सारांश।

२. पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने बाबू बालमुकुन्द गुप्त के रत्नावली अनुवाद पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि निश्चय आपका अनुवाद बहुत ही सरस है।

१८७१ ई० मे इसका अनुवाद किया था जो अब प्राप्त नही है। पं० नन्दलाल का अनुवाद सामान्य कोटि का है, जिसकी भाषा दोषपूर्ण एव शिथिल है। लाला सीताराम का अनुवाद एक सफल कृति है। गद्य की भाषा का अनुवाद खड़ी बोली गद्य मे तथा पद्य का अनुवाद ब्रजभाषा पद्य में हुआ है। ब्रजभाषा का प्रयोग सामान्य है।

लाला सीताराम ने भवभूति के अन्य नाटक 'महावीर-चरित' तथा 'मालती-माधव' का भी अनुवाद किया है। 'महावीर-चरित' भाषा की रचना १८८६ ई० मे की गई, जिसमे गद्य के साथ पद्य-भाषा का उपयोग भी किया गया है। अनुवाद के प्रकाशन का वर्ष १८९८ ई० है। रचना साधारण है एवं गद्य और पद्य भी, उनकी उक्त रचनाओ की अपेक्षा सामान्य स्तर का है। सम्भवत' यह उनका प्रारम्भिक अनुवाद था। सामान्य बोलचाल के शब्दो, यथा नीच, पाजी आदि का प्रयोग भी प्राय किया गया है।

लाला सीताराम ने 'मालती-माधव' का अनुवाद १८९८ ई० में किया, जिसका दूसरा संस्करण सन् १९१३ ई० में हुआ। भारतेन्दु-युग के अतिम वर्षो मे किए गये इस नाटक का अनुवाद पर्याप्त सुन्दर है। भाषा की प्रौढ़ता सर्वत्र दृष्टिगत होती है। 'मालती-माधव' के एक दूसरे अनुवाद का उल्लेख भी किया गया है।[१] आज वह रचना प्राप्त नही है।

राजा शूद्रक कृत 'मृच्छकटिक' नाटक के अनुवाद आलोच्यकाल में किये गये। पं० गदाधर ने "मृच्छकटिक नाटक" के नाम से सन् १८८० ई० में इसका अनुवाद किया। संस्कृत और प्राकृत के अनुवाद के साथ कही-कही मूल सस्कृत श्लोक भी लेखक ने यथावत् रखे हैं, किन्तु उनका भाषानुवाद भी साथ ही दे दिया है। अनुवाद की दृष्टि से नाटक पर्याप्त सुन्दर बन पडा है। भाषा स्तरानुकल है। लाला सीताराम ने "मृच्छकटिक, भाषा" के नाम से १८९८ ई० में इसका अनुवाद किया। अनुवाद में गद्य और पद्य दोनो का उपयोग किया गया है। भाषा की दृष्टि से यह रचना सरल कही जा सकती है। रचना सामान्य स्तर की है।

लाला सीताराम ने श्री हर्षदेव कृत "नागानन्द" नाटक का अनुवाद १८८८ ई० में किया। इसका द्वितीय सस्करण १९०० ई० में हुआ। इस नाटक की भाषा सरल, चलती हुई और नाटकोचित है। द्वितीय सस्करण की भूमिका में लाला सीताराम ने अंग्रेजी मे विस्तार से उसकी भाषा के महत्व के सम्बन्ध मे तथा अनुवाद के सम्बन्ध में टिप्पणी दी है।

---

१. द्रष्टव्य : हिन्दी नाटक साहित्य—डा० सोमनाथ गुप्त।

लाला सीताराम द्वारा हिन्दी भाषा मे नाटको के अनुवाद का कार्य एक महत्त्वपूर्ण कार्य है, इसे स्वीकार किया जाना चाहिए। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में लिखा है कि सस्कृत नाटको के अनुवाद के लिए राय बहादुर लाला सीताराम बी० ए० सदा आदर के साथ स्मरण किये जावेगे। भारतेन्दु की मृत्यु से दो वर्ष पहिले ही उन्होने सस्कृत काव्यों के अनुवाद में लगा लगाया।[१]

उपर्युक्त नाटको के अतिरिक्त अन्य नाटको के अनुवाद भी प्राप्त होते हैं।[२] किन्तु समग्र रूप मे जितना अनुवादित नाट्य-साहित्य सस्कृत नाटको से प्राप्त, है, उससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि हिन्दी साहित्य की वृद्धि में इन नाटको का योगदान स्मरणीय है। भारतेन्दु युगीन सस्कृत नाटकों के अनुवाद मे गद्य और पद्य दोनों का प्रयोग हुआ है। गद्य की दृष्टि से नाटको में प्रयुक्त गद्य सफल और खडी बोली हिन्दी का प्रतिनिधि रूप प्रस्तुत करता है, किन्तु पद्य के रूप मे नाटको मे जो सामग्री प्राप्त है वह उतनी सफल नही कही जा सकती। पद्य मे प्रायः ब्रजभाषा का उपयोग किया गया है। भारतेन्दु-युग का यह वैशिष्ट्य ही कहा जावेगा, जिसमे गद्य और पद्य की भाषा एक न होकर भिन्न-भिन्न रूपो मे प्रस्तुत हुई; यद्यपि इस कारण भी अनुवादो की सरसता में बाधा पडी है। संस्कृत से अनूदित नाटको मे भी भिन्न-भिन्न शैलियो का अनुसरण हुआ है, जिसका उद्देश्य नाट्य-साहित्य की अभिवृद्धि तो है ही, साथ ही पाश्चात्य नाट्य-शिल्प की तुलना में प्राचीन परम्परा और शैली का निर्देशन भी है। ये अनुवाद किसी उद्देश्य-पूर्ति के फलस्वरूप ही हुए है तथा इसी कारण इन नाटको की भाषा क्लिष्ट नही हो पाई है; यह कहा जावे तो अत्युक्ति न होगी। सस्कृत के नाटकों की भाषा संस्कृतनिष्ठ होना अस्वाभाविक नहीं है, किन्तु आलोच्यकाल मे भाषा के सहज और स्वाभाविक विकास की शक्ति के फलस्वरूप भाषा अस्वाभाविक नही हो पायी है।

ग्ला से अनुवादित नाटक

भारतेन्दु के प्रसिद्ध नाटक 'विद्या-सुन्दर' को कुछ विद्वान् बँगला नाटक का

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४६४।

२. दृष्टव्य : ज्वाला प्रसाद मिश्र कृत 'वेणी-संहार नाटक, हिन्दी नाटक उद्भव और विकास, पृ० २०४।
तांडव पंडित कृत 'राधा-माधव,' भारतेन्दु-युगीन हिन्दी नाट्य-साहित्य, पृ० २५२।

छायानुवाद[1] कहते हैं तो कुछ उसे अनुवाद[2]। इस विवाद मे न पड़ते हुए इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि भारतेन्दु ने बंग देश की प्रसिद्ध कथा की बंगाली शैली की अनुकृति पर, बँगला 'विद्या-सुन्दर' के पात्रों के अनुरूप ही अपने नाटक की रचना की। वैसे विद्यावती की मूल आख्यायिका का मूल सूत्र 'चौरपंचाशिका' है। भारतेन्दु ने 'विद्या-सुन्दर' की द्वितीय आवृत्ति के उपक्रम में लिखा है :—

'प्रसिद्ध कवि भरतचन्द्र राय ने इस उपाख्यान को बंग भाषा मे काव्य-स्वरूप में निर्माण किया है और उसकी कविता ऐसी उत्तम है कि बंग देश में आबाल, वृद्ध, वनिता सब उसको जानते हैं। महाराज यतीन्द्रमोहन ठाकुर ने उसी काव्य का अवलंबन करके जो 'विद्या-सुन्दर' नाटक बनाया था, उसी की छाया लेकर आज पन्द्रह बरस हुए यह हिन्दी भाषा में निर्मित्त हुआ है[3]।'

बँगला भाषा मे नाटकों की समृद्धि देख कर ही भारतेन्दु विद्या-सुन्दर के छायानुवाद के लिए प्रेरित हुए होंगे। इसके पश्चात् तो इस युग के अनेक लेखकों ने बंग साहित्य से प्रेरणा लेकर हिन्दी नाट्य-साहित्य की वृद्धि की। नवीन दृष्टि के धनी और युग-प्रवर्तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अनुवाद और रूपान्तर का श्रीगणेश कर, अपने युग के प्रतिभाशाली लेखकों के लिए मार्ग खोल दिया और इस प्रकार सन् १८६८ ई० से लेकर १९०० ई० तक लगभग अट्ठारह-बीस बँगला नाटकों का अनुवाद हिन्दी मे हुआ।

भारतेन्दु के पश्चात् इस सन्दर्भ में दूसरा नाम श्री रामगोपाल विद्यांत का आता है, जिन्होंने रामाभिषेक नाटक (१८७७ ई०) का अनुवाद किया। लखनऊ मे बँगला भाषा में यह नाटक अभिनीत हुआ था, किन्तु दर्शकों की समझ मे न आने के कारण संस्कृतनिष्ठ शब्दावली से पूर्ण हिन्दी भाषा मे इसका अनुवाद किया गया। अनुवाद मे भाषा-विषयक त्रुटियाँ होने के बाद भी यह एक सफल रचना है। परम्परा के अनुसार भाषा पात्रों के अनुकूल एवं सरस रखी गई है। इस अनुवाद की यह एक विशेषता है कि लोक-रुचि को ध्यान मे रखते हुए, इसमें

---

१. यह नाटक बंगला के 'विद्या-सुन्दर' का छायानुवाद है—डा० दशरथ ओझा हिन्दी नाटक उद्भव और विकास, पृ० १५३।
यह नाटक बंगला के 'विद्या-सुन्दर' का अनुवाद है—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४००।

२. द्रष्टव्य भारतेन्दु ग्रन्थावली—'विद्यासुन्दर' नाटक।

३. द्रष्टव्य : भारतेन्दु ग्रन्थावली, विद्यासुन्दर नाटक।

रामचरित-मानस के दोहे और चौपाई भी रखे गए हैं। "विश्रांत नाट्यशाला' मे इसका अभिनय भी किया गया था।

बँगला के सुप्रसिद्ध नाटककार, माईकेल मधुसूदन दत्त, के नाटको का हिन्दी भाषा में अनुवाद करनेवालों में पं० बालकृष्ण भट्ट, रामचरण शुक्ल, रामकृष्ण वर्मा के नाम उल्लेखनीय है। मधुसूदन दत्त कृत 'शर्मिष्ठा' (बँगला) नाटक के दो अनुवादों की सूचना मिलती है। पं० बालकृष्ण भट्ट ने १८८० ई० मे 'हिन्दी-प्रदीप' मे जिस नाटक को सम्पादित कर प्रकाशित किया था, उसके अनुवादक रामचरण शुक्ल हैं। फिर उसी वर्ष मे प्रकाशित पं० बालकृष्ण के अनुवाद की कोई प्रति प्राप्त नही है। प्राप्त नाटक की भाषा सरस और हिन्दी खड़ी बोली की प्रतिनिधि भाषा है। नाटक का अनुवाद संपूर्ण रूप मे प्राप्त नही है।

'एकेई की बोले सभ्यता' नामक एक अन्य नाटक का हिन्दी अनुवाद पं० व्रजनाथ ने 'क्या इसी को सभ्यता कहते हैं ?' के नाम से किया। माईकेल मधुसूदन दत्त का यह एक सामाजिक व्यंग है, जिसे सरल भाषा मे अनूदित कर आधुनिकतावादी लोगो पर एक प्रहार के रूप में स्वीकार किया गया है। मूल नाटक के अनुरूप ही इसमें भी एक गीत दिया गया है। इससे यह प्रकट होता है कि इस नाटक को अविकल रूप मे अनूदित किया गया है।

इन नाटको के अतिरिक्त मधुसूदन दत्त के 'पद्मावती' नाम के नाटक का बँगला से हिन्दी अनुवाद भी किया गया। पं० बालकृष्ण भट्ट ने १८७८ ई० मे इस नाटक का अनुवाद किया। अनुवाद की भाषा में संस्कृत तत्सम शब्दो का प्रयोग भी भट्ट जी के अनुवाद की विशेषता है, किन्तु इससे कही-कही अनुवाद कठिन हो गया है। वैसे सम्पूर्ण अनुवाद प्रवाहयुक्त है तथा अनुवादो में उस का विशेष स्थान है। 'पद्मावती' का दूसरा अनुवाद श्री रामकृष्ण वर्मा द्वारा सन् १८९८ ई० में किया गया। श्री रामकृष्ण वर्मा का अनुवाद तुलनात्मक दृष्टि से श्री भट्ट के अनुवाद की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है, जिसमें खडी बोली का सर्वमान्य प्रयोग हुआ है। भाषा मे कहीं-कहीं प्रौढ़ता भी प्राप्त होती है।

श्री रामकृष्ण वर्मा ने माईकेल मधुसूदन दत्त के नाटक 'कृष्णा कुमारी' का हिन्दी अनुवाद 'कृष्णा-कुमारी' के नाम से किया, जो १८९९ ई० मे प्रकाशित हुआ था। दोनो अनुवादों में 'कृष्णा-कुमारी' का अनुवाद 'पद्मावती' के अनुवाद जैसा नही है। वास्तव में करुण रस से पूर्ण नाटक के लिए जिस हृदयग्राही भाषा की आवश्यकता होती है- उसका इसमे अभाव है। श्री रामकृष्ण वर्मा ने 'वीर

नारी' नाटक का भी अनुवाद किया है, जिसमे मूल लेखक के नाम का उल्लेख नही है। नाटक का अनुवाद उत्तम कोटि का है।

श्री राधाचरण गोस्वामी ने 'भाथतेय रवन' नामक बँगला नाटक का अनुवाद 'भारत मे यवन लोग' नाम से सन् १८७९ ई० में किया था। श्री गोस्वामी ने अपने प्राक्कथन मे लिखा है कि बग भाषा के 'भारत माता' और 'भारते यवन' नामक दो नाटको मे से 'भारत माता' का अनुवाद 'भारत जननी' के नाम हुआ है। भारते-यवन का अनुवाद उन्होंने किया किन्तु मूल नाटककार का कही भी पता नही चलता है। अनुवाद में गद्य-पद्य दोनो ही शैलियो को अपनाया गया है। पात्रानुसार भाषा का प्रयोग प्राप्त होता है। यवन की भाषा मे उर्दू के शब्दों का बहुतायत से प्रयोग होना है, साथ ही हिन्दू पात्र शुद्ध हिन्दी का प्रयोग करते हैं।

श्री ज्योतीन्द्रनाथ ठाकुर कृत बँगला के 'सरोजिनी' नाटक का अनुवाद 'सरोजिनी वा चित्तौर-आक्रमण' के नाम से केशव प्रसाद मिश्र ने १८८१ ई० मे किया। इसी नाम से एक और अनुवाद प्राप्त हुआ है जिस पर केशवराम पंड्या का नाम है किन्तु मूल लेखक के नाम का उल्लेख नहीं है।[1] नाटक मे अभिनय की लोकप्रियता की दृष्टि से सरल और प्रचलित भाषा का उपयोग किया गया है। अन्य नाटककारों की भाँति इस अनुवाद मे भी भाषा पात्रो के अनुसार परिवर्तित होती रहती है।

बगाली के नाटक 'सती नाटक' 'अश्रुमती' तथा 'दीप-निर्वाण' नाटक के अनुवाद श्री उदित नारायण वर्मा ने आलोच्यकाल मे किये। 'सती-नाटक' (१८८९ ई०) के मूल बंगला नाटककार मनमोहन वसु के नाटक का अनुवाद गद्य और पद्य दोनो मे ही हुआ है। अनुवाद में गति नही है, भाषा में भी अनेक प्रयोग स्तरानुकूल नही कहे जा सकते। 'अश्रुमती' नाटक के मूल लेखक का कोई उल्लेख नही है। रचना सामान्य कोटि की है, यद्यपि भाषा-प्रयोग पात्रानुसार सरल और क्लिष्ट दोनों ही प्रकार का प्राप्त हो जाता है।

लाला काशीनाथ खत्री ने ईश्वरचन्द्र विद्यासागर कृत 'बाल विवाह विरोधी' सामाजिक नाटक के अनुवाद-रूप में 'बाल-विवाह-सताप' (१८८१ ई०)

---

१. द्रष्टव्य : डा० भानुदेव शुक्ल दोनों अनुवादों को एक ही मानते हैं तथा अनुवादक के नाम की अशुद्धि के कारण ऐसा हुआ बतलाते है। (भारतेन्दु-युगीन नाट्य-साहित्य, पृ० २६८) किन्तु अनुवादकों के नामों की भिन्नता को सामान्य भूल नहीं माना जा सकता।

नाटक की रचना की। यह अनुवाद अविकल रूप में नही किया। वैसे मूल नाटक इस संक्षिप्त रूपान्तरित नाटक से भिन्न कोटि का रहा होगा। भाषा-भाव आदि सभी दृष्टियो से नाटक एक सामान्य कोटि की रचना हैं।

इन नाटकों के अनुवादों के अतिरिक्त पं० शिवनन्दन त्रिपाठी द्वारा अनूदित लक्ष्मीनारायण चक्रवर्ती का नाटक "नव्वाब सिराजुद्दौला" (१८९६ ई०), "दादा ओ आमि" का अनुवाद "दादा और मैं" (१८९३ ई०) अनुवादक गोपालराय आदि नाटक सामान्य कोटि की रचनाएँ हैं। आलोच्यकाल मे देवनागरी में उर्दू अनुवाद के दो बंगाली नाटक पं० केशवराय भट्ट के भी प्राप्त हैं—ये नाटक हैं सज्जाद-सुंबुल (१८७७ ई०), शमशाद-सौसन, (१८८० ई०), जिनके मूल बगला नाटको के नाम क्रमशः 'शरत-सरोजिनी' और 'सुरेन्द्र विनोदिनी' हैं। मूल नाटको के नायक हिन्दु है किन्तु अनुवादित नाटको के नायक मुसलमान होने से, उर्दू भाषा मे ही प्राय. नाटको का अनुवाद हुआ है। उर्दू भाषा सरल और प्रभावशाली है।

भारतेन्दु-युग के पूर्व बँगला भाषा से हिन्दी में नाटको के अनुवाद का कोई उल्लेख प्राप्त नही है। वास्तव मे बगदेशीय नाटको के अनुवाद और रूपान्तर आदि का कार्य आलोच्यकालीन युग की विशेष देन है। इस काल मे अनेक नाटको के अनुवाद हुए, जिनकी भाषा सरल और हृदयग्राही होने के साथ-साथ एक सर्व-जनीन रूप का प्रतिनिधित्व भी करती है। अनुवाद में नाटककारों को केवल सफलता ही नही मिली, अपितु मूल कथा वस्तु में विकास कर, उसे मौलिक नाटको से भी श्रेष्ठ बनाने मे सफलता प्राप्त हुई है। इस दृष्टि से ब्रजनाथ के हिन्दी अनुवाद "क्या इसी को सभ्यता कहते हैं" की कथावस्तु दृष्टव्य है।

अंग्रेजी से अनूदित नाटक

अंग्रेजी भाषा के नाटको के अनुवाद एक ओर व्यावसायिक दृष्टि से किये गये तो दूसरी ओर साहित्यिक दृष्टि से भी। व्यावसायिक दृष्टि से किये गये अनुवादो का भाषा की दृष्टि से कोई महत्त्व नही है, क्योंकि आलोच्यकाल मे जिस पारसी रंगमच के लिए इनका अनुवाद किया गया, उससे हिन्दी के स्थान पर उर्दू-फारसी का प्रयोग तथा सस्ते मनोरंजन को प्रश्रय मिला। आगाहश्र जैसे प्रसिद्ध नाटककार ने 'मर्चेन्ट ऑफ़ वेनिस' का रूपान्तर 'दिल-फरोश' के नाम से १९०० ई० मे किया था, किन्तु इन नाटको को आलोच्यकालीन अनुवादित नाटको की कोटि मे नही रखा जा सकता। अंग्रेजी के पठन-पाठन और उसके प्रचार-प्रसार के फल-स्वरूप उसके साहित्य की ओर रुचि होना एक राजनैतिक स्थिति थी, तथापि हिन्दी

के नाटककारो ने अंग्रेजी भाषा के नाटको के जितने अनुवाद किए हैं, वे सब अपने साहित्य की वृद्धि की दृष्टि से ही किए हैं। संस्कृत नाट्य-शैली के प्रभाव की शिथिलता और पश्चिमी नाट्य-शैली के आकर्षण-स्वरूप, ये अंग्रेज़ी नाटक अपने पर्यावरण के अनुकूल कही रूपान्तरित होकर तो कहीं भारतीय नामों के साथ हमारे सामने आते हैं। हिन्दी नाटक के प्रथम उत्थान-काल में जिस उल्लास के साथ अंग्रेज़ी के नाटको का हिन्दी मे अनुवाद किया गया, उससे हिन्दी नाट्य-शिल्प के निर्माण मे भी पर्याप्त योगदान मिला है ।

अंग्रेजी नाटकों के अनुवाद का कार्य सर्व प्रथम किसने प्रारम्भ किया, यह प्रश्न यद्यपि विवाद का नही है, तथापि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा 'मर्चेन्ट ऑफ-वेनिस' का अनुवाद 'दुर्लभ बंधु' या 'वेशपुर का महाजन' के नाम से १८८० ई० मे किया गया, जब कि १८७६ ई० मे जोसेफ एडीसन के 'केटो' का अनुवाद श्री तोताराम वर्मा द्वारा किया जा चुका था। यह विवादास्पद है कि क्या भारतेन्दु ने 'दुर्लभ बंधु' को पूर्ण कर लिया था अथवा उनके अन्य सहयोगियों ने उसे पूर्ण किया[1]। भारतेन्दु के अनुवाद की विशेषता उसके चयन तथा पात्रो के भारतीय-करण के कारण है। साथ ही श्री तोताराम कृत 'केटो' के अनुवाद 'केटो वृत्तान्त' का महत्व उसकी स्वाधीनता के समर्थन के कारण है। शेक्सपियर जैसे नाटककार की कृतियो से हिन्दी नाटको में अनुवाद का प्रारम्भ तथा एडीसन जैसे कवियो से अनुवाद की प्रेरणा एक महत्वपूर्ण दिशा का संकेत है, किन्तु अनुवादो में शेक्सपियर के नाटको की ही प्रधनता रही है। संस्कृत नाटको के अनुवाद की अपेक्षा अंग्रेजी के नाटको का अनुवाद यद्यपि अंग्रेजी पढे-लिखे समाज के लिए अधिक सरल था, किन्तु महत्व की दृष्टि से हिन्दी नाटककारों ने दोनो के उपयोगी और समयानुकूल नाटकों का अनुवाद किया।

श्री तोताराम कृत 'केटो वृत्तान्त' नामक नाटक, जो एडीसन के 'केटो' नामक नाटक का अनुवाद है, आज उपलब्ध नही है। किन्तु इस संबध में प्राप्त समीक्षाओ के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह एक अविकल अनुवादित नाटक है, जिसमें खड़ी बोली के साथ ब्रजभाषा का छन्दो के लिए प्रयोग किया गया है।[2]

---

१. दृष्टव्य : भारतेन्दु-युगीन हिन्दी नाट्य-साहित्य : डा० भानुदेव शुक्ल पृ० २७३।

२. दृष्टव्य : डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय का मत, आधुनिक हिन्दी साहित्य।

श्री रत्नचंद वकील ने शेक्सपियर के 'कामेडी ऑफ एरर्स' का हिन्दी अनुवाद १८८२ ई० मे 'भ्रम-जालक" नाम से किया। वास्तव मे यह एक रूपान्तर है, अक्षरशः अनुवाद नही। अनुवादक ने वर्षों पूर्व इसका अनुवाद कर लिया था किन्तु इसका प्रकाशन बहुत बाद में हुआ। अनुवाद की भाषा सरल और बोलचाल की है। नाटक मे कतिपय उर्दू शब्दो तथा उर्दू शैरो का भी प्रयोग किया गया है। परम्परा के अनुसार मूल नाटक से पृथक कर उसको भारतीय नाटक बनाया गया है, जिसमें काल और स्थान का दोष कहीं-कहीं प्राप्त है। नाटक मे पर्याप्त गति है तथा कुछ बातों को यदि अधिक महत्व न दिया जावे तो नाटक हास्यरस के अनुकूल सिद्ध होता है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने शेक्सपियर के अत्यन्त लोकप्रिय नाटक 'मर्चेन्ट ऑफ वेनिस' का अनुवाद किया था, जैसा कि पूर्व मे लिखा गया है। इस परम्परा मे श्रीमती आर्या नामक महिला, जो जबलपुर-निवासिनी थीं, ने १८८८ ई० में 'वेनिस नगर का व्यापारी' नाम से एक अनुवाद किया। अनुवाद में यद्यपि गद्य और पद्य दोनो का ही उपयोग किया गया है, किन्तु अनुवाद अनेक स्थलो पर दोषपूर्ण है एवं भाषा भी कहीं-कही अनुवाद की दृष्टि से उपयुक्त नही है। डा० श्रीपति शर्मा ने श्रीमती आर्या के अनुवाद को सुन्दर कहा है। उन्होंने लिखा है कि उनका अनुवाद सुन्दर इसलिए कहा गया है, क्योंकि मूल नाटक के सौन्दर्य-ग्रहण मे ये अधिक सफल हुई हैं। इसका कारण यह था कि उनका अंग्रेज़ी सम्बंधी ज्ञान अच्छा था।[१] भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा श्रीमती आर्या के अनुवादों मे भाषा की दृष्टि से भारतेन्दु का अनुवाद श्रेष्ठ है, इसमे दो मत नही हो सकते हैं।

जयपुर दरबार के पुरोहित गोपीनाथ एम० ए० ने शेक्सपियर के कुछ नाटको का अनुवाद किया। इन नाटको मे 'ऐज यू लाइक इट' का 'मन-भावन' नाम से १८९६ ई० मे तथा 'रोमियो और जूलिएट' का अनुवाद 'प्रेम-लीला' के नाम से १८९७ ई० मे किया गया। मूल सौंदर्य को प्रकट करने के कारण नाटको का महत्व तो है किन्तु अनुवाद की भाषा सामान्य है। नाट्य-रचना की दृष्टि से अनुवाद पश्चिमी नाट्य-शैली को प्रकट करने में सफल हुए हैं।

शेक्सपियर के एक अन्य नाटक 'मैकबेथ' का हिन्दी रूपान्तर 'साहसेन्द्र-साहस' के नाम से सन् १८८६ ई० मे हुआ। इस नाटक के रूपान्तरकार श्री मथुरा प्रसाद उपाध्याय थे, जिन्होंने नाटक मे भारतीय वातावरण की सृष्टि करने की चेष्टा की। नाटक की भाषा संस्कृत तत्सम शब्दों से पूर्ण तथा बोझिल है।

१. हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव, पृ० ८८।

शेक्सपियर के नाटक 'जूलियस सीजर' का हिन्दी रूपान्तर 'स्वतंत्रता-सचार नाटक' श्री कालीचरण द्विवेदी द्वारा सन् १८७७ ई० के निकट किया गया। अनुवाद की भाषा सरल और साहित्यिक गरिमा से युक्त है तथा नाटक के मूल स्वरूप की रक्षा अनुवादक महोदय ने की है। यह एक सुन्दर कृति है।

अंग्रेजी नाटकों के अनुवाद सख्या मे बंगला तथा संस्कृत से कम हैं, यह स्पष्ट है। यहाँ पर कारण की मीमासा करना समीचीन नही है। नवीन नाट्य-शैली की दृष्टि से इतने अनुवाद भी कम महत्वपूर्ण नही कहे जा सकते, जिनके माध्यम से हिन्दी नाटक पाश्चात्य नाट्य-शैली के सम्पर्क में आए। इस अनुवाद-कार्य मे प्रमुख रूप से शेक्सपियर के नाटको को ही लेखकों ने अनूदित किया है। कारण स्पष्ट है। संस्कृत नाटको की साहित्यिक शैली के निकट शेक्सपियर के नाटक ही ठहरते थे। दूसरी बात यह हैं कि अंग्रेज जाति अपने इस नाटककार की रचनाओं को अत्यत महत्त्वपूर्ण और आदरणीय मानती थी। उनके अंग्रेजी अभिनय के लिए नाट्य-शालाएँ खोली गई एवं आंग्ल-मच पर इन नाटको का अभिनय भी किया गया। आलोच्यकाल मे भाषा और साहित्य की दृष्टि से सस्कृत नाटको की तुलना मे शेक्सपियर के नाटक ही अनुवादको को प्रभावित कर सके।

हिन्दी नाटको की दृष्टि से अंग्रेजी नाटको के ये अनुवाद भारतीय और पाश्चात्य नाट्य-शैली के समन्वय मे सहायक हुए हैं। इन नाटको के अविकल अनुवाद की अपेक्षा इनके रूपान्तर का ही अधिक आग्रह नाटककारो मे मिलता है। नाटक के पात्रो के नाम का भारतीयकरण और वातावरण-चित्रण मे उसे भारतीय स्वरूप प्रदान करने का कारण सम्भवतः जनमानस की रुचि ही हो सकती है, जो पाश्चात्य शब्दावली को उसी रूप मे ठीक से ग्रहण करने में समर्थ नही थी।

इन नाटको के अनुवाद के साथ ही बंगला नाटको के प्रभाव के फलस्वरूप दु:खान्त नाटको की रचना आलोच्यकाल मे हुई। बंगला पर अंग्रेजी नाटको का प्रभाव हिन्दी की अपेक्षा पहले ग्रहीत हुआ। फलत. बगला और अंग्रेजी के सयुक्त वातावरण के कारण पारम्परिक नाट्य-शैली मे नवीनता का समावेश हो सका। दु खान्त नाटक के स्वरूप और प्रवृत्तियो की स्थापना सबसे पहिले इन्ही नाटको के माध्यम से हुई थी, साथ ही यूरोपीय नाट्य-शैली के अनुकरण पर 'ऑपेरा' तथा 'ओपेरेटा' नाटक भी हिन्दी में रचे गये। भारतेन्दु ने गीत-नाटक या ऑपेरा के संबंध मे अपने निबन्ध में उल्लेख किया है तथा इटली के बहुत से ऑपेरा लेखको की रचनाओं के नाम भी दिये हैं

भारतेन्दु-युग का यह अनुवादित साहित्य, जो नाटकों के रूप में आलोच्ययुग को प्राप्त है, अपने आप में एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। इन नाटकों का अनुवाद प्रायः मौलिक लेखकों द्वारा किया गया। फलत वस्तु और शिल्प दोनों ही दृष्टियों से इन अनूदित नाटकों ने हिन्दी के नाट्य-भडार को समृद्ध किया। हिन्दी गद्य के प्रथम उत्थानकाल में जब कि भाषा में ब्रज और स्थानीय रंग का प्रभाव अधिक था, नाटकों का गद्य कुछ अंशो में एक मानक हिन्दी को स्थापित करने में सहयोगी हुआ है। इन अनुवादों मे मूल के अविकल रूप को सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति प्राय न के बराबर है। इन अनुवादकों ने प्राय. इन नाटको का रूपान्तर किया है, उन्हे अपने वातावरण के अनुकूल बनाने मे कथानक, घटना और शिल्प को सहयोगी रूप में ग्रहण कर, अपनी ही नाट्य-शैली को विकसित करने की चेष्टा की है; यद्यपि कहीं-कहीं इस कार्य में उन्हे सफलता नही मिल पाई है। अनुवादको मे कुशल अनुवादक प्रायः कम हैं, जिन्होंने संस्कृत, अंग्रेजी या बंगला से नाटक के मौलिक रूप की रक्षा करते हुए उन्हे प्रस्तुत किया हो। अनूदित और रूपान्तरित नाटको का, अपनी सीमा और शक्ति के अनुरूप, आलोच्यकाल के नाट्य-साहित्य की समृद्धि में महत्वपूर्ण योगदान है, यह निर्विवाद है।

●●

अध्याय : नौ

हिन्दी रंगमंच का उद्भव ।

भारतेन्दु-पूर्व रंगमंच

भारतेन्दु-युग के पूर्व हिन्दी के रंगमंच का कौन सा स्वरूप था तथा लोक-प्रचलित किस शैली को हिन्दी नाटकों ने ग्रहण कर अपने नाटको को मचस्थ करने का आग्रह किया, यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। हिन्दी भाषा की प्रकृति जिस मूल सस्कृत भाषा से विकसित हुई, उसके व्यक्त रूप भी उसने यथा अवसर ग्रहण किए, किन्तु युग की लोक-सामान्य प्रवृत्तियों को हृदयगम करते हुए हिन्दी तथा उसकी साहित्य-विधाओं ने समन्वय की वृत्ति को विकसित किया है, इसमे दो मत नही हो सकते है। भारतीय रगमंच साहित्यिक दृष्टि से एवं लोक-विधा की दृष्टि से संसार का प्राचीनतम मंच है। अपने मूल में लोक-मंच और साहित्य-मन्च का ऐसा समन्वय अन्यत्र दृष्टिगत नही होता। कालान्तर में संस्कृत का साहित्यिक मन्च लोक-मन्च से पृथक होकर सामाजिको और श्रेष्ठियों तथा समासदो की वस्तु रह गया और लोकमंच सुदूर ग्रामों में पहुँच कर अपनी ही तरह विकसित हुआ। हिन्दी के आविर्भाव के साथ फिर से एक बार साहित्य और लोक का यह समन्वय वास्तव मे रगमचीय इतिहास का रोचक प्रसग है, जिस पर विचार करने से आलोच्यकाल की नाट्य-विषयक धारणाओं को समझने में सहायता होगी।

संस्कृत का नाट्य-मंच

सस्कृत के आचार्यों ने नाटक उस साहित्य विधा को माना है 'जिसमे कोमल तथा ललित पद और अर्थ हो, गूढ़ शब्दार्थ न हों, जो विद्वानो को सुख देने योग्य हो जिसे बुद्धिमान खेल सकें- जिसमे अनेक रसो के प्रदर्शन के लिए अवकाश हो तात्पर्य यह है कि कोई भी रचना कथा और सवादो के बाद भी तभी नाटक

अभिनेता द्वारा जिस माध्यम को अपनाया जाता है, उसके स्थूल और सूक्ष्म उपकरणों का नाम सामान्यतया रंगमंच या नाट्य-मंच है। रंगमंच पर सामाजिकों के सामने प्रस्तुत अभिनय रस-निष्पत्ति के बिना अपनी पूर्णता सिद्ध नहीं कर सकता है। कुछ व्यक्तियों का यह विश्वास है कि नाटक वह है जो नटसिद्ध हो, अर्थात् वह चाहे जैसे अभिनेताओं को दिया जावे, वह सफल ही होगा; किन्तु ऐसा सम्भव नहीं होता है। इस दृष्टि से रंगमंच की कला का प्रमुख सृष्टा अभिनेता ठहरेगा, किन्तु नाटक की रचना जिस साहित्य-विधा के अन्तर्गत सृजन का स्वरूप धारण करती है उसके मूल में नाटककार होता है। नाटककार और उसके नाटक का अभिनय इन दोनों का तादात्म्य ही नाट्य-मंच की सफलता है।

संस्कृत नाटकों की प्राचीनता सर्वविदित है। भारतीय नाट्यशास्त्र के सिद्धान्तों को लेखबद्ध करने के पूर्व भी नाटक एक समृद्ध विधा के रूप में मान्य रहा होगा, उसी के साथ ही संस्कृत नाट्य-मंच भी विकसित हुआ होगा। भरतमुनि (अनुमान ईसवी सन् ३००) ने अपने नाट्यशास्त्र में नाटक और उसके मंच के स्वरूप का अत्यन्त विशद् वर्णन किया है। नाटक और उसके मंच के शास्त्रीय रूप के पूर्व भी ऐसे उल्लेख प्राप्त हैं जिनसे भारत में नाट्य-मंच की प्राचीनता स्वयं सिद्ध है। यदि यह कहा जा सके तो अत्युक्ति न होगी कि लोक-नाट्य या साहित्यिक नाट्य-मंच की परम्परा भारतवर्ष में कभी लुप्त नहीं हुई, भले ही आज उसके सूत्र इतने असम्बद्ध हैं कि उनको ठीक से संयोजित करना कठिन है। वेदों के पूर्व तथा वैदिक काल में लोक-मंच का कोई स्वरूप रहा होगा, जिसे प्राचीन आख्यानों से प्रमाणित किया जा सकता है।[1] आदिकवि वाल्मीकि ने अयोध्या को गणिकाओं तथा नाटक-मण्डलियों से युक्त कहा है तथा राम के अभिषेक के समय नटों, नर्तकों और गायकों द्वारा जनता के मनोरंजन का उल्लेख है। वज्रनाभ के वध और प्रद्युम्न-विवाह के प्रकरण में[2] नाटक-प्रयोग के सम्बन्ध में जो विवरण मिलता है वह इस प्रकार है—'श्री कृष्ण ने अपनी माया से भद्र नामक नट उत्पन्न किया। उसके साथ भीमवंश के यादवों को नट बनाकर वज्रनाभ को वज्रपुर भेजा। वज्रपुर में प्रद्युम्न नायक बने, साम्ब विदूषक बने, अन्य यादव नटी बनकर 'रामायण' नाटक खेलने लगे। नटों ने इस अवसर पर ऐसा सुन्दर अभिनय किया जिससे दानव-समाज विस्मय विमुग्ध रह गया। उस नाटक की प्रशंसा सुनकर वज्रनाभ

१. द्रष्टव्य : भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच—पं० सीताराम चतुर्वेदी, पृ० ७।

२. द्रष्टव्य [illegible] पर्व। इक्यानवे से सत्तानवे अध्याय तक

ने उन्हें अपने यहाँ नाटक खेलने को आमंत्रित किया, जहाँ उन्होंने 'कौबेर-रम्भाभिसार' नाटक खेला।

संस्कृत व्याकरणाचार्य पाणिनि (ईसा पूर्व ६०० वर्ष) ने शिलाली और कृशाश्व के नट-सूत्रों का नाम लिया है, किन्तु उन सूत्रों का कोई उल्लेख नहीं मिलता। इस सूचना से एक तथ्य प्रमाणित होता है कि उस काल में नाटकों के अभिनय होते थे। वात्स्यायन के काम-सूत्र में एक प्रसंग इस प्रकार है :—पखवाड़े या महीने के निश्चित या प्रसिद्ध वर्ष के दिन से सरस्वती के मन्दिर में राजा की ओर से नियुक्त नटों के द्वारा नाटक या उत्सव हुआ करें।[1] इसी ग्रन्थ में बाहर से आने वाले नटों के सम्बन्ध में व्यवस्था दी गई है। उसके अनुसार पहिले नट नागरों को अपना नाटक दिखावें और जो कुछ ठहराव हुआ हो उसके दूसरे दिन ले लें। यदि फिर भी लोग देखना चाहें तो व्यवस्था के साथ उनका खेल देखें। अन्यथा उन्हें बिदा कर दें। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में दूसरे देश से आने वाली नट-मंडली के लिए प्रत्येक खेल दिखाने का पांच पण कर राजा को देने का उल्लेख है। 'अभिनय-कला को सिखाने की व्यवस्था राजा को करनी चाहिए तथा उसका व्यय राज-मण्डल की आय से किया जाना चाहिए।'

यह स्पष्ट है कि ईसा की तीसरी शताब्दी पूर्व नाट्य-विद्या को भारतवर्ष में राज्याश्रय प्राप्त था। उसके अध्ययन-अध्यापन के साथ प्रयोगों के व्यापक रूप में अभिनय राजा और प्रजा दोनों के द्वारा ही प्रशंसनीय माने जाते थे, यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि उस समय तक पक्की रंगशालाएँ बन चुकी थीं अथवा नहीं। यह कहा जा सकता है कि नट-सूत्रों में तत्कालीन रंगशालाओं के स्वरूप आदि का उल्लेख था यद्यपि आज उसका अनुमान भी आश्चर्यचकित कर देता है।

संस्कृत के साथ पालि, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं में भी भारतीय नाट्य-मंच के उल्लेख इसकी प्राचीनता को प्रमाणित करते हैं। जैन-ग्रन्थों में एक कथा इस प्रकार आई है :—जब भगवान महावीर आमलकप्पा नगरी के अम्ब-साल वन में अशोक वृक्ष के नीचे बड़ी-सी काली शिला पर आकर बैठे, उस समय सूर्योपदेव ने वहाँ आकर, गा-बजा और नाच कर, पहिले वन्दना की और फिर बत्तीस प्रकार के अभिनयात्मक नाटक खेले, जिनमें सागर की तरंग, चन्द्रोदय, सूर्योदय, हाथी की गति और लिपि आदि के अभिनय भी थे।[2] उक्त कथा के आधार पर

१. कामसूत्र, नागर कुल प्रकरण, 'छठा निबन्धन'।
२. रायपसेणीय सुत्त।

यह कहा जा सकता है कि जैन मत में महापुरुषों के समक्ष अभिनय आदि द्वारा आदर प्रदान करने की परपरा थी। आचार्यों द्वारा साधुओं को नट और नटियों के नाटक देखने का निषेध इस बात का प्रमाण है कि ईसा-पूर्व चौथी शताब्दी मे नट और नटियों की अलग-अलग मंडलियाँ थीं।

जैन समाज के समान ही बौद्धों मे नाटक के लिए सम्मान था। बुद्धदेव के सामने "सौगन्धिका-हरण" नामक रूपक-अभिनय उनके शिष्य मौदगलायन और उपतिष्य ने किया था, ऐसा जातक कथाओं में उल्लेख है। "ललितविस्तार", 'अवदान-जातक', "सद्धर्म पुडरीक" ग्रंथों में नाटकों के अभिनय का उल्लेख मिलता है।

इसके पश्चात् महाकवि भास के नाटको से नाट्य-रचना और उनके प्रयोगों की लिखित परम्परा प्राप्त हो जाती है। महाभाष्यकार पतँजलि ने कंस-वध और बलि-वध नाटकों के प्रयोगों का उल्लेख किया है।

नाट्य-मंचों के निर्माण के सम्बन्ध में भारतीय ग्रंथों मे उल्लेख है तथा यह भी लिखा हुआ है कि नगर के मध्य नाट्य-शालाओं को नही बनाना चाहिए, क्योंकि इससे काम करने वाले लोगों को बाधा पड़ती है। इसीलिए हमारे यहाँ प्राचीनकाल में अभिनय-कला का चरम विकास मिलने के बाद भी, नाट्य-गृहो के सूक्ष्म वर्णन मिलने के बाद भी, नाट्यशालाओं के उल्लेख कम हैं। मध्यप्रदेश के सुरगुजा जिले में दो नाट्यशालाओं का उल्लेख विद्वानों ने किया है। वे हैं—सीता-बेंगा और जोगीमारा गुफाओ में बनी नृत्यशालाएँ। इस सम्बन्ध में पं० सीताराम चतुर्वेदी का मत है[1] कि "ये नृत्यशालाएँ वास्तव में नाट्यशालाएँ न होकर विलासियों के शिलावेश्म हैं। इस प्रकार के शिलावेश्म केवल नृत्य-गीत और विलास के केन्द्र थे। ये शिलावेश्म नाट्य-गृह नहीं थे, क्योंकि पक्की नाट्य-शाला बनाने की हमारे यहाँ पद्धति ही नही थी। राज्य की ओर से पक्की नाट्य-शालाएँ बनाने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था।"

संस्कृत-नाट्य-साहित्य और उसके प्रयोगों का चरम विकास कालिदास के समय में हुआ, ऐसा विद्वानों का मत है। कालान्तर में रंगशालाओ के निर्माण का उल्लेख भी मिलता है। ये रगशालाएँ दो प्रकार की होती थी। एक रगशाला स्थायी, जो राजप्रासाद के भीतर बनाई जाती थी और दूसरी अस्थायी जो सामाजिकों की सुविधा से एक स्थान से दूसरे स्थान पर हटाकर बनाई जा सकती

---

१. भारतीय तथा रगमंच पृ० १०।

थी। प्राचीन काल में नाट्यगृह या प्रेक्षा-गृहों के वर्णन के अनुसार सबसे बड़ी रंगशाला एकसौ नौ हाथ लम्बी थी, मध्यम चौसठ हाथ लम्बी, तथा छोटी त्रिभुजाकार होती थी, जिसकी प्रत्येक भुजा बत्तीस हाथ होती थी। रंगशाला के दो भाग होते थे। एक भाग अभिनय कर्त्ताओं के लिए तथा दूसरा भाग प्रेक्षकों के लिए निर्धारित रहता था, अभिनय स्थल को रंगभूमि कहा जाता था।

संस्कृत नाटकों की रचना और उनके अभिनय का युग ईसा की दसवीं शताब्दी तक चला, किन्तु ग्यारहवीं शताब्दी के बाद उसमें एक ऐसा गतिरोध उत्पन्न हुआ, जिससे बाद में संस्कृत नाटक में नई प्रतिभाएँ जन्म न ले सकीं। इसके दो प्रमुख कारण हो सकते हैं। पहला कारण तो यह था कि संस्कृत नाटक उसके प्रसिद्ध पूर्ववर्ती नाटककारों के अनुकरण-मात्र रह गये थे और दूसरा कारण यह था कि उसी समय इस देश पर मुसलमानों का आक्रमण हुआ, जिसमें नाट्यकला, जो इस बीच प्रधान रूप से राज्याश्रय-प्राप्त थी, के लिए उस संघर्षशील युग में कोई स्थान न रह गया। मुसलमानों ने भारतीय मंदिरों और प्रेक्षागृहों को नष्टभ्रष्ट कर दिया।[१] कुछ विद्वानों का ऐसा मत है कि यदि इस देश में मुसलमानों का आक्रमण न भी हुआ होता तो भी संस्कृत नाटकों का उद्यान पुन पल्लवित न होता, क्योंकि प्रकृति के नियमानुसार भाषा के प्रचार और प्रसार में परिवर्तन होना अनिवार्य है। संस्कृत बोलचाल की भाषा न रहने से जनता के दिलों से क्रमशः दूर होती चली जा रही थी। राजशेखर के समय तक इसके एकाधिपत्य राज्य का बँटवारा हो चुका था। प्राकृत, अपभ्रंश के नाटककार राज-दरबारों में सम्मान के अधिकारी बनते जा रहे थे।[२] कारण कुछ भी हो, किन्तु संस्कृत का समुन्नत रंगमंच, जो एक समय नाटकों के प्रयोग की दृष्टि से विकसित था, केवल पुस्तकों के उल्लेख-मात्र में ही सीमित रह गया। वास्तव में भारतीय रंगमंच का यह पराभव मध्ययुग की सबसे दुखद घटना है, जिसकी पुनर्स्थापना अंग्रेजों के आगमन के पूर्व नहीं हो सकी।

---

१. **द्रष्टव्य : उस समय देश में अभिनय-कला के दो प्रधान केन्द्र थे, राज्य-सभा और देव-मंदिर। दोनों स्थानों का विध्वंस शुरू हो जाने के कारण कला के प्रचार को यथेष्ट आघात पहुँचा। दूसरे, विजयी आक्रमणकारियों का धर्म नाट्य-कला की अनुमति नहीं देता था—डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, आधुनिक हिन्दी साहित्य, पृ० १९७।**

२. **द्रष्टव्य : डा० दशरथ ओझा का मत, हिन्दी नाटक उद्‌भव और विकास, पृ. ६२।**

अंग्रेजी रगमच के प्रभाव के फलस्वरूप, आलोच्यकाल के थोड़े पूर्व संस्कृत का नाट्यमच पुन. विकसित हुआ दृष्टिगत होता है। देशी रियासतो में प्राचीन सस्कृत-शैली के नाटक शास्त्रीय रीति-नीति से खेले जाने लगे थे, किन्तु उनकी वह पद्धति सामाजिको के लिए पर्याप्त अनुकूल नही थी। दूसरी ओर, लोक-नाट्य की परम्परा उनके मनोरजन के अनुकूल थी। आलोच्यकालीन रगमच के स्वरूप निर्धारण में सम्कृत नाट्य-मच की अपेक्षा लोक-मच उसके अधिक निकट था, जिनका उद्भव जन-जीवन मे प्राचीन काल मे ही प्राप्त है और जिनका विकास मध्य-युग मे हुआ।

लोक-नाट्य और लोक-मंच

भारतीय नाट्य-कला और रगमच का प्रादुर्भाव वास्तव मे लोक-मच और लोक-नाट्य के रूप मे हुआ था। 'भरत-नाट्य-शास्त्र' के अनुसार आदि नाटक की रचना ब्रह्मा द्वारा ऐसे पचम वेद के रूप मे की गई थी जो शूद्रों के भी ज्ञानवर्धन और आनन्द का साधन हो सके। यहाँ शूद्रों से तात्पर्य जन-साधारण से ही जान पड़ता है। ऋग्वेद के पन्द्रह मंत्र, जिनमे इन्द्र और मारुत की ओर से दो दलो का वार्तालाप किया हुआ है, लोक-नाट्य के आदिम रूप माने जाते हैं। श्री जगदीश चन्द्र माथुर ने इस संदर्भ में एक स्थल पर लिखा है कि कुछ विद्वानों का कहना है कि ऋग्वेद से वह वार्तालाप सुवर्णो के ध्यान मे आया और फिर उसका साहित्यिक रूप सस्कृत नाटक बन गया तथा लोकप्रिय रूप, जात्रा आदि में चालू हो गया।[1]

लोक-नाट्यो के दूसरे रूप का उल्लेख रामायण और महाभारत के उन गायको के माध्यम से प्राप्त होता है, जिन्हे 'पाठक' और 'धारक' की संज्ञा प्रदान की गई थी। मध्ययुग मे रासलीला और रामलीला जैसे लोक-नाट्यो के मूल मे लोक-वार्ता के तत्वो को खोजने की चेष्टा की है। उनकी दृष्टि में आधुनिक साहित्य की नवीन प्रवृत्तियो मे लोक का प्रयोग, गीति-वार्ता, सगीत, साहित्य से युक्त होकर, साधारण जन-समाज, जिसमें पूर्वसचित परम्पराएँ, भावनाएँ, विश्वास और आदर्श सुरक्षित हैं तथा जिसमें भाषा और साहित्यगत सामग्री ही नहीं, अपितु अनेक विषयो के अनगढ ठोस रत्न छिपे हैं, के अर्थ में होता है।[2] भारतीय लोक-नाट्य और लोकमंच अपनी बोलियो और भाषाओ के माध्यम से जनता के मध्य विभिन्न रूपो मे प्रचलित थे। मुसलमानो के आक्रमण के फलस्वरूप जब भारतीय साहित्यिक मच छिन्न-भिन्न हो गया, तब नाटक-परम्परा को जीवित रखने में इन्ही लोक-नाटको

---

१. लोक-संस्कृति-अंक, सम्मेलन-पत्रिका, पृ० ३३४।

२ डा० श्याम परमार-भारतीय लोक साहित्य, पृ० ११।

का महत्वपूर्ण योग रहा है। वास्तव मे इन लोकनाट्यो का रगमच के कार्य-व्यापार से उतना सम्बन्ध नही है जितना सगीत और नृत्य से है। इनके प्रसाधन तथा वेशभूषा अत्यन्त साधारण तथा कथानक लोक-वार्ताओ से अनुप्राणित होते थे। हिन्दी के साहित्यिक नाट्य-मच को सबसे अधिक प्रभावित करने वाले लोक-नाट्य, लीला, नाटक और स्वाग है।

लीला, नाटक और नाट्य-मंच

रास-लीला या रास-नाटक की प्राचीनता के सम्बन्ध मे विद्वानो ने एक मत से स्वीकार किया है कि यह अत्यन्त प्राचीन लोक-नाट्य है। हल्लीसक, रासक, प्रेक्षणक द्वारा उत्सव मनाने की परम्परा विक्रम की चौदहवी शताब्दी मे प्रचलित थी। रासक अथवा रास, जो राजस्थानी मे विशिष्ट साहित्य-परम्परा का काव्य माना जाता है, का सम्बन्ध रासलीला से भी रहा हो तो कोई आश्चर्य नही होना चाहिए। रास शब्द रस का बहुवचन है। भागवत के अनुसार 'दो गोपियो के मध्य एक कृष्ण का दिखाई पड़ना' जिस नृत्य-नाटिका मे हो वह रासलीला है। कृष्ण-रास का वर्णन श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध मे उन्नीस से तेइस अध्याय मे मिलता है। यही रास-परम्परा बाद मे ब्रजभाषा के माध्यम से कृष्ण-रास या रास-लीला के रूप मे हिन्दी मे आई। ब्रजभाषा मे रासलीला का प्रादुर्भाव १५३२ ई० के लगभग हुआ, जब स्वामी वल्लभाचार्य ने प्राचीन ग्रथिको के कृष्ण-अभिनय को गीतिनाट्य का स्वरूप प्रदान किया और उसे रासलीला के रूप मे एक सुललित लोक-मच प्रदान किया। रासलीलाओ के निमित्त लीला-साहित्य का सृजन भी बाद मे कृष्ण-भक्त कवियों द्वारा किया गया।

रासलीला का मंच छोटा तथा आयताकार होता है। इस मंच पर श्रीकृष्ण और राधिका के सिंहासन रखे रहते है, आसपास गोपियो के बैठने की व्यवस्था रहती है तथा सामने सगीत-मण्डली बैठती है। दर्शकगण अपनी सुविधा से चारो ओर बैठ जाते हैं। पर्दे आदि की आवश्यकता नही होती है। वास्तव में रासलीला ऐसा लोक-नाट्य है, जिसका मच अस्थायी और धार्मिक भावना से प्रेरित होता है। इसके नाटक छन्द-युक्त एवं संगीत-प्रधान होते हैं। इनमें गद्य नही होता है। मच पर सभी पात्र प्रारम्भ से अन्त तक उपस्थित रहते हैं। सस्कृत नाटको के अनुसार इनमे अंक, प्रवेशक, विष्कमक तथा अकावतार का अभाव रहता है तथा स्वाग की भाँति दृश्यपट परिवर्तन भी नही होते है।

रामलीला

रामलीला के सस्थापक गोस्वामी तुलसीदास है, जिन्होने रामनगर, काशी

की सुप्रसिद्ध रामलीला की स्थापना की थी। रामायण के चरित्र, सम्भवतः रामचरित-मानस (तुलसीदास रचित) के पूर्व लोक-रंगमंच पर प्रकट हुए थे अथवा नहीं, यह कह सकना कठिन है, किन्तु मध्ययुग से ही रामचरित्र लोक-रंगमंच की प्रमुख प्रेरणाओं में रहा है। प्रिन्सेप नामक एक अंग्रेज विद्वान् ने अट्ठारहवीं शताब्दी के अंत में रामलीला के काशी-प्रदर्शन का जो विवरण दिया है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि रामलीला भारतेन्दु-पूर्व-युग में एक सजीव नाट्य-मंच के रूप में समादृत थी और उसका प्रदर्शन भी होता था। कालान्तर में रामलीला व्यावसायिक मंडली तथा गैर व्यावसायिक मंडली द्वारा खेली जाने लगी।

रामलीला का मंच रासलीला के मंच की अपेक्षा संस्कृत-नाट्य-मंच के अधिक निकट है। उसमें कम से कम दो पर्दों की व्यवस्था रहती है यद्यपि अंक के साथ दृश्य परिवर्तन नहीं होते हैं। मंच के नीचे एक व्यक्ति रामचरित-मानस लेकर बैठता है और अभिनय के साथ दोहा, चौपाइयों का गायन होता है। बीच-बीच में गद्य का प्रयोग भी होता है। रासलीला गीत-प्रधान नाट्यमंच है तो रामलीला कार्य-व्यापार प्रधान नाट्य-मंच।

स्वाँग नाटक

लोक-नाट्य-शैली में स्वाँग का विशेष स्थान है। स्वाँग एक अर्वाचीन नाट्य-शैली है, जिसका उद्भव हिन्दी भाषा की उत्पत्ति के साथ हुआ। हिन्दी भाषा में प्राचीनतम् नाट्य स्वाँग ही है, जिसका उल्लेख सिद्ध कण्हपा के डोमनी आह्वान-गीत में मिलता है। सिद्ध कण्हपा के नवीं शताब्दी में होने का अनुमान है। यद्यपि स्वांग सम्बन्धी यह उल्लेख तांत्रिक साधन का भी हो सकता है, किन्तु स्वाँग का प्रचार डोमनियों के नाटक के रूप में उभर कर भारत में प्रचलित रहा है। इसमें डोमनी स्त्रियाँ ही पुरुष और स्त्री-वेषों में अभिनय करती थीं।

कबीर[1] तथा जायसी[2] के समय में स्वाँग नाटक-व्यवसाय के रूप में प्रचलित रहा होगा, ऐसा अनुमान है। स्वाँग और तमाशा उस काल में प्रधान नाट्य-मंच रहे होंगे।

---

१. द्रष्टव्य : होय जहाँ कहीं स्वाँग तमाशा तनिक न नींद सतायो रे।

—कबीर

२. द्रष्टव्य : पातुर एक हुति जोगि सवाँगी। साह अखोर हुत ओहि माँगी।

—जायसी

स्वाँग नाटक की लेखबद्ध परम्परा उन्नीसवी शताब्दी के पूर्व नही मिलती है। आधुनिक शैली के स्वाँग भारतेन्दु-युग के पूर्व अपना स्वरूप धारण कर चुके थे। सन् १८१९ ई० के आसपास अम्बाराम नामक व्यक्ति ने सर्वप्रथम स्वाँग के गानो को बनाया तथा उसका अभिनय किया गया। स्वाँग-शैलियाँ हाथरस तथा रोहतक इन दो स्थानों के नामों से सम्बद्ध होकर दो रूपो मे प्रचलित है। हाथरस वाली स्वाँग-शैली मे वीर, शृंगार तथा पौराणिक धार्मिक कथाओ पर आधारित अभिनय बहुत प्रसिद्ध रहे हैं।

ब्रज-प्रदेश मे स्वाँग को 'भगत' भी कहा जाता है, जिसका स्वतन्त्र विकास नही हुआ है।

नौटंकी

उत्तर-मध्यकाल के साहित्य का संबध राजाश्रय और शृंगार-भावना से है। रीतिकाल मे राजदरबारो के शृंगार-प्रधान नाट्य-रूपो के संबंध मे विशेष जानकारी नही है, किन्तु नौटकी के रूप मे अश्लील, शृंगारिक अभिव्यक्ति को लेकर जो अभिनय प्रस्तुत किए जाते थे, उनका संबंध एक ओर उर्दू कविता और लोक-गीत से होता था तथा दूसरी ओर अभिनय-शैली से। जयशंकर प्रसाद ने 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' पुस्तक मे रंगमच के संदर्भ मे चर्चा करते हुए प्रकट किया है कि नौटकी नाटक का ही परिवर्तित रूप है। डा० बाबूराम सक्सेना नौटकी का प्रारम्भ उर्दू कविता और लोकगीत से मानते हैं। तेरहवी शताब्दी मे अमीर खुसरो ने नौटंकी को विकसित करने की दिशा मे प्रयत्न किया था। अठारहवी शताब्दी में नौटकी एक लोक-प्रचलित-मंच के रूप मे मान्य हो गया। 'इन्दर-सभा' एक समुन्नत नौटंकी के रूप मे लोक-नाट्य माना जा सकता है।

स्वाँग एवं नौटंकी दोनो का ही मंच खुले में तथा ऊँचा बनाया जाता है। मंच पर एक ओर नगाड़े वाले बैठते हैं तथा उनकी ध्वनि के साथ नाट्य-मंच प्रातः काल तक जनता को अभिनय मे तल्लीन रखता है।

इन जन-नाट्यों के अतिरिक्त भांड नामक नाटक भी होली के अवसर पर खेला जाता है। भांड के आधार पर संस्कृत उपरूपक 'भाण' को रूपान्तर के साथ मान्य कर लिया गया हो, यह भी सम्भव है। पर्वतीय प्रान्तो मे वसन्त पचमी के अवसर पर कन्याएँ 'झूमैलो' का अभिनय करती हैं जिसे देखने सहस्त्रों लोगों की भीड़ तक जमा होती है।

संस्कृत के साहित्यिक रंगमंच से ये लोक-नाट्य-मच अनेक प्रकार से विशिष्ट और लोक-प्रभावी होते हैं। लोकनाट्य-मंच साधारण जन की भावना को

प्रकट करने में समर्थ होता है, उसका केन्द्र-बिन्दु चरित्र अथवा व्यक्ति न होकर भाव होता है, इसीलिए इन नाट्य-मंचो का निकट संबध संगीत से होता है। इन नाट्य-मचों का कथानक स्थानीय प्रभावो से प्रभावित होता है तथा चमत्कारी दृश्यो के साथ कथानक की एकरसता को समाप्त करता रहता है। इन नाट्य-प्रयोगो मे लोक-जीवन के रीतिरिवाज मुखरित होते रहते हैं तथा हास्य का आयोजन मुख्य कथा से पृथक रहता है। मच आडम्बरहीन और सादे होते है। कम से कम सामग्री मे भी उनका कार्य चल जाता है।

लोक-रंगमच का प्रमुख केन्द्र है जन-साधारण। वही उसके उद्देश्य का माध्यम है। नागरिक जीवन के आडम्बर से उसका कोई लगाव नही है। वास्तव मे वह जीवन की एक स्वाभाविक अभिव्यक्ति है और इस कारण सप्रयास और कलात्मक प्रयोजन की प्रेरणा से किए जाने वाले नागरिक अभिनयो और नगरीय नाट्य-मचो से भिन्न है। इसकी गति धीमी और पिछडी हुई है। समय के साथ चलना इन लोक नाट्य-मचों का उद्देश्य नही है। साहित्यिक मंच श्रीमानो तथा आश्रयदाताओं और राजाओ की अभिरुचि और सम्पन्न व्यवसायियो की परिस्थितियों के अनुसार अपना आकार धारण करता है, अपने को परिवर्तित भी कर लेता है, किन्तु लोक नाट्य-मंच की ऐसी स्थिति नही है। इन दोनो मे अधिक दूरी साहित्यिक मंच को निर्जीव और लोकनाट्य-मंच को पिछडा हुआ कर देती है। साहित्य का मूल तो लोक-जीवन ही है।

भारतेन्दु-युग मे, जैसा कि ऊपर प्रकट किया गया है, साहित्यिक नाट्य-मचो और लोक नाट्य-मंचो की दूरी अधिक नहीं थी। नगर मे संस्कृत नाट्य-मचो के स्थान पर पारसी थियेट्रीकल कम्पनी फूहड अभिनय और देशोत्तर कथानकों को प्रदर्शित करने में दत्तचित थी। केवल लोक नाट्य-मच और प्राचीन संस्कृत नाट्य-मच के समन्वय से ही हिन्दी नाटक का स्वरूप बन सकता था। भारतेन्दु ने अनुभव किया था कि संस्कृत-शैली का अपनाना जनता के लिए कठिन था। साथ ही, पाश्चात्य नाट्य-पद्धति या उससे मिलती-जुलती कोई पद्धति अन्ततोगत्वा हमारे सांस्कृतिक पुनरुत्थान मे सहायक नही हो सकती थी। फलत: हिन्दी गद्य के प्रथम उत्थान-काल में जिस नाट्य-शैली ने अपने को पुनर्स्थापित किया वह पारसी रंगमच की तुलना में पृथक कोटि का नाट्य-मच है। भारतेन्दुयुगीन नाट्य-मच की चर्चा करने के पूर्व पारसी रंगमच पर भी सक्षिप्त चर्चा कर लेना उपयुक्त होगा।

पारसी रंगमंच

पारसी रंगमच का विकास उर्दू भाषा के से हुआ उर्दू नाटको

के अध्ययन के आधार पर विद्वानों ने अनुमान लगाया है कि सबसे पहले उर्दू का नाटक या ड्रामा शकुंतला नाटक है। इस नाटक का उर्दू में अनुवाद डा० गिलक्रिस्ट के आदेश से किया गया और यह नाटक सबसे पहिले सन् १८०४ ई० मे प्रकाशित हुआ। इस नाटक का अनुवाद संस्कृत से व्रजभाषा में फरुखसियर के समय मे हुआ था और व्रजभाषा से उर्दू में। शकुंतला नाटक का अभिनय कब हुआ इस संबंध मे कोई जानकारी उपलब्ध नही है, किन्तु सन् १८५८ ई० तक पारसी रंगमंच का प्रारंभ हो चुका था। सन् १८७० के लगभग बीस नाटक मण्डलियाँ बन चुकी थी। अधिकांश अभिनेता और मालिक पारसी होने के कारण, इन नाटक-मंडलियो को पारसी नाटक-मंडलियाँ कहा जाता था और बाद मे व्यावसायिक रूप धारण करने के कारण इन्हें पारसी कम्पनी कहा गया। इन कम्पनियो ने जिस रंगमंच को स्थापित कर विकसित किया वह रंगमंच लोक नाट्य-मंच और संस्कृत के साहित्यिक मंच से बिलकुल भिन्न कोटि का है। इन पारसी नाट्य-मंडलियो में शिक्षित पारसी व्यक्ति अभिनय करते थे। निश्चय ही इनका प्रारम्भ कलात्मक अभिनय के उद्देश्य से किया गया होगा, किन्तु बाद मे यह उद्देश्य एक व्यावसायिक साधन बन कर, धन कमाने के तरीके के रूप में प्रचलित हो गया। धन जनता या सामान्य दर्शक से ही प्राप्त हो सकता था, इसलिए जन-रुचि को अत्यधिक महत्व दिया गया। इसी क्रम मे इन नाटको मे अश्लीलता, भद्दापन और आत्माहीन अनुकृतियो का प्राधान्य हो गया और रंगमंच की सज्जा, रंगीन और तडक-भडक वाले पर्दे इनके साधन हो गए।

पारसी रंगमंच का यह रूप सेठ पेस्टनजी फ्राम जी के प्रयत्न से प्राप्त हुआ, दूसरे शब्दों मे इन्हें ही पारसी रंगमंच का संस्थापक कहा जा सकता है। उनके प्रयत्न से सबसे पहिले बम्बई मे 'ओरिजनल थियेट्रिकल कम्पनी' खोली गई। इसका प्रारम्भ सन् १८७० मे हुआ। सन् १८७१ ई० मे एक दूसरी कम्पनी पारसी विक्टोरिया नाटक-मंडली खोली गई। बाद मे इसके एक संस्थापक, दादा भाई पटेल, ने अपनी एक अलग नाटक-मण्डली स्थापित की, जिसने हैदराबाद तथा दिल्ली मे प्रदर्शन कर नाम और पैसा दोनो ही कमाए। दूसरे संस्थापक नाजिरजी ने अपनी कम्पनी को कलकत्ता ले जाकर अभिनय किया। इस कम्पनी ने बँगला संगीत से प्रभावित होकर अपने नाटकों मे संगीत का समावेश किया। इसी कम्पनी ने बनारस, पूना, बम्बई आदि स्थलो पर भी अभिनय प्रस्तुत किए। अनुमान किया जाता है कि इसके शकुन्तला नाटक में दुष्यंत जैसे धीरोदात्त नायक की दयनीय स्थिति और खेमटेवालियो की भाँति कमर पर हाथ रखा देखकर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

ने इसका उल्लेख किया है ।

इन कम्पनियों के बाद एक और कम्पनी 'विक्टोरिया थियेट्रिकल कम्पनी' ने भारत के बाहर भी अपना अभिनय प्रस्तुत किया । सन १८८१ ई० मे यह कम्पनी रगून गई और वहाँ उसे बड़ा सम्मान मिला । बादशाह और मलिका के आग्रह से 'इन्दर-सभा' का अभिनय किया । बाद में यह कम्पनी इंगलैण्ड भी गई किन्तु वहाँ इसे सफलता नही मिली । इसके अतिरिक्त भी एक-दो पारसी नाटक कम्पनियो के नाम मिलते हैं ।

आलोच्य युग मे पारसी रंगमंच की पर्याप्त प्रसिद्धि हो चुकी थी। प्रसिद्धि का कारण निम्नस्तरीय जनरुचि को बढ़ावा देना था । फलतः भारतेन्दु जैसे सुरुचि-सम्पन्न साहित्य-निर्माता और युग-प्रतिनिधि व्यक्ति ने इन कम्पनियो की तीव्र भर्त्सना की। इन रंगमंचों की दृष्टि न तो समाज के उत्थान और न देशवत्सलता की ओर थी और न ये स्वस्थ नाट्य-दृष्टि के प्रतिपोषक थे। फिर भी जनता मे इनकी माँग थी । उसके कारण स्पष्ट हैं । इन कम्पनियो के संचालक स्वय अच्छे अभिनेता थे तथा अभिनय और रगमंच सबधी ज्ञान भी इन्हे था । पारसी रगमच की प्रेरक शक्ति पश्चिमी रगमंच था, जिनसे इनके संचालकों ने प्रेरणा ग्रहण की थी, यद्यपि व्यवसाय के प्रति उनकी रुझान ने उन्हें अंग्रेजी नाट्य-शैली से पृथक होने को विवश कर दिया । इन नाटक-कम्पनियो के पास मच की सज्जा और उसके चमत्कारी प्रदर्शनो के लिए धन की कमी नही थी। विविध चमत्कारपूर्ण दृश्य और रंगबिरगे पर्दे सामान्य जन के आकर्षण के केन्द्र थे ।

उपर्युक्त तथ्यो के अतिरिक्त पारसी रंगमच की सफलता का कारण इनके वैतनिक अभिनेता और नाटककार भी थे, जो अपने मालिको के लिए उनकी रुचि के अनुसार नाटक लिखते और अभिनय करते थे । नाटको मे संगीत और नृत्य की प्रधानता होती थीं । चलताऊ गाने और नर्तकियोचित अंगभंग-प्रदर्शन जन-सामान्य को प्रभावित करने के लिए एक प्रमुख साधन था । उसी प्रकार प्राय: ऐसे कथानक ही उन्होंने चुने, जिनमें प्रेम की प्रधानता थी या पौराणिक रूप प्रमुख था । स्त्री-पात्रों के अभिनय के लिए इन्हें पुरुषो से काम नहीं लेना पडता था। स्त्रियां ही इनके नाटकों में काम करती थी, जिसका साहित्यिक नाट्य-मचों में अभाव था ।

भारतेन्दुयुगीन साहित्यिक रंगमंच

भारतेन्दु-युग में साहित्यिक रंगमच के नाम पर कोई ऐसी परम्परा नही मिलती जिसका कोई स्वरूप हो तथा जिसके विकास का अवसर उस काल के नाटककारों को प्राप्त हुआ हो संस्कृत-नाट्य और रगमच-काल निरन्तर

प्रवाह और उत्थान-पतन के मध्य कहीं तिरोहित हो गया, कौन जानता है ? मुसलमान शासकों ने रही-सही सम्भावनाओं को ही समाप्त कर दिया। अतुलनीय साहित्य अग्नि को अर्पित कर दिया गया और मन्दिरों तथा प्रेक्षागृहों की ईंट से ईंट बजा दी गई। लोक नाट्य-मंच केवल खुले में तथा अपनी सहज अभिव्यक्ति में ही सीमित था। ऐसी स्थिति में भारतीय रंगमंच की दृष्टि से बंगाल का 'बेलगाछिया थियेटर,' जो नवीन सज्जा के साथ देशीय रंगमंच का एकमात्र प्रतिनिधि था, हिन्दी क्षेत्र के लिए रंगमंच का आदर्श रूप था। बंगाल के नाटककारों और अभिनेताओं ने जिस परिश्रम से इस रंगमंच के द्वारा भारतीय नाट्य-मंच का संस्कार किया, वह एक उदाहरण है।

हिन्दी प्रदेश में रासलीला से प्रभावित होकर नवाब वाजिदअली शाह ने अमानत द्वारा 'इन्दर-सभा' के निर्माण के पश्चात् सन् १८५३ ई० के आसपास कैसरबाग, लखनऊ में एक रंगमंच बनवाया था, किन्तु 'इन्दर-सभा' का रंगमंच न तो साहित्यिक शैली का रंगमंच था और न जन नाट्य-शैली का ही। इसलिए बहुत कम अंशों में ही वह हिन्दी के साहित्यिक मंच को प्रभावित कर सका। हिन्दी नाट्य-साहित्य का सर्वप्रथम रंगमंच "बनारस थियेटर" के नाम से १८६८ ई० में काशी में स्थापित हुआ। इसी में सर्व प्रथम नाटक का अभिनय हुआ, ऐसा उल्लेख प्राप्त है, किन्तु आलोच्यकाल में हिन्दी रंगमंच का कोई निश्चित स्वरूप ही नहीं बन सका। यत्र-तत्र जितने प्रयत्न हुए वे सब बिखरे हुए तथा स्थानीय समस्याओं के कारण सफल नहीं हो सके। जिन स्थानों में हिन्दी रंगमंच के उल्लेख मिलते हैं वे इस प्रकार हैं :—

वाराणसी

बनारस थियेटर का उल्लेख ऊपर किया ही गया है। काशी के इस प्रसिद्ध रंगमंच में पं० शीतलाप्रसाद त्रिपाठी रचित 'जानकी-मङ्गल' नाटक में स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अभिनय किया था, जिसमें काशी-नरेश, महाराज ईश्वरीय नारायणसिंह पधारे थे। काशी का दूसरा रंगमंच "विश्वेश्वर थियेटर" है। इस रंगमंच में प्रायः व्यावसायिक नाटक-मण्डलियाँ ही नाट्य-प्रयोग करती थीं। इन दो रंगमंचों के अतिरिक्त भारतेन्दु के जीवनकाल में एक रंगमंच और स्थापित हुआ था किन्तु उसका कोई विवरण ज्ञात नहीं है। काशी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कृत "सत्य हरिश्चन्द्र", "अन्धेर नगरी" आदि का अभिनय हुआ था काशी के रंगमंच आधुनिक बंगाली प्रभाव से युक्त तथा पश्चिमीय नाट्यमंचों से भी प्रभावित थे।

प्रयाग

प्रयाग में 'प्रयाग आर्य-नाट्य-सभा' एक प्रसिद्ध नाट्य-संस्था थी जो नाट्य-पत्र' भी प्रकाशित करती थी। इसके संस्थापक पं० देवकीनन्दन त्रिपाठी ने भारतेन्दु से प्रेरणा ग्रहण कर इसे स्थापित किया और एक समय में यह समूचे हिन्दी प्रदेश की महत्वपूर्ण नाट्य-संस्था थी। 'प्रयाग-नाट्य-सभा' ने 'कलियुगी जनेऊ' तथा 'रणधीर-प्रेममोहिनी' नाटकों का अभिनय किया। एक और नाट्य-संस्था पं० सालिगराम ने प्रयाग में स्थापित की थी किन्तु उसका विवरण प्राप्त नहीं है।

कानपुर

पं० प्रतापनारायण मिश्र ने यद्यपि सबसे पहले रामनारायण तिवारी तथा बिहारीलाल के प्रयत्नों से अभिनीत, 'सत्य हरिश्चन्द्र' तथा 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' (१८७६ ई०) का विरोध किया था, किन्तु बाद में उन्हीं के उत्साह के फलस्वरूप कानपुर में अनेक नाट्य-मंच स्थापित हुए। 'भारत मनोरंजनी सभा' ने 'हठी हम्मीर', 'कलि प्रदेश' आदि मिश्र द्वारा रचित नाटकों का अभिनय किया। पं० देवकीनन्दन त्रिपाठी कृत' 'जय नारसिंह की' तथा पं० अम्बिका दत्त व्यास कृत 'गौ-संकट' नाटक का अभिनय किया गया। अन्य नाटकों के खेले जाने का भी उल्लेख मिलता है, किन्तु इन नाटकों के लिए अपना कोई रंगमंच या थिएटर नहीं था।

आरा

आरा में नाट्य-मंच का विकास अभिनय की सफलता को लेकर चला। रंगमंच के निर्माण के सम्बन्ध में कोई विशेष विवरण नहीं मिलता। श्री जैनेन्द्र कुमार नामक व्यक्ति ने, जो स्वयं नाटककार और अभिनेता दोनों ही थे, एक जैन नाटक-मण्डली की स्थापना की। धीरे-धीरे यह नाट्य-मण्डली एक सार्वजनिक नाटक-मण्डली में परिवर्तित हो गई। जैनेन्द्र कुमार कृत 'कलि कौतुक', 'सोमा सती,' 'प्रद्युम्न चरित्र' आदि नाटकों का अभिनय इस नाट्य-मण्डली द्वारा सफलता पूर्वक किया गया।

झाँसी

उपन्यासकार स्वर्गीय वृन्दावन वर्मा ने 'झाँसी की रानी' उपन्यास में झाँसी के राजा गंगाधर राव को नाट्य-प्रेमी बतलाया है तथा झाँसी में भारतयुगीन नाट्य-रंगमंच का उल्लेख किया है। उस नाट्य-मंच में कौन से नाटक खेले जाते थे, उसका कोई उल्लेख नहीं किया है। श्री वृन्दावनलाल वर्मा का एक लेख 'नई धारा' में अप्रैल-मई १९५२ के अंक में 'हिन्दी में रंगमंच' नाम से प्रकाशित हुआ

था, जिसमे उन्होने सन १९०५ ई० तक झाँसी मे हिन्दी नाटको के देखने का उल्लेख किया है। झाँसी के नाट्य-मच पर बगाली प्रभाव प्रत्यक्ष था। रगमच के लिये पर्दे आदि उपादान स्थानीय लोग तैयार करते थे।

इन स्थानों के अतिरिक्त भी आलोच्यकालीन नाटको के अभिनय लखनऊ, बलिया, मुजफ्फरनगर आदि स्थानो पर होने के तथा नाट्य-प्रयोग होने के उल्लेख मिलते है। लखनऊ का बगाली नाट्य-मच 'विद्यात नाट्य शाला' था जिसमे हिन्दी नाटकों का अभिनय भी होता था। प्राय. ये अनूदित नाटक होते थे तथा जनरुचि को ध्यान मे रखकर अभिनीत किये जाते थे।

उपर्युक्त परिचयात्मक विवरण केवल इस दृष्टि से दिया गया है कि आलोच्यकाल मे अभिनय के द्वारा हिन्दी नाट्य-मच की क्या स्थिति थी। रगमच की दो प्रमुख अवस्थाओं मे – अभिनय तथा प्रेक्षागृह – प्रेक्षागृहो की दृष्टि से कोई महत्वपूर्ण उपलब्धि नही मानी जा सकती। अभिनय की दृष्टि से अवश्य ही यह युग अपना महत्वपूर्ण योगदान दे सका है, इसमे दो मत नहीं हो सकते।

वास्तव मे भारतेन्दुयुगीन रंगमच जनरुचि द्वारा निर्देशित रंगमच था। अशिक्षित और पिछडे हुए समाज की दृष्टि से खेले गए नाटको मे कलात्मक सवर्द्धन या वैशिष्ट्य के लिए स्थान शेष नही रहता है। यह लोकरुचि वास्तव मे पारसी रगमंच की व्यावसायिक दृष्टि से प्रभावित थी, किन्तु अव्यावसायिक रंगमंच की इस दृष्टि के कारण हिन्दी नाटक के प्रथम उत्थान-काल मे अपना रगमच न तो स्थापित हो सका और न विकास की कोई संभावनाएँ ही प्राप्त हुई। जैसा कि पूर्व मे उल्लेख किया गया है, हिन्दी नाट्य-साहित्य का प्रारभ सस्कृत नाटको के अनुवाद और सस्कृत नाट्य शैली के नियमो के आधीन हुआ था। सस्कृत के नाट्य-मच का कोई स्वरूप सामने नही था। स्वाँग आदि लोक नाट्य-मंचो मे रंगमच जैसी कोई विशिष्ट स्थिति नही थी। ये तो खुले रंगमच थे, जो सामान्य उपकरणों से काम चला लेते थे। बँगला रगमच अपने मूल मे संस्कृत नाट्य-मच से सम्बद्ध थे, किन्तु पश्चिमी नाट्य-शैली के अत्यधिक प्रभाव के कारण वे प्राय पश्चिमी नाट्य-शैली की अनुकृति मात्र रह गए थे।

भारतेन्दु-युग नाटक-साहित्य के निर्माण का युग है, रगमच आदि का विकास स्वभावत बाद की स्थिति है। नाट्य-मंच के लिए भारतेन्दु जैसा कोई और प्रतिभाशाली व्यक्ति यदि हिन्दी को प्राप्त हो जाता तो हिन्दी का अपना रगमच अवश्य ही निर्मित हो सकता था, किन्तु यह तो सम्भावना ही मात्र है; यथार्थ स्थिति इससे भिन्न है। यद्यपि डा० रामविलास के इस मत का भी औचित्य

है कि 'भारतेन्दु ने नाटक लिखने की परम्परा को जन्म नही दिया, उन्होंने नाटक खेलने की परिपाटी भी प्रारम्भ की और स्वय अभिनय करके लोगो के सामने एक आदर्श उपस्थित किया, किन्तु उनके इस प्रयास के बाद भी हिन्दी रगमच जैसा कोई अभियान प्रारंभ नही किया जा सका। मस्कृत के नाटको और उसके रगमच को महत्त्व देते हुए जनजीवन के लिए अनुकूल मानना इस युग के नाटककारों के लिए सम्भव नही था। नवीनता के लिए आग्रह एक ऐसी वास्तविक दृष्टि थी, जिसके कारण अनेक समस्याएँ हिन्दी रगमच के विकास में बाधा बन कर खड़ी हो गईं। समाज मे अभिनय-कला को सम्मान की दृष्टि से नही देखा जाता था। मध्ययुगीन कुण्ठाओ और पराधीन मानसिक दबाव ने तथाकथित सामाजिक स्थिति मे इन सबके लिए कोई स्थान नही छोडा था। लोकरुचि नागरिक रुचि से अधिक समर्थ थी, किन्तु उसके पास ज्ञान-दृष्टि नही थी; फलत फुटकर प्रयत्नो के द्वारा अभिनय-कला का श्रीगरोश ही इस युग की देन कहा जा सकता है।

फुटकर अभिनय विशेष उत्सवो तथा अल्प प्रेक्षको तक ही सीमित रहे। पढ़े-लिखे वर्ग मे भी नाटको के प्रति-विशेष आग्रह और प्रेम विकसित नही हो सका। फलतः नाटककार और अभिनेताओं को अपने स्तर को परखने का कोई साधन न बच सका। परिष्कृत रुचि के समीक्षकों की आलोचनाओं से रगमंच दिनो-दिन निखरता है। हिन्दी रगमंच को ऐसा अवसर प्राप्त न हो सका।

सूत्र-रूप में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि आलोच्यकाल मे रगमच की स्थापना और विकास के फुटकर प्रयत्न हुए, किन्तु ऐसा कोई सामूहिक प्रयत्न नही हुआ, जिससे आगे चलकर उसका अपना विशेष और जातीय रगमच उभर कर सामने आ सकता।

अध्याय : दस

उपसंहार।

भारतेन्दु-युगीन नाट्य-साहित्य का यह संक्षिप्त इतिवृत्त हिन्दी नाटक-साहित्य के प्रथम उत्थान-काल के वैशिष्ट्य को प्रकट करने की दृष्टि से उपयोगी होगा। जैसा कि पिछले पृष्ठो मे उल्लेख किया गया है, भारतेन्दु-पूर्व हिन्दी नाट्य-साहित्य के अन्तर्गत ऐसी कोई आदर्श रचना प्राप्य नही है, जिसके आधार पर हिन्दी नाटक-साहित्य के प्रतिनिधि-रूप का विवेचन किया जा सके। लोक नाट्यमंच और सस्कृत नाट्यमच के मध्य हिन्दी साहित्यिक रगमंच और नाटक अपनी जिन परिस्थितियों और पर्यावरण मे स्वरूप ग्रहण कर सका, उसके मूल मे भारतेन्दु जैसे प्रतिभाशाली व्यक्तित्व की उपस्थिति, तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक परिस्थितियाँ, सास्कृतिक अभ्युत्थान की प्रेरणा और विश्व के धरातल पर अत्यन्त प्राचीन भारतीय समाज की दीन-हीन स्थिति आदि अनेक प्रसग अपना महत्त्व रखते हैं। भारतेन्दु-युग अपने पूर्वापर सन्दर्भो मे एक नवीन दृष्टि, यथार्थ भूमिका और आशावादिता का व्यक्त रूप कहा जावे तो अत्युक्ति न होगी। राष्ट्रीय जन-जागरण के इस सधि-युग में, जब कि पुरातन और रूढ़ व्यवस्था और पद्धति स्वतः ही ध्वस्त हो रही थी, नवीन आदर्शो के इस भवन का निर्माण किसी स्थिर और दृढ मानदण्डों की सुविधा ही प्रदान नहीं करते हैं। ऐसे गतिशील परिवर्तनापेक्षी समाज की नाट्य-रचना, जिसका कोई स्पष्ट पूर्व आदर्श न हो और जो पराधीन होकर भी अंग्रेजी नाटक-साहित्य का अनुकरण करने को मानसिक दृष्टि से तत्पर न हो, तब उन सूक्ष्म अन्तःप्रवृत्तियो का पर्यालोचन एक समस्या ही हो सकती है। अध्येताओ की दृष्टि मे भी कही यह गति निराशा के आधार पर चित्रित की गई है तो कही आशा की किरण को लेकर नई राष्ट्रीय चेतना की वास्तविक वाहिका के रूप मे। इस सक्रमण-काल के अध्ययन में इसी दृष्टि से एक सम्भव विवेचना प्रस्तुत की गई है, जिससे आलोच्य युग की नाटय विषयक धारणाओं और मान्यताओं का सही

मूल्यांकन हो सके।

सम्पूर्ण भारत में नवचेतना की दृष्टि से उन्नीसवी शताब्दी अत्यन्त महत्त्व की शताब्दी है। आधुनिक जीवन-बोध के भौतिक उपकरणो और साधनो का महत्त्व इस युग मे अत्यधिक है, किन्तु भौतिकता से युक्त वैज्ञानिक उपलब्धि मे प्राचीन आध्यात्मिक पुनरुत्थानवादी दृष्टि मे सतत संघर्ष और एक नवीन उन्मेष की स्थिति का आह्वान राजनीति के आश्रय मे अपना स्थान बनाने में सफल हुआ, यह युग का ही चमत्कार है। इसके बाद भी भारतेन्दु-पूर्व-युग में राजनैतिक स्वाधीनता, आर्थिक दृढ़ता, और रूढियों से युक्त समाजादर्श पूर्णतया स्पष्ट नही थे। आलोच्य-युग मे भी उसकी कोई स्पष्ट रूपरेखा नही मिलती। केवल आगामी परिवर्त्तन की पृष्ठभूमि के रूप मे ही हमें उसके दर्शन होते हैं।

साहित्य-सन्दर्भ मे पद्य की अपेक्षा गद्य का महत्त्व बौद्धिक और यथार्थ जीवन-दृष्टि के प्रादुर्भाव की सूचना है। भारतेन्दु-पूर्व-युग मे साहित्य कतिपय व्यक्तियो का बुद्धि-विलास था, जब कि जन-जन के मन की भावनाओ के पोषक साहित्य के रूप मे गद्य-साहित्य की अनेक विधाएँ आलोच्य-युग मे प्रारम्भ होकर विकसित हो सकी। नाट्य-कला का साहित्यिक रूप मे पुनः विकास हुआ। शिक्षित-अशिक्षित दोनो ही प्रकार का जन-समुदाय इसके प्रति आकर्षित हुआ और मानसिक स्तर पर एक नवीन भाव-साम्य की भाषाभिव्यक्ति सम्भव हुई।

भारतेन्दु-पूर्व-युग के नाटको में, वैष्णव भक्ति-भावना के नव-जागरण के फलस्वरूप, ऐसे नाटको की रचना अधिक हुई जिनका पर्यावरण धार्मिक है। उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में 'माधव-विनोद', जानकी राम रचित नाटक, 'रामलीला-विहार नाटक,' 'रामायण नाटक' 'प्रद्युम्न-विजय नाटक', 'नहुष नाटक' तथा 'आनन्द-रघुनन्दन नाटक', की रचना का उल्लेख किया जाता है। इन नाटको मे केवल 'माधव-विनोद' संस्कृत के नाटक का पद्य-बद्ध अनुवाद है। शेष नाटक मौलिक है। उपर्युक्त नाटको का वर्गीकरण यदि किया जावे तो सत्रहवी से उन्नीसवी शताब्दी के मध्य रचे नाटको में रामचरित संबंधी नाटक छः, कृष्णचरित संबंधी नाटक तीन, दुर्गा संबंधी नाटक एक, प्रतीकात्मक नाटक तीन और नीति संबंधी एक नाटक है। केवल 'शकुन्तला' और 'माधव-विनोद' ही ऐसे नाटक हैं जो धार्मिक नही हैं। नेवाज का 'शकुन्तला' नाटक का अनुवाद अपने आश्रयदाता आजमशाह की प्रेरणा से और 'मालती-माधव' का अनुवाद भरतपुर के महाराज-कुमार, प्रताप सिंह की प्रेरणा से हुआ। वास्तव मे समग्र धार्मिक नाट्य-साहित्य का यह अनुवाद कही प्राचीन संस्कृत परिपाटी से प्रेरित है

तो कही प्रबन्ध-काव्यत्व की भावना से अनुप्राणित। ब्रजभाषा के इन नाटकों को हिन्दी खडीबोली-गद्य के आलोच्य-कालीन नाटक किस प्रकार अपने लिये आदर्श मान सकते थे ? कतिपय नाट्य-समीक्षक तो इनको नाटक भी नही मानते, यद्यपि ऐसा करना उस काल के नाटककारो के प्रति न्याय न होगा। जन-रुचि के मानसिक स्तर के साथ-साथ रचनाओ के जन्म और विकास का घनिष्ट सम्बन्ध है। उस काल के दर्शको की मानसिक स्थिति मे वे नाटक ग्राह्य थे। आज भी वैसे ही ग्राह्य होंगे, यह सम्भव नही है। इन नाटको की पद्यबद्ध शैली ही सम्भवतः उन्हे नाटक न होने की कोटि में रखती है, किन्तु भारतवर्ष ही नही, यदि विश्व के समकालीन नाटककारो की कृतियों का अवलोकन किया जावे, तो यह स्पष्ट होगा कि प्राय. सभी रचनाओं का प्रमुख आधार पद्य ही था। पद्यबद्ध-सवाद, सवाद ही की एक अवस्था है जो इन नाटकों को प्राप्य है। भारतेन्दु-युग के पूर्व यह स्थिति अस्वाभाविक नही थी। बाद मे हम उसे अस्वाभाविक मानकर यदि पूर्व नाट्य-साहित्य की समीक्षा करते है तो इसमे कहीं न कही कुछ त्रुटि रह गई है, ऐसा ही मानना होगा। वस्तुस्थिति यह है कि पद्य के कारण नाटक मे अस्वाभाविक स्थिति उत्पन्न होती ही नही है। नाटक को वास्तव मे नट अथवा अभिनता की क्रिया ही माना गया है। नाटक का मुख्य लक्षण है क्रिया-व्यापार की तत्परता, अभिनय उसी का एक साधन है। अभिनय के लिए भाव की मनोभूमि चाहे पद्य मे प्राप्त हो, चाहे गद्य मे, इससे कोई विशेष अन्तर नही पडता। आलोच्य-काल में जन-मानस की भावना की अभिव्यक्ति पद्य के स्थान पर गद्य मे अधिक प्रबल रूप मे हुई है। इस दृष्टि से इन नाटको में अपने पूर्ववर्ती नाटको से यह विशेषता पाई जाती है कि उनका प्रमुख स्वर पद्यात्मक न होकर गद्यात्मक हो गया था। नाट्य-शैली की दृष्टि से भी पूर्व नाटक सस्कृत नाटकों से दूर हो रहे थे, किन्तु लोक नाट्य-शैली के 'रास' आदि को उन्होने अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाना प्रारम्भ कर दिया था, जिससे जन-मानस के साथ उनका तादात्म्य हो सके। भारतेन्दुयुगीन नाटक-कारो ने संस्कृत नाट्य-शैली और जन नाट्य-शैली के समन्वय के साथ, पश्चिम की ट्रैजेडी की अनुकृति पर, दु खान्त नाटको की रचना की। इस नवीन स्थिति के कारण हिन्दी नाटकों का अपने पूर्ववर्ती नाटको से एक ऐसा अन्तर दृष्टव्य होता है, जिससे प्रायः विद्वान् हिन्दी नाटको का वास्तविक प्रणयन भारतेन्दु-युग की ही उपलब्धि मानते है। एक समुचित विकास-परम्परा को देखते हुए यह मानना तर्कोचित भी है। बँगला भाषा के अनुवादो के माध्यम से तथा अँग्रेजी नाटको के अध्ययन-अध्यापन से पाश्चात्य नाट्य-शैली के प्रसिद्ध नाटककार शेक्सपियर की

नाट्य-शैली का प्रभाव पडना अस्वाभाविक नही है। अँग्रेजी राज्यकर्ता अपने शासनतत्र के साथ अपना साहित्य और अपनी कला भी उसी विजेता-भाव से अपने साथ लाये थे, जिसे सबसे पहले बगाल ने स्वीकार किया और बाद मे समग्र देश मे उसका प्रभाव परिलक्षित होता है। सस्कृत नाटको को अपनी सास्कृतिक धरोहर मानने के बाद भी शेक्सपियर की ट्रैजेडी और बँगला के दुःखान्त नाटको के प्रभाव के फलस्वरूप हिन्दी नाटको मे दुःखान्त नाटकों की रचना आलोच्य-काल मे हुई। नाटको मे पद्य के स्थान पर गद्य और भावना की दृष्टि से सुखान्त के स्थान पर दुःखान्त अभिव्यक्ति ने वास्तव में इस युग के नाटकों की काया को पलट दिया। आलोच्य-काल के अनुवादों के साथ मौलिक नाटको मे 'रणधीर-प्रेम-मोहिनी' (प० श्रीनिवास दास कृत) ही ऐसा पहिला नाटक ठहरता है, जो सस्कृत नाटक के सिद्धान्तो के प्रतिकूल होने के बाद भी लोकप्रिय नाटक है और दुःखान्त है।

सुखान्त और मागलिक जीवन-दृष्टि की अपेक्षा पश्चिम से आने वाली इस विशेष दृष्टि का अपना एक विस्तृत इतिहास है। शेक्सपियर की ट्रैजेडी भी यूरोपीय ट्रैजेडी का एक अल्प स्वरूप है। अरस्तू ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'पोयटिक्स' मे, जिसकी रचना लगभग तीन सौ ईसा-पूर्व हुई है, इसका विशद् विश्लेषण किया है। अरस्तू के पूर्व भी प्लेटो ने अपना यह मत प्रकट किया था कि ट्रैजेडी से भय और करुणा का रेचन होता है। प्लेटो के शिष्य अरस्तू ने ट्रैजेडी नाटकों का उद्देश्यपरक अध्ययन प्रस्तुत किया। ट्रैजेडी के सम्बन्ध में यथास्थान चर्चा की गई है। यहाँ पर उसके उल्लेख का हेतु यह है कि पूर्व और पश्चिम की जीवन-दृष्टियों में मौलिक भेद परिलक्षित होने के बाद भी, मानव-मन के सम्बन्धों में कोई विशेष अन्तर नही है। ट्रैजेडी अपने मूल अर्थ मे दुःखान्त नाटक नही था। दुःखान्त और सुखान्त की जो परिभाषा बाद मे पश्चिम के नाट्य-साहित्य में व्याप्त हुई और भारतवर्ष मे भी मिलती है, उससे मूल ट्रैजेडी एक भिन्न कोटि की सृष्टि थी। सामान्य जीवन में मनुष्यों से ऊँचे आदर्श का ही हम अनुकरण करते है या फिर मनोभावानुकूल नीचे के स्वरूप को ग्रहण कर लेते हैं। अरस्तू ने इस भेद के आधार पर ही ट्रैजेडी और कामेडी का विकल्प किया है। ऊँचे आदर्श का अनुकरण जिसके द्वारा हो वह ट्रैजेडी और निम्न आदर्श का अनुकरण जिसके द्वारा हो वह कॉमिडी। वास्तव मे ट्रैजेडी से दम्भ का निरसन होता है।

शेक्सपियर (१५६४-१६१६ ई०) की ट्रैजेडी में, जिसका प्रभाव आलोच्य-काल के नाटकों पर देखा गया है, चरित्र की दुर्बलता, मानवीय शक्ति का ह्रास और

मानवेतर शक्ति के कार्य-व्यापार की प्रधानता है : संस्कृत नाटकों मे भी मानवेतर शक्ति की प्रधानता को ही महत्व प्राप्त है, यद्यपि दोनों की दृष्टियों मे मौलिक भेद है। इसके बाद क्रिया-साम्य के आधार पर सस्कृत नाटको की अपेक्षा आलोच्ययुग मे पश्चिम के दुःखान्त नाटको की छाया ही अधिक है। भारतेन्दु ने अपने 'नाटक' नामक निबन्ध मे नये नाटको का वर्गीकरण इस रूप मे किया है।

ये नवीन नाटक मुख्य दो भेदो मे बँटे हैं—एक नाटक, दूसरा गीति-रूपक। जिनमे कथा-भाग विशेष और गीत न्यून हो, नाटक; और जिनमें गीति विशेष हो वह गीति-रूपक। ये दोनो, कथाओं के स्वभाव से, अनेक प्रकार के हो जाते हैं, किन्तु उनके मुख्य भेद इतने किये जा सकते हैं, यथा—(१) संयोगान्त अर्थात् प्राचीन नाटकों की भाँति जिसकी कथा सयोग पर हो, (२) वियोगान्त—जिसकी कथा अन्त मे नायिका या नायक के मरण, या किसी प्रकार की आपद्-घटना पर समाप्त हो (उदाहरण 'रणधीर-प्रेममोहिनी') (३) मिश्र, अर्थात् जिसके अन्त में कुछ लोगों का तो प्राण-वियोग हो और कुछ सुख पावे।[१]

जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है, रास आदि जन-नाट्य-शैलियों की अन्तर्भुक्ति से हिन्दी नाटको मे गीति रूपको की सृष्टि हुई। पद्य और सगीत का यह समन्वय सस्कृत और लोक अथवा जन-नाट्यों का समन्वय ही माना जावे तो समीचीन होगा। उसी प्रकार सस्कृत नाटको की परम्परा मे सुखान्त और पश्चिम नाट्य-परम्परा मे दुःखान्त नाटको के रूप मे यह वर्गीकरण युग की वस्तुस्थिति पर यथोचित प्रकाश डालता है। नवीन दृष्टि के कारणो की मीमासा भी भारतेन्दु ने की है। प्राचीन काल के अभिनयादि के सम्बन्ध में तत्कालीन कवि लोगों की और दर्शक-मडली की जिस प्रकार रुचि थी, वे लोग तदनुसार ही नाटकादि दृश्य-काव्य की रचना करके सामाजिक लोगों का चित्त-विनोदन कर गए है, किन्तु वर्तमान समय मे इस काल के कवि तथा सामाजिक लोगों की रुचि उस काल की अपेक्षा अनेकाशो मे विलक्षण है। इससे सम्प्रति प्राचीन मत का अवलबन करके नाटक आदि दृश्य-काव्य लिखना युक्तिसगत नही बोध होता[२]।

भारतेन्दु की यह दृष्टि ही वास्तव में सम्पूर्ण युग की मानसिक स्थिति की परिचायिका है। स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को अपने बाल्यकाल मे पैतृकरूप मे जो

---

१. भा० ग्रं०, पृ० ७२०।

२ भा० ग्रं० पृ० ७२१।

नाट्य-शैली प्राप्त हुई थी, वह संस्कृत-परम्परा की पद्य-प्रधान शैली थी, जिसके कथानक धार्मिक होते थे, किन्तु गद्य-प्रधान 'शकुन्तला' नाटक (राजा लक्ष्मणसिंह द्वारा अनुवादित) का भी भारतेन्दु के मन पर कम प्रभाव नहीं पड़ा। राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द और राजा लक्ष्मणसिंह जैसे प्रतिभा-सम्पन्न साहित्यिकों के सम्पर्क से उनको साहित्य-प्रतिभा को विकसित होने का अवसर मिला। प्राचीन और नवीन विचारधारा के संघर्ष-काल में भारतेन्दु जिस समन्वय-भावना को लेकर यथार्थ दृष्टि से नाट्य-लेखन मे प्रवृत्त हुए, उसका महत्त्व उनके जीवन-काल मे और उनकी मृत्यु के बाद भी भारतेन्दु-युग के रूप में प्रकट हुआ। यह तथ्य भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। भारतेन्दु-युग की उपलब्धि को, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के साहित्य-सृजन और नाट्य-प्रयोगों की उपलब्धि के बिना आँकना, वास्तव मे केन्द्रीय-आधार रहित धुरी को आँकने के समान ही होगा। वास्तव में पश्चिम के प्रभाव, अंग्रेज शासकों के राजमद और भारतीयों की पराजित स्थिति के संदर्भ में जो लोग भारतीयता, संस्कृत, साहित्य और देशी जीवन का उपहास कर रहे थे, भारतेन्दु जैसे स्वाभिमानी देशवत्सल व्यक्ति के लिए यह मार्मिक आघात असहनीय था। उन्होंने अपनी भाषा मे सेवा करने का निश्चय किया और आजीवन इसी मे लगे रहे। देश की परिस्थिति के अनुकूल उन्होंने नाट्य-रचना की, क्योंकि जनता तक अपने भावों और विचारों को पहुँचाने का सबसे सशक्त माध्यम नाटक ही होता है। नाटक के माध्यम से युग की नई आकांक्षाओं और उमंगों को प्रकट करने की दृष्टि से सोद्देश्य नाट्य-रचना की प्रवृत्ति उनमे दिखाई देती है। उन्होंने अपने काल के नाटकों के मुख्य उद्देश्यों की चर्चा करते हुए लिखा है कि इन नवीन नाटकों की रचना के मुख्य उद्देश्य ये होते हैं, यथा—(१) शृंगार (२) हास्य (३) कौतुक (४) समाज-संस्कार (५ देशवत्सलता। प्रकट है कि भारतेन्दु ने स्वयं उत्तम नाटकों की रचना कर, अपने मित्रों को नाट्य-रचना की प्रेरणा दी और इस प्रकार हिन्दी के स्वतंत्र नाट्य-विधान को स्थापित करने का प्रयत्न किया। भारतेन्दु के नाटकों की समीक्षा के अवसर पर उनके कथानकों का वैशिष्ट्य, पात्रों की आदर्श भाषा और शैली का परिचय इसी दृष्टि से दिया गया है, जिससे सम्पूर्ण युग पर उनके प्रभाव और युग की नाट्य विषयक उपलब्धि का यथोचित मूल्यांकन सम्भव हो सके। भारतेन्दु ने मौलिक, रूपान्तरित और अनूदित नाटकों की रचना की, जिसमें विविध कथानकों का नवीन और प्राचीन आदर्शों के रूप मे उपयोग किया। वैष्णव-भक्ति के प्रेम-तत्व से आद्योपान्त पूर्ण आदर्शवादी रचना 'चन्द्रावली' और राष्ट्रप्रेम की ज्वलन्त समस्याओं से युक्त यथार्थवादी नाटक 'भारत-दुर्दशा', दोनों के रचयिता के मानसिक धरातल का

मूल्याकन युग-विशेष की प्रतिभा का मूल्याकन ही ठहरता है;[1] यह भारतेन्दु की ही विलक्षणता है। भारतेन्दु ने परम्परागत भारतीय नाट्य-पद्धति के प्रवाह में यूरोपीय नाट्य-कला को जिस रूप में संयुक्त किया, वह उस समय मे प्रचलित अंग्रेजी नाटको का अनुकरण नही था। उन्होंने इस दृष्टि से पृथक-पृथक प्रयोग किए और एक मध्यम मार्ग की पद्धति अपनाई, जिससे हिन्दी नाटक का विकास सम्भव हुआ। बँगला भाषा मे जिस तीव्रता से यूरोपीय नाट्य-शैली ग्रहण कर ली गई थी, हिन्दी मे उसे ग्रहण नही किया गया और इसका श्रेय भारतेन्दु को ही है। संस्कृत के भँवर से नाटक को निकाल कर- जन-मानस के चौराहे पर रखने की इस कला के कारण, हिन्दी नाटक में गतिरोध के लिए सम्भावनाएँ नहीं के बराबर रह गई। आलोच्य-काल में इस दृष्टि से किये गये सभी प्रयत्नो के पीछे एक विशिष्ट साहित्यगत निष्ठा व्याप्त थी, जो प्रतिनिधि नाटककारो के प्रत्येक क्षेत्र मे प्राप्त होती है।

भारतेन्दु-युग की सबसे वेगवती धारा प्रहसन की ही धारा मानी जाती है। भारतेन्दु ने जिस सहज-बोध से मीठे व्यंग के द्वारा समाज के विकृत और पिछड़े हुए वर्ग के लिए सुधाररूपी औषधि का प्रयोग किया, उसकी सफल प्रतीति प्रहसन में मिलती है। "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति", "विषस्य विषमौषधम्", "अन्धेरनगरी" मे सामाजिक कुरीतियो के निवारण के लिए जन-भाषा का प्रयोग किया तथा इस प्रकार प्रहसन की एक लम्बी परम्परा आलोच्यकाल में उपलब्ध होती है।

हिन्दी नाटकों में इसी प्रकार देशवत्सलता अथवा राष्ट्रीय विचारधारा का श्रीगणेश भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने किया। अपने सभी प्रकार के नाटकों में यथास्थान और अवसर के अनुकूल देशप्रेम की भावना के प्रसंगों को अपने कथानकों में स्थान दिया। वास्तविक स्थिति तो यह है कि कही-कही नाटक के कथानक केवल बहाने मात्र है, राष्ट्रीय भावना ही उसमें प्रधान रूप से व्याप्त है। उदाहरण स्वरूप "प्रेम-जोगिनी" नाटक को ही लिया जा सकता है, जिसमें सूत्रधार कमल-वन रूपी भारतभूमि को दुष्ट गजो द्वारा "रौंधित" बनलाकर देश की वास्तविक स्थिति को दर्शक के सामने रख देना चाहता है। राष्ट्रीय भावना का यह रूप हमें केवल

---

१. इस सम्बन्ध में डा० दशरथ ओझा के विचार इस प्रकार है :—'भारतेन्दु का मित्र-मंडल अपने नेता की आकांक्षा पूर्ति के हित सतत् प्रयत्नशील रहा, भारतेन्दु की दिव्यात्मा उनको नवशक्ति प्रदान करती हुई निरन्तर प्रेरणा दे रही थी। हिन्दी नाटक उद्भव और विकास पृ० ११८।

हिन्दी में ही मिलता हो, ऐसी बात नहीं है; उस समय के बँगला, मराठी आदि भाषाओं मे भी ऐसी ही भावनाएँ पाई जाती हैं। राष्ट्रीयता की भावना के साथ आत्मगौरव का बोध भी इन नाटकों का एक अन्तर्निहित भाव होता था, किन्तु आलोच्यकालीन हिन्दी नाटको मे वैसा उग्र राष्ट्रवाद परिलक्षित नही होता, जैसा बँगला 'नील-दर्पण' के नाटककार, सुप्रसिद्ध दीनबन्धु मित्र की रचनाओ मे प्राप्त है। भारतेन्दु ने 'अन्धेर नगरी' मे जिन प्रतीक पात्रो की सृष्टि की है, उन्हे आसानी से पहिचाना जा सकता है, किन्तु सत्य घटना को भी यदि कलात्मक रूप मे प्रस्तुत किया जाये तो उसका प्रभाव दूसरे प्रकार का होता है। भारतेन्दु के इस नाटक को वे व्यक्ति भी देख कर यदि प्रशंसा करते हैं, जिनके ऊपर यह नाटक लिखा गया तो यह नाटककार की अभिव्यक्ति-कौशल का ही चमत्कार है।

भारतेन्दु के समकालीन, देश के अन्य प्रतिनिधि नाटककारों में, बँगाल के रामानन्द तर्करत्न, गुजराती के रणछोडदास और मराठी के किर्लोसकर का नाम उल्लेखनीय है। भारतेन्दु सहित इन चारों नाटककारो में प्रायः सभी बातें समान पाई जाती हैं, जिनका उल्लेख वर्ण्य विषय के रूप मे पूर्व मे किया ही जा चुका है। एक बात मे भारतेन्दु इन नाटककारो से पृथक ठहरते है और इस दृष्टि से भारतेन्दु का महत्त्व विशेष हो जाता है। प्रत्येक भारतीय भाषा मे आलोच्य-काल मे रचित, सामाजिक नाटकों में, सुधार की भावना तीव्रतम रूप मे है। उसका समर्थन और विरोध दोनों ही हुआ, किन्तु भारतेन्दु के नाटको मे इन सुधारो का तीव्र आग्रह होने के बाद भी, किसी वर्ग या समुदाय का विरोध तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओ मे पढने मे नही आया। इसके अतिरिक्त, भारतेन्दु तथा उनके सहयोगी नाटककारो ने अपनी रचनाएँ लिखी, उनके अभिनय का प्रबन्ध किया और नाटको में पात्र बनकर भी अपना कौशल दिखलाया। यह एक ऐसा तथ्य है जो आलोच्य-कालीन अन्य नाटकीय भाषाओ के नाटको में नही मिलता। यह एक दोष भी हो सकता है, जिससे हिन्दी नाटक का विकास व्यक्तिमुखी होकर ही रह गया और आज तक उसका कोई समर्थ रंगमंच नहीं बन सका।

किन्तु उस संक्रमण-काल में, जिसमें देश-भक्ति को राजद्रोह और मातृभाषा-प्रेम को हीन भाव माना जाने लगा था, भारतेन्दु ने अपनी अदम्य शक्ति, अटूट लगन और विलक्षण प्रतिभा से अपने युग का नेतृत्त्व किया और युगीन स्थितियो को प्रभावित कर, हिन्दी नाटक-साहित्य को ऐसी देन दी, जिससे आलोच्य-काल की ही नहीं, अपितु परवर्ती युग की प्रतिमाएँ भी अपने विकास को यथार्थवादी रूप दे सकीं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द के इस महत्त्वपूर्ण योग-दान का प्रभाव उनके मंडल पर भी पड़ा, जिसमे अनेक नाटककारो ने भारतेन्दु हरिश्चन्द की प्रेरणा से ही रचना की और अपनी प्रस्तावना में इस तथ्य को स्वीकार किया। युग-संदर्भ के रूप मे आलोच्य-युग मे कुछ रचनाएँ आदर्शवादी और कुछ रचनाएँ यथार्थवादी प्राप्त होती हैं। आदर्शवादी रचनाओ मे परम्परा का आग्रह, पौराणिक-ऐतिहासिक कथानकों की सृष्टि, पद्य तथा गीति का सहज प्रयोग आदि तत्त्व अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं, जब कि यथार्थवादी शैली मे सामाजिक समस्याओ का उद्घाटन, राजनीतिक हीन-भावना, गद्य की प्रधानता आदि तत्त्वो का आग्रह रहता है। भारतेन्दु-युग में पाश्चात्य ट्रैजैडी से भिन्न दुःखान्त नाटको मे, यथार्थ के स्थान पर आदर्श का इतना तीव्र प्रभाव दिखाई पड़ता है, कि दर्शक आत्म-गौरव और स्वाभिमान से विभोर हो जाता है। इस दृष्टि से श्री राधाकृष्ण दास कृत 'महाराणा प्रताप' नाटक इस युग का ऐसा महत्त्वपूर्ण नाटक है, जिसमे हिन्दी की इस परम्परा के भविष्य का संकेत स्पष्ट रूप में प्राप्त हो जाता है।

भाषा की दृष्टि से भारतेन्दु-युग मे खड़ीबोली-हिन्दी का गद्य ही प्रायः प्रयुक्त हुआ है, किन्तु साथ में ब्रजभाषा-पद्य भी कहीं-कहीं नाटकों मे प्राप्त हो जाता है। गद्य और पद्य का प्रयोग होते हुए भी इन नाटको में उत्तम पद्य तथा गीतियो का अभाव है। बहुत अल्प मात्रा मे अच्छे गीतों की सृष्टि इस युग मे हुई है। इसी संदर्भ मे आलोच्यकालीन नाटको मे उद्देश्य की प्रधानता, समाज सुधार के विचारोत्तेजक भाव, नाट्य-शैली से अपरिचय और अपरिपक्वता के कारण, भारतेन्दु-मंडल के अनेक नाटककार अच्छे नाटको की सृष्टि नहीं कर सके। सामान्य और नाटक के नाम पर गद्य व पद्य-मय संवाद लिखने वाले भी नाटककारों की भीड़ मे सम्मिलित हो गये। फलतः भारतेन्दु हरिश्चन्द, बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र, श्रीनिवास दास आदि प्रमुख नाटककारो की रचनाओ को छोड़कर शेष कृतियाँ सामान्य ही कही जा सकती हैं।

पिछले अध्यायो में रंगमंच की दृष्टि से विचार किया गया है। संस्कृत-रंगमंच के अभाव मे रासलीला, रामलीला और स्वाँग के लोक-मंचों को पारसी-रंगमंचो के प्रभाव से मुक्त रखते हुए, हिन्दी का साहित्यिक रंगमंच जिस रूप मे हमे प्राप्त हुआ, उसमे सांस्कृतिक अभ्युत्थान की भावना ही प्रधान है। फलत. एक आदर्श रंगमंच की परिकल्पना-मात्र आलोच्ययुग मे हमे प्राप्त होती है। नाट्यगृह की न्यूनता की पूर्ति और अभिनय में स्त्री-पात्रों का अभिनय स्त्रियो द्वारा हो सकना

तबभी सम्भव नही था और उसके बाद के कालो में भी सम्भव नही हो सका है।

भारतेन्दुयुगीन नाट्य-साहित्य की देन के रूप में उपर्युक्त विवेचन उसकी उपलब्धियो और न्यूनताओ का संक्षिप्त परिचय-मात्र है। वैसे तो युग का प्रत्येक नाटक और नाटककार अपनी तरह उस उपलब्धि का एक अंग है, तथापि आलोच्य-कालीन-युग मे समग्र रूप से गद्य-भाषा का प्रयोग और यथार्थपरक दु:खान्त नाट्य-सृष्टि में दो तत्त्व ऐसे हैं, जिनसे भारतेन्दुयुगीन नाटक हिन्दी नाट्य-साहित्य के इतिहास मे सदैव ही स्मरण किये जावेंगे। उनकी साहित्यिकता लोक-मानस से उभर कर आने वाली साहित्यिकता थी; इसलिए साहित्यिक नाटकों के पारखी समीक्षको को उनसें निराशा हो सकती है। लोक-नाट्य की साहित्यिक परिणति मे यह खुरदुरापन और भाषा का बेमेल प्रयोग अखरने वाली वस्तु है, किन्तु विकास की स्थिति को देखते हुए उससे अधिक अपेक्षाएँ करना किसी काल-विशेष के साथ न्यायपूर्ण नही कहा जा सकता। जैसा कि पूर्व मे प्रकट किया गया है, रगमच ही नाटक की कसौटी है। रंगमंच का अभाव भी एक ऐसा कारण है, जिससे उत्तम नाटको की अधिक सृष्टि नही हो सकी; किन्तु लोक-नाट्य-मच को ही यदि अपनी सीमाओ में साहित्यिक परिवेश से समन्वित करने की चेष्टा की जावे तो इन रचनाओ मे अधिकाश सफलता से अभिनीत हो सकती हैं और उनकी प्रयोजनशीलता सिद्ध हो सकती हैं।

वस्तुत: भारतेन्दुयुगीन नाटक भारतेन्दु और उनके साथी साहित्यकारो की प्रतिभा और यश-सौरभ का प्रतिनिधि साहित्य है, जिसकी कहानियाँ केवल काशी मे ही नही, हिन्दी प्रदेश मे ही नही, दूर-दूर तक फैली थी। यह निर्विवाद है कि भारतेन्दु-मडल के नाटककार परवर्ती नाटककारो के आदर्श बन गये थे और परिवर्तित परिवेश में भी वे बहुत-कुछ आलोच्यकालीन नाटककारो के ऋणी है।

इति।

रुक्मिणी हरण	विद्यापति	१३८६ ई० लगभग	...	संस्कृत-संवादों के
पारिजात-हरण	,,	,,	...	मध्य देशभाषा के गाने
परशुराम नाटक	राजा कपिलेन्द्रदेव	१५०७ ई०	...	पद्य वीररसात्मक
कालियदमन	कवि शंकरदेव	१५वीं शताब्दी का मध्य	मैथिली भाषा में	गद्य-पद्यात्मक
पारिजात-हरण	,,	,,	,,	,,
रामविजय	,,	,,	,,	,, (लगभग ७ नाटक)
कर्पूर-मंजरी	राजशेखर		प्राकृत	(सट्टक)
रम्भामंजरी	नयचन्द्रकृत		प्राकृत महाराष्ट्री भाषा	
विद्याविलास	....	१५३३ ई०	मैथिली	महा० विश्वमल्ल के सम्मुख अभिनय हुआ
मुदित कुवलरय	जग ज्योतिर्मल्ल	१६वीं शती (उत्तरार्ध)		(आसाम के राजा द्वारा रचित)

संदर्भ-ग्रंथ-सूची

नाटक	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
हिन्दी-नाट्य-साहित्य	श्री ब्रजरत्नदास
हिन्दी नाटक, उद्भव और विकास	डा० दशरथ ओझा
हिन्दी नाटको का विकासात्मक अध्ययन	डा० शांति गोपाल पुरोहित
हिन्दी नाटको पर पाश्चात्य प्रभाव	डा० श्रीपति मिश्र
हमारी नाट्य-परम्परा	दिनेश नारायण उपाध्याय
नाटक-साहित्य का अध्ययन (ब्रैंडर मैथ्यूज)	अनुवादिका इन्दुजा अवस्थी
हिन्दी नाटक की रूपरेखा	प्रो० दशरथ झा एवं प्रो० गुरुप्रसाद कपूर
हिन्दी नाटक-साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन	डा० वेदपाल खन्ना
हिन्दी नाट्य-विमर्श	डा० गुलाब राय
हिन्दी नाटक-साहित्य का इतिहास	डा० सोमनाथ गुप्त
लोकधर्मी नाट्य-परम्परा	० श्याम परमार
भारतेन्दु-युगीन हिन्दी नाट्य-साहित्य	डा० भानुदेव शुक्ल
भारतेन्दु-ग्रंथावली (पहला भाग)	ब्रजरत्नदास
भारतेन्दु-युग	डा० रामविलास शर्मा
भारतेन्दु-साहित्य	रामगोपाल सिंह चौहान
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	डा० शर्मा

भट्ट-नाटकावली	नागरी-प्रचारिणी-सभा
भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच	पं० सीताराम चतुर्वेदी
आधुनिक हिन्दी साहित्य (सन् १८५०-१९०० ई०)	डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय
रूपक-रहस्य	श्यामसुन्दर दास, पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल
काव्य के रूप	डा० गुलाब राय
नाट्य-समीक्षा	डा. दशरथ ओझा

संस्कृत

नाट्य-शास्त्र	भरतमुनि
दशकरूपक	धनंजय
साहित्य-दर्पण	विश्वनाथ

पत्रिकाएँ

आलोचना (नाटक विशेषांक)	जुलाई १९५६ ई० ।
सम्मेलन-पत्रिका,	लोक-संस्कृति-विशेषांक ।
नटरंग (विशेषांक)	दिसम्बर, १९६५ ।